साहित्य विनोद

संपादक
अशोक वाजपेयी

७-८ साल पहले जब आलोचना द्वैमासिक **पूर्वग्रह** की शुरुआत हुई थी तब इस बात का तीव्र अहसास था कि हिन्दी मे आलोचना ठोस कृतियों या सृजन-व्यक्तित्व पर एकाग्र होने के बजाय बहुत धारणामूलक प्रवृत्ति-केन्द्रित हो गई है और उसे एक बार फिर कृति और कृतिकार पर केन्द्रित करना उस की सार्थकता और मानवीयता दोनों के पुनर्वास के लिए जरूरी है। **पूर्वग्रह** ने इसलिए औपचारिक आलोचना के अतिरिक्त अनौपचारिक सामग्री का विशेष आग्रह किया। यह आज भी जारी है क्योंकि ७-८ साल पहले की जरूरत कुल मिलाकर अभी भी वैसी ही बनी हुई है।

इस क्रम में **पूर्वग्रह** ने प्राय: अपना हर दूसरा अंक किसी कृतिकार पर केन्द्रित करने का प्रयत्न किया है। ऐसे हर विशेषांक मे संबंधित कृतिकार से लम्बी बातचीत भी विशेष रूप से आयोजित कर प्रकाशित की गई है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री शमशेर बहादुर सिंह, श्री कुवर नारायण, श्री रघुवीर सहाय, श्री निर्मल वर्मा और श्री नामवर सिंह से इन्टरव्यू इसी संदर्भ में लिये गये। **पूर्वग्रह** ने हिन्दी के अलावा उड़िया कवि श्री सीताकांत महापात्र और रूसी आलोचक ब्लादीमीर सोलोविओव से विशेष बातचीत आयोजित की। मराठी कथाकार श्री भालचन्द्र नेमाड़े, श्री ताद्यूश रोज़ेविच और फ्रेंच कवि चित्रकार श्री रफ़ाएल अलवर्ती से बातचीत अन्यत्र प्रकाशित सामग्री का अनुवाद कर प्रस्तुत की गई है।

इस सामग्री को पुस्तकाकार प्रस्तुत करने के पीछे यह धारणा है कि इन महत्वपूर्ण सृजन-चिन्तकों ने जो अनौपचारिक ढंग मे कहा-सोचा है वह उनके कृतित्व को समझने और उससे आगे बढ़कर उस बीसवी सदी को समझने में, जिसमें वे रहते और साहित्य रचने आये हैं, स्थायी उपयोग का है।

(अशोक वाजपेयी)

क्रम

कविता नहीं सिर्फ तथ्य

पोलैंड के प्रसिद्ध कवि तादयूश रोज़ेविच से
अदम चेर्नियावॅस्की की बातचीत

तादयुश रोज़ेविच ऐसे कवि हैं जो युद्ध-काल में तहस-नहस पोलैंड से उभरकर आए हैं। आपने एक 'न्यूनतम' कविता की सृष्टि कर आतंक, विपत्ति और पीड़ा के दौर को दर्ज किया है। बीच में कोई तीस वर्ष का ऐसा भी दौर रहा है जब वे कविता से दूर ही भागते रहे हैं। कविता-संग्रह **आकार, तीसरा चेहरा** और नाटक **कार्ड इंडेक्स, दि लाउकून ग्रुप, गान आउट, ओल्ड वुमेन ब्रूड्स** और **शुभ्र विवाह** में प्रकाशित।

●

अदम चेनियावेस्की : पेंग्विन माडर्न यूरोपियन पोयेट्स सीरीज़ के लिए रोज़ेविच की कविताओं के अनुवादों का चयन प्रकाशित।

स्वयं भी महत्त्व के समीक्षक के रूप में चर्चित।

आपके बारे में थोड़ा बहुत हम पहले से जानते हैं। आप एक ऐसे कवि हैं जो युद्धकाल में तहस-नहस पोलैंड से उभरकर आये हैं। आप ऐसे कवि हैं जिन्होंने आतंक, विपत्ति और पीड़ा के दौर को दर्ज किया है। इसे अभिव्यक्त करने के लिए आपने एक 'न्यूनतम' कविता की सृष्टि की है जो कि समस्त कविता के विरोध की हद तक गयी है। पिछले तीस वर्ष से आप कविता से दूर भागते रहे हैं। बहुत शुरू से आप यह भी कहते रहे हैं कि कविता मर चुकी है, और इसके बावजूद इस दौरान आपने काफ़ी सारी कविता भी लिखी है। इस प्रत्यक्ष विरोधाभास को आप किस तरह स्पष्ट करेंगे ?

मेरे लिए स्थिति बिल्कुल स्पष्ट है। लगभग शारीरिक एहसास जैसी। मैं इस विशिष्टता को दो दिमागों से महसूस करता हूं : एक दिमाग तो लेखक का है, कवि का। १९३० तक मैं पोलिश कविता की मुख्य धारा के संपर्क मे आ गया था और खुद भी मैंने कुछेक कविताएं लिखी थीं। तो यह साहित्यिक दिमाग हमेशा ही कविता और उसकी नयी से नयी प्रवृत्तियों की ओर आकर्षित होता था। यहां तक कि नाजी आधिपत्य के दौरान भी मैंने नये-नये काव्यसग्रह जुटाये, हालांकि यह उन दिनों आसान नही था। मुझे याद है कि इतालवी कविता के जर्मन अनुवादों का एक संग्रह मैंने पढा था। विद्यार्थी के रूप में मैंने शेक्सपियर के अनेक पोलिश अनुवाद पढे थे। एलियट और ऑडेन को भी खोज निकाला था।

एलियट पर वाक्लॉ बोरोवी का शानदार लेख भी आपने पढ़ लिया था।

वह मैंने बहुत पहले १९४५ में पढा था। उसे मैंने युद्ध से पहले कभी किसी किताब मे देखा था। लेकिन मेरा जो दूसरा दिमाग था, वह कहता रहता था कि देखो, दूसरे लोग जो कुछ लिखते है उस पर गौर मत करो, खुद भी लिखने के ...

मत पड़ो। तुम्हारी वर्तमान स्थिति यही है। तुम एक खास तरह के समय में, खास तरह की घटनाओं को झेलते हुए रह रहे हो। हर चीज से पल्ला छुडाओ। अगर तुम ऐसी किसी कविता की रचना नहीं कर सके जो कि मानवीय अस्तित्व का नया रूप हो, तो यह समस्त प्रयत्न चूल्हे मे झोंकने के काबिल भी नहीं है। तुम प्रचलित काव्यशास्त्र को उलट कर अपने को कविता में एक विद्रोही होते हुए पा लोगे, काव्यात्मक भाषा से तुम्हारा गहरा सरोकार हो जायेगा। दूसरे शब्दों में, तुम एक 'साहित्यकार' बन जाओगे। लेकिन यहां तुम एक ऐसे समय मे रह रहे हो जिसकी इतिहास मे कोई मिसाल नहीं, और यह स्थिति एक बिलकुल ही नयी तरह की कविता की मांग करती है। कविता से मेरा मतलब नयी ध्वनियों, नये मुहावरों की या कहिए कि खाली पन्नो जैसी कविता, गंधो की कविता, प्लास्टिक कविता या रंगों वाली कविता नहीं है। नहीं, वह कविता उन शब्दो की होनी चाहिए थी जिन्हें मैं जानता था, गोकि मेरा शब्दज्ञान किसी भी तरह स्टोरी ऑफ़ सिन के लेखक जितना नहीं था। यह एक ऐसे व्यक्ति की शब्दावली थी जिसने हायर सेकेंडरी उत्तीर्ण करने के बाद एकाएक अपने को ऐसी स्थिति के सामने पाया हो जिसके लिए वह कहीं से जिम्मेदार नहीं है। तो, यह दूसरा दिमाग कहता था: साहित्य मे खिलवाड़ मत करो, इससे कुछ हासिल नहीं होगा। लेकिन तभी वहां मसलन मेज पर रिल्के का एक काव्य-संग्रह पड़ा था। विदेशी भाषा के नाम पर सिर्फ जर्मन मुझे आती है, इसलिए जर्मन कविता अंग्रेजी या फ्रांसीसी कविता की अपेक्षा मेरे अधिक निकट है। तो, इन दोनो दिमागो के बीच लगातार यह वार्तालाप चलता था। और महज़ दो दिमाग़ नहीं, दो हृदयो के बीच। एक तरफ़ तो कला का समूचा इतिहास, दूसरी तरफ हर चीज़ कूड़ा।

जब आपने यह लिखा कि मैं कविता नहीं सिर्फ़ तथ्य लिखता हूं, तो आपके दिमाग़ में यही बात रही होगी ?

हा। और लगता है कि मेरी कुछ कविताओ मे शब्द शरीर मे बदल गए हैं। वे आलेख से अधिक कुछ हैं। ऐसा नहीं कि वे सिर्फ़ काव्य-संकलनों और पाठ्य-पुस्तको मे शामिल हुई हों वे एक पूरी पीढ़ी के रक्त-प्रवाह मे प्रविष्ट हुई हैं। मुझे लगता है कि कोई अगर कविता मे उपलब्धि की बात कर सके—मैं उपलब्धियों की नहीं सिर्फ तथ्यो की बात करना चाहता हूं—तो तथ्य ये है। मै उन्हें महसूस कर सकता हू। मैं उन्हे छू सकता हूं। मैं जिस तरह की स्थिति के बारे मे बोल रहा हूं, उसे शायद कोई बाहरी व्यक्ति ज्यादा सफाई से कह सकता है: शायद कोई आलोचक, अनुवादक या कोई पाठक, पर कोई सहयात्री कवि नहीं।

क्या आप इस बात से सहमत हैं कि एक अर्थ में आप एक आदर्श सामाजिक-यथार्थवादी कवि हैं : उस फूहड़ और नकारात्मक अर्थ में नहीं जिसमें इस पद का इस्तेमाल आम तौर पर किया जाता है। बल्कि इस अर्थ में कि आपकी कविता बहुत साधारण और सीधे अनुभवों पर टिकी रहती है। वह साधारण जीवन से टूटकर आये तथ्यों को पारदर्शी बनाती है। बेशक, दुखद और विद्रूप के साथ-साथ शांत और आत्मीय तथ्यों को भी।

हां। मेरी इस तरह की कविताएं हैं : सास के सम्मान में एक उद्‌बोधन-गीत, पिता का आगमन या युवा बेटे के लिए कविता ऐसी कविताए है जिन्हें घरेलू संकलनों मे या गीतों-भरे फर्स्ट-एड बक्सों मे रखा जा सकता है। लेकिन इसके साथ ही, ये कविताएं फ़ॉर्म के व्यापक प्रयोगों का भी नतीजा है। मेरा दूसरा दिमाग, पेशेवर लेखक का दिमाग बहुत अध्यवसायी था। लोगों का कहना है कि मेरी कविताएं उसी तरह स्वतः-स्फूर्त है जैसी नाजी आधिपत्य के दौरान आतंकित मनुष्य की चीख थी, और यह कि मैंने एक समूची पीढी की तरफ से निराशा का एक क्रंदन किया है। हां, मैंने क्रंदन किया है, लेकिन उससे पहले मैंने यह तय कर लिया था कि इस चीख का रूप क्या होगा। मेरी चीख अगर उस तरह की होती जैसी चेस्तोचोवा में रह रहे मेरे चाचा की थी (उन्होंने भी युद्ध के बारे मे लिखा और यातनाएं झेली : उनकी डायरियां मेरे पास हैं), मैं अगर उसी अंदाज में चीखा होता तो मैं स्वयं चेस्तोचोवा के अपने चाचा मे बदल गया होता। मेरे विचार मे, मैं नौजवान पीढ़ी के लिए कुछ कर पाया हूं। एक अर्थ मे मैंने उन्हे फ़ॉर्म से मुक्त किया है। मैंने कभी किसी को फॉर्म के प्रति बेपरवाह होने का सुझाव नही दिया। शुरू-शुरू में, मै अपनी कविताओं को बीस या पच्चीस बार संशोधित करता था। फॉर्म से मुक्ति इन सारे संशोधनो के बाद आती थी, पहले नहीं। पोलिश कविता मे रूपवाद की लंबी परंपरा रही है। मैंने तमाम रूपों में स्वतंत्रता की घोषणा की। मैंने युवा कवियों से कहा कि जिस भी तरीक़े से रुचे, लिखो। सानेट, दोहे, गद्य कविताए, त्रिकोणात्मक कविताएं, चक्राकार कविताएं—कुछ भी लिखो, जो भी अच्छा लगे। इसका कोई महत्व नही। महत्व जिस बात का है, वह है आतरिक ऊर्जा, यानी कविता का मसाला। यह काम मेरे जिम्मे पड़ा, लेकिन दूसरा कोई भी यह कर सकता था। फ़िलिप या हंफ्री नामक कोई व्यक्ति। किसी न किसी को करना ही था।

इसी वजह से आपकी कविता को प्रायः आसान कहा जाता है। इससे लोगों को यह भ्रम हुआ कि उसे लिखना भी आसान है। इसी

से इतने सारे लोग आपका अनुकरण करते हुए लिखते हैं। मेरे ख़याल से अनुवाद करते वक्त ही उसकी सुदृढ़-सुविचारित संरचना का पता चलता है जिसे कि बड़ी सावधानी से दूसरी भाषा में ले जाना होता है। मैंने अकसर अंग्रेजी में आपकी कविताओं के ऐसे अनुवाद देखे हैं जिनमें मक्षिका स्थाने मक्षिका प्रस्तुत किया जाता है। उससे कोई बात नहीं बनती। आलोचक से भी अधिक शायद कोई अनुभवी अनुवादक ही यह देख पाता होगा कि किस तरह कला यहां कला को ढंक रही है।

पहले आपने मेरी कभी कही एक बात का हवाला दिया था। मैंने विभिन्न मौकों पर कई तरह की बातें कही हैं, लेकिन मैं अकसर अपनी कही बातो से दूर भागता हूं। कोई अगर मेरी किसी किताब को लेकर मुझ पर प्रहार करे तो मैं उसके लिए जवाबदेह नही हूं—इसलिए कि मैं एक बिलकुल नयी स्थिति में पहुंचा हुआ हो सकता हूं।

स्वाभाविक है। विचार समय के साथ बदलते जाते हैं। लेकिन कविता के प्रति आपका प्रेम और घृणा का संबंध अद्भुत है। यह शाश्वत किस्म का है और आपकी कविता में और कविता के बारे में आपने जो गद्य लिखा है, उसमें भी दिखाई देता है।

सिर्फ प्यार और घृणा का नही। उसमे विडंबना भी है, अभियोग भी, तिरस्कार भी, और बेशक, उदासीनता भी है। एक पुराना अखबार मुझे किसी बेहतरीन कविता-संग्रह की तुलना मे ज्यादा सार्थक लगता है कोई कुत्ता कुचल गया या कोई घर जलकर खाक हो गया। रिल्के के प्रति मेरे अप्रत्याशित विकर्षण का यह भी एक कारण है। उनकी बहुत सरल कविताएं मुझे अच्छी लगती हैं, विस्तृत चीज़ें नही। इन सरलता की खोज मैं कोचानोव्स्की, मिकियेविच, नॉर्विद, लेस्मियान, स्ताफ और प्रिसिवोस जैसे पोलिश कवियों मे भी कर रहा था। नॉर्विद का लक्ष्य—'हर चीज को पुकारने के लिए एक सही नाम'—मेरा भी लक्ष्य था। मैं एक पूर्णत पारदर्शी कविता की खोज मे था, ताकि कविता के पार उसकी नाटकीय सामग्री नजर आ सके, जैसे साफ पानी मे आप तल पर हिलती-डुलती चीज़ें देख सकते है। और इसके लिए फॉर्म का लोप करना, उसे पारदर्शी बनाना जरूरी था। कविता-विशेष के विषय से उसका तादात्म्य होना जरूरी था।

हां, 'पारदर्शी' आपकी कविता की व्याख्या के लिए बहुत उपयुक्त शब्द है। ऊपरी तौर से देखने पर वह ठेठ आधुनिकतावादी, उग्र रूप

से अवांगार्द और सायास नयी लगती है; लेकिन जैसे ही उसे जरा ध्यान से पढ़ना शुरू करें, उसका यह पहलू ग़ायब हो जाता है और फिर यह नहीं लगता कि हम आधुनिक बनने की कोशिश करती हुई कविता पढ़ रहे हैं। वह समकालीन कविता है, लेकिन निरे साहित्यिक अर्थ में आधुनिक नहीं। रूपकों का विस्तार करना आपको शायद पसंद नहीं है, जबकि पोलैंड की युद्धकालीन आधुनिक कविता की यह मुख्य विशेषता थी जिसमें से आपकी कविता उभर कर आयी है।

हां, बहुत पहले छोड दी गयी जगहो मे लौटने और पुरानी चीजो का अन्वेषण करने को मैं हमेशा उत्सुक रहा हू, लेकिन उस तरह से नही जैसे पुरानी मेज-कुर्सियों और दादी अम्मा के पुराने दियों से जुडा जाता है। जैसा कि मैंने कहा, मैं उस प्रांजलता की तलाश मे था जो मैंने कोचानोव्स्की और स्ताफ़ मे पायी। स्ताफ़ मे विचारों की पारदर्शिता है, जबकि मेरी कविता मे लघु-नाटकीय दृश्य मिलते हैं। वे कोई दार्शनिक कविताएं नही हैं। वे अपनी काव्यात्मक सामग्री में सोचती है, अपने बिंबों मे सोचती है। बेशक, मैं जानता हूं कि दार्शनिक परंपरा में अनेक महान कवि हुए हैं—जैसे एलियट या स्तोवाकी और नॉर्विद। लेकिन वह मेरी तरह की कविता नही है। मैं दार्शनिकीकरण नही करता। मैं एक बिंब या स्थिति को छूट देता हू कि वह मेरे लिए सोचे।

एलियट के 'फ़ोर क्वार्टेट्स' पर भी आपका ध्यान गया ?

उनकी ज्यादातर कृतियो पर, नाटको समेत। गॉटफ्रायड बेन जैसे आधिभौतिक-वादी या फिर बर्टोल्ट ब्रेश्ट—उनके अपने बहुत विशिष्ट और निजी तरीके से—भी दिमाग में रहे होंगे। वे भी कविता को बड़ी जल्दी सैद्धांतिकता दे देते थे।

आप भी अपनी कविताओं को सैद्धांतिक बनाते हैं, लेकिन कविता लिखने में समर्थ होने या कविता लिखने की इच्छा का जो अर्थ है, उस रूप में। यानी उसकी रचनात्मक स्तर पर, लगभग शारीरिक रूप से आपके लिए जो सार्थकता है।

इस तरह की कविताएं मैंने लिखी है, क्योंकि सैद्धातिक लेख लिखने मे मुझे खासी दिक्कत होती है। जब भी मुझे लगता है कि मुझे गलत समझा जा रहा है, मैं फिर से कविता मे ही यह कहने की कोशिश करता हूं कि मेरी कविता का क्या अर्थ है।

युद्ध के अनुभव और सामान्य ज़िंदगी के अनुभव से उपजी आपकी कुछ

कविताओ पर हमने चर्चा की । मेरे विचार से, 'समुद्रतट पर टहलती
बूढ़ी किसान औरत' इसका सबसे अच्छा उदाहरण है ।

वह सामाजिक यथार्थवादी परंपरा की कविता है । और उन कुछ कविताओ मे से
है जिनमे अभिव्यक्ति का एक खास अंदाज़ हमारे समाज मे हो रही तब्दीलियों के
अनुरूप था । कइयो ने इस कविता की आलोचना की । कुछ अधिक परिष्कृत
लोगो का कहना था कि यह एक तरह की पत्रकारिता है । लेकिन मुझे इस कविता
से बहुत लगाव है, जैसे सास के सम्मान में एक उद्बोधन-गीत से है । वह भी एक
विशेष सामाजिक परिस्थिति मे रची गयी थी । मेरी कई और कविताएं भी इसी
शैली मे हैं ।

इसी शैली में आपकी ऐसी कविताए भी हैं जिनमें आपने पोलिश
कैथलिकवाद की पड़ताल की है । पोलिश कैथलिकवाद पर मैं ज़ोर
इसलिए दे रहा हूं कि आपने उसे धार्मिक आस्था पर एक बौद्धिक
बहस का रूप नहीं दिया है । आप पारंपरिक पोलिश आस्था के प्रति
एक 'मामूली' व्यक्ति के रवैये को अभिव्यक्त करते हैं । यहां भी मुझे
एक नाटकीय विरोधाभास प्रतीत होता है । आप धार्मिक वातावरण
में पले-पुसे, पर आप स्वयं आस्तिक नहीं हैं । आप नास्तिक भी नहीं
है कि शांत भाव से आस्था के विरुद्ध एक विवेकपूर्ण 'मुकदमा'
बनायें । बल्कि आप एक अनास्तिक हैं, आप ईश्वर के प्रति आस्था
से एक क्रूर, विद्रोही तरीके से संघर्ष करते हैं ।

पोलेंड के घरो और स्कूलो मे कैथलिकवाद की भूमिका सुस्पष्ट है और उसकी
जडें बहुत गहरी है । लेकिन किशोरावस्था मे उस परंपरा से कट जाना भी
स्वाभाविक है । सोलह की उम्र का हर लडका 'कनफेशन' में जाना बंद कर देता
है, सत्तरह का होते ही कैथलिक मतांधता मे विश्वास करना बंद कर देता है, बाद
मे राजनीतिक तत्त्व और जुड़ जाता है । बहुसंख्यक पादरियो के यथास्थितिवाद
और काले प्रतिक्रियावाद से, जो कि प्राय: चर्च की महंतशाही का चरित्र रहा है,
किसी भी नौजवान को वितृष्णा होगी और तब वह समाजवाद की ओर आकर्षित
होगा और महसूस करेगा कि वह पादरी से विमुख हो गया है । मेरी पहली
कविता ऐसी पत्रिका मे छपी थी जिसमे वर्जिन मेरी की स्तुति की भरमार थी
और सेकेंडरी स्कूल के अक्सर छात्रों की तरह मैं भी मेरियन बिरादरी का तब
तक सदस्य रहा जब तक कि मुझे अपने सख्ती रवैये के चलते बाहर नही कर
दिया गया । लेकिन जहां तक मुझे याद है, मेरी पहली कविता काठ का चर्च थी
जो १९३८ मे प्रकाशित हुई । बाद मे मैंने अपने को न सिर्फ़ रस्मी विश्वासो से

छुड़ाया, बल्कि समूची आधिभौतिक पृष्ठभूमि से भी और उस केंद्रीय धुरी से भी, जिसने मुझे स्वर्ग और रहस्यवाद से जोड़ा था। फिर भी बचपन के बीच बचे रहे : शैतान, फ़रिश्ते, परम पिता···

यह एक बहुत जटिल मसला है और इस पर बात करना मुझे कठिन लगता रहा है। निस्संदेह मैं अनास्तिक हूं। कोई रिआयत न देने वाले मुझे निश्चय ही यांत्रिक भौतिकवादी कह सकते हैं। जहां तक मेरा संबंध है, मुझे जबतक खुद महसूस न हो, कहना बेकार है। यहां तक कि मेरी चेतना भी भौतिक होनी चाहिए। 'मैं आस्था नही रखता/उतनी विस्तीर्ण, गहन आस्था/जितनी मेरी मा रखती थी।' मा बहुत गहरे से आस्थावान होती है, वह आपको पूजा करना सिखाती है। या फिर पिता के बारे मे मेरी कविताओ को लीजिए, जिनमे वह मानते हैं कि 'स्वर्ग जायेंगे/वह आस्थावान है और वह अपने स्वर्ग को जायेंगे/मैं नही जाऊंगा।' क्राकोव में एक कैथलिक साप्ताहिक के संपादक से मेरी मुलाक़ात हुई। मैंने उनसे कहा : 'अच्छा, मेरा तो कोई जुगाड़ नही बैठ रहा होगा; बैठ रहा है?' उन्होने जवाब दिया : 'अरे, हम कवि लोगो के लिए कोई न कोई व्यवस्था करेंगे, कोई शुद्धि-स्थल जैसी चीज बनायेंगे।' एक दूसरे कैथलिक आलोचक ने तो आकार संग्रह मे रहस्यवाद और आधिभौतिकवाद की उपस्थिति तक खोज ली। मैं इससे सहमत नही हूं, लेकिन आखिरकार हर आदमी की अपनी भूमिगत, अवचेतन की नदियां होती है।

भूमिगत नदियों की बात करें तो आपकी ऐसी भी कविताएं हैं जो मुझे रहस्यात्मक और गूढ़ लगती हैं। 'घास' या 'हंसी' जैसी कविताएं।

अस्पष्ट कविता जैसी।

और आपकी सबसे ताजा कविता 'एक कविता की सतह पर और उसके भीतर'। आप बहुत साधारण कोई चीज चुनते हैं—एक दीवाल, घास, मोर्चा खाता हुआ एक पिंजड़ा, मेज पर रखे हुए बर्तन—और उनसे आप एक रहस्यात्मकता की सृष्टि करते हैं।

क्या वे उस तरीक़े से नही रची गयी हैं, जैसी देलवॉ, दि चिरिको और माग्रिट आदि कुछ अतियथार्थवादी चित्रकारो की कृतियां है? वे भी पिंजडों और ऐसी ही चीजों के चारो ओर अपनी संरचनाएं तैयार करते हैं। हो सकता है किसी दैवी पक्षी ने मेरे साथ कोई चाल चली हो। सहसा वह चहचहा उठा हो : तुम कितने शांत, सीधे हो, कितने स्वार्थी, हर चीज़ को छूने के लिए आतुर।

इतने ऐंद्रिकतावादी।

इतने ऐंद्रिकतावादी। लेकिन हठात् देखिए: कुछ नही में से एक पिंजड़ा। लेस्मियान सरीखा कोई कवि तुरत बता देता कि सचमुच क्या बात हुई है, लेकिन मैं इसमे असमर्थ हूं, मैंने उसे बस लिख दिया और वह रहस्यमय ही बना रहा। कुल मिलाकर मैं स्पष्ट स्थितियों को ही तरजीह देता हूं और मेरा यह भी खयाल है कि मैं अपनी सभी कविताओ की व्याख्या कर सकता हूं। घास के बारे मे मुझे संदेह है। वह भविष्य-सूचक कविता जैसी लगती है। दीवालें ढह जायेंगी और— घास यानी मैं, संभवतः मेरी कविता—बची रहेगी। उसमें एक अमरत्व का आभास है: घास की अमरता जो कि आम और मामूली होती है, गुलाब जैसी नही।

> **मेरे विचार से, अतियथार्थवादियों से आपकी यह तुलना संगत नहीं है। *माग्रिट के कुछ चित्र बहुत अच्छे हैं, पर उनमें लटकेबाजी बहुत* अधिक है, जो कि एक परिष्कृत खेल-सा है। आपकी कविताओं का रहस्य वरमीर के चित्रों या दूसरी डच प्रतिभाओं के निकट है, जिन्होंने आभ्यंतर और स्थित जीवन के चित्र बनाये हैं। उन कृतियों में रहस्य है, इसलिए कि उनका कथ्य इतना साधारण, ऐंद्रिय रूप से इतना तात्कालिक है।**

शायद मैंने बहुत अच्छे उदाहरण नही दिये। मेरी कुछ कविताएं पीटर दि हूश की कलाकृतियो के समतुल्य रखी जा सकती हैं: एक आभ्यंतर, खिड़की के अंदर जडी हुई एक खिडकी। मेरी एक कविता ठीक ऐसी है।

> **दरवाजे खुलते हैं, उन दरवाजों के पीछे आप एक और दरवाजा देखते हैं और उससे परे वहां कुछ नहीं।**

और दरअसल यही मेरा योगदान है। तस्वीरो मे एक आगन दिखता है, एक भूदृश्य दिखता है···

> **हां, इसलिए कि 'कुछ नहीं' को चित्रित करने का कोई उपाय नहीं है।**

आज मैं टेंट गैलरी गया था। फ्रांसिस बेकन को देखता रहा। मैं यह ढूंढने की कोशिश कर रहा था कि उसने कौन-सी चीज गायब की, क्या विसर्जित किया। निस्संदेह इसका दस्तावेजी सबूत मौजूद है: उनके मॉडलो की तस्वीरें हैं कि उन्हें किस प्रकार उन्होने हटाया। सभवतः वह रेंब्रांट् की बाद की कृतियों के रास्ते यहा तक पहुचे हों, या उस समय के टिशियन को देखकर जब वह बहुत बूढे हो गए

थे और जब हर चीज़ एक बड़े धुंधलके में बदल रही थी। अपनी विदेश-यात्राओं मे मैं हमेशा कलावीर्थाओं में जाकर एक या दो कृतियों के सामने बैठा रहता हूं। पर इस बारे में मैंने कभी लिखा नही।

इन अनुभवों को आप अद्भुत ढंग से कविता में रूपांतरित कर देते हैं। मसलन, 'एक ही समय में' में आपने 'ला जियोकोंदा' का उल्लेख किया है जो कि गैलरी बंद होने के बाद भी मुस्कराती जाती है, हालांकि उसे सराहने के लिए वहां कोई भी नहीं है। दूसरे किसी भी अनुभव की तरह आप कला के अनुभव का भी उपयोग करते हैं।

कोई कलाकृति अगर मेरे रक्त-प्रवाह मे प्रवेश नही करती है और ज्ञान के कोष मे ही रह जाती है, तो उसका मेरे जीवन मे भी कोई अर्थ नही बन पाता।

आपकी कोई कविता ऐसी नहीं है जिसमें कला का गुणगान हो।

मै उसका गुणगान नही करता, उसकी प्रशस्ति नही करता। लेकिन उसे समझता जरूर हूं। और यहां एक अंतर्विरोध है जो मुझे हैरान किए रहता है। मगर ऐसा क्यो है कि मैं लगातार कम और कम कविताए लिख रहा हू। अब मैं साल भर मे दो कविताएं लिखता हू, और नही मालूम, ऐसा कब तक चलेगा। मेरे साहित्यिक मित्र कहते है कि चुक गया हूं। यह बिलकुल बकवास है। आप अगर कवि है तो आप कभी भी चुक नही सकते।

अपने साहित्यिक मित्रों की राय आपको विचलित नहीं करती ?

मैं खुद भी जानना चाहता हूं कि आखिर किस वजह से मैने लिखना बद किया। १९५५ मे मैंने २५ कविताए लिखी, १९७५ मे एक या दो। यह क्या है : क्या वह ग्रंथियों का स्राव है ? हो सकता है। मैं कई प्रकार के छदो मे लिखता रहा हू, इसका भी कुछ असर होगा।

मै आपको हमेशा कवि ही मानता आया हूं, नाटककार नहीं। लेकिन इधर आप नाटक की ओर अधिकाधिक आकर्षित होते गये हैं। आप अपने को मूलतः कवि समझते हैं कि नाटककार ? या शायद अपने कृतित्व के बारे में आप इस रूप में नहीं सोचते ?

यह सवाल मेरे मन मे कभी नही उठा, लेकिन कविताए लिखते हुए मुझे इतना लबा समय हो गया है कि प्रायः मुझे इससे कोई चिंता नही होती कि अब इतनी कम क्यो लिखता हू। नाटक लिखना मैंने काफ़ी पहले शुरू किया था। १९५५ में

नाटक लिखे और फिर फार्ड इंडेक्स लिखने तक यानी आठ साल तक कोई नहीं लिखा। लेकिन फार्ड इंडेक्स मेरी कविताओं के फ़ॉर्म और मनोभाव के बहुत क़रीब था। वह अनेक आवाज़ों मे बंटी हुई कविता जैसा है और मेरे बाद के कुछ नाटकों मे भी यही गुण है। ओल्ड वुमेन ब्रूड्स और गान आउट में भी। लेकिन दि लाउ-फून ग्रुप आदि प्रहसनो मे यह बात नही है। प्रहसनों मे हास्यपूर्ण चीज़ें ही हैं जिन्हें मैं व्यंग्य-साप्ताहिको के लिए लिखता था।

संभव है, उनका नाटक होना ही उन्हें आपकी कविता की अपेक्षा अधिक विशिष्ट बनाता हो। उनमें कहीं अधिक सचेत प्रयोगशीलता मिलती है।

उनमे मेरी कविता की एकता का अभाव है। उनमे भीतर ही भीतर आपसी अन-बन है, स्वच्छता, स्पष्टता और निष्कर्षों का अभाव है। आखिर मैं **परिणामहीनता के रगमंच** का लेखक हू, हालांकि **एकता में विविधता** की बात जिसने की वह विल्केइविच थे। मेरा योगदान रहा है : अखबारी शैली और शुद्धतम कविता का मिश्रण। लेकिन अब मैं **शुभ्र विवाह** मे पुन: सजीव चित्रों से निर्मित कविता की ओर जा रहा हूं . ऐसे अकों या दृश्यो से दूर, जिसमे कहानी निहायत सीधे-सादे तरीक़े से खुलती चली जाती है। यह पिछले नाटको से, जिनमें विस्फोट भीतर से होते थे, कतई भिन्न है। नाटक कविता की तरह नही होता। वह जनता की तात्कालिक प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है। अगर वह प्रतिक्रिया सामने नही आती है तो हमारे पास जो कुछ बचता है, वह एक साहित्यिक रचना होगी। मैं अपनी सारी रगमंचीय समस्याएं कागज पर सुलझा लेता हूं। उसका सही व्याख्याकार तो निर्देशक है। वही व्यक्ति है जो 'दृश्य' रचता है।

हम फिर से कविता पर लौटें। पोलैंड के जिस समकालीन कवि को अपने देश से बाहर प्रतिष्ठा मिली है, वह ज़्बिग्न्यू हर्बर्ट हैं। कहा जाता है कि उनकी कविता में बहुत अंग्रेज़ियत है, वह विडंबना-पूर्ण है, पेचीदा है, ठंडी और बौद्धिक है। अगर इस तथ्य पर ग़ौर किया जाये कि आप हर्बर्ट से एक दशक पहले से छपने लगे थे, तो अंग्रेज़ी जगत में आपके प्रवेश में यह विलंब एक तरह के काल-दोष को बतलाता है।

सबसे पहले जब काज़िमियेर्ज़ वायका ने हर्बर्ट की कविता के बारे मे लिखा, तो उन्होने हर्बर्ट की काव्य-वीणा के तार गिनाते हुए दूसरे कवियों के साथ मेरा भी नाम लिया। लेखक के रूप मे हर्बर्ट मुझे पसद नही हैं—उस अर्थ मे भी नही जिसमे उनसे युवतर किसी कवि की रचनाएं अच्छी लगती हैं। मितोस की

काव्यात्मक संरचना उच्च कोटि की है, एक कवि की हैसियत से उनके काव्य में मेरी दिलचस्पी कुछ ही कविताओं और बिंबों तक सीमित है; उनमे वह बात मिलती है जिसे मैं युद्ध के तुरंत बाद की स्थिति मे उपलब्ध करने की कोशिश कर रहा था।

> 'पोलिश साहित्य का इतिहास' नामक अपनी किताब में मितोस ने आपको 'एक अराजकतावादी कवि जिसे व्यवस्था से मोह है' कहा है।

बात बहुत अच्छे और पुरअसर ढंग से कही गई है। पर अगर इसे बदलकर यो कहा जाये कि मैं 'एक व्यवस्थावादी कवि हू जिसे अराजकता से मोह है', तब भी सही होगा।

> पांचवें दशक में पोलिश साहित्य में सामाजिक यथार्थवादी दौर का परोक्ष संकेत भी मितोस ने किया है। इस पर हमने कुछ बातें भी कीं। मैं आपके सामाजिक यथार्थवाद को उसके चालू अर्थ से कतई भिन्न अर्थ मे लेता हू। मितोस ने इस बात पर जोर दिया है कि आणविक शस्त्रीकरण के बारे में आपकी आशंकाएं पूर्वी देशों के शांति अभियान के साथ ही सामने आयी हैं, और यह कि इसी वजह से आप ऐसी बातें भी कह सके जिन्हें कहने की अनुमति आपको अन्यथा नहीं मिलती। दूसरी ओर, उन्होंने यह भी लिखा है कि उस दौर की आपकी कविता में जगह-जगह अतिभावुकता और अतिसरलीकरण भी है। मितोस ने इनका चलते-चलते उल्लेख किया है। समाज में कवि की भूमिका और समाज की ओर से उस पर पड़ने वाले दबावों के बारे में बाद में बात करूंगा। अभी यह कि उस दौर में आपने एक लंबी कविता 'मैदान' लिखी थी जिसमें एज़रा पाउंड को बेतरह कोसा गया है। पिछले शरद में जब मैं आपसे वार्सा में मिला, आपके हाथ में एज़रा पाउंड पर चलाये गये विद्रोह के मुकदमे की पांडुलिपि थी। पाउंड के मानवीय रूप में आपकी स्पष्ट दिलचस्पी है। इसका मतलब यह है कि अब आप उनकी स्थिति को लेकर दूसरी तरह से सोचते हैं?

पेरिस के एक प्रकाशक ने विशिष्ट समकालीन लेखकों पर पुस्तको की एक सीरीज शुरू की है। एक किताब ग्रोबोविच पर है और एक दो खंडों की किताब पाउंड पर, जिसमे पोलेंड से मैं ही एक कवि हूं। पाउंड की स्मृति मे, उनकी श्रद्धांजलि में प्रकाशित इस पुस्तक मे प्रकाशक मैदान कविता को छापकर काफ़ी संतुष्ट थे।

और आप जानते हैं, उसमें यही एकमात्र रचना है जिसमें पाउंड की स्थिति का सरलीकरण किया गया है। मैं समझता हूं, किसी दूसरे प्रकार की अदालत ने भी ऐसा ही कोई फ़ैसला दिया होता। मैंने उनकी कोई रचना नहीं पढ़ी थी। उनके जीवन की भी कोई स्पष्ट तस्वीर मेरे दिमाग में नहीं थी। अलबत्ता, जहां तक अमरीकी कानून का सवाल है, वह गद्दार थे। युद्ध-काल में अगर कोई आदमी किसी राष्ट्रपति को अपराधी करार दे-- और वह भी ऐसे राष्ट्रपति को जिसका सम्मान उस समय सारा संसार कर रहा था तो वह गद्दार है, उसके द्वारा दूसरी चीज़ों पर किये जा रहे पगलाये आक्रमणों को आप नज़रदाज़ कर दें तब भी। वह कविता क्योंकि पोलिश प्रतिरोध आंदोलन के बारे में भी थी, प्रकाशन संस्था के संपादकों को वह पसंद आयी। वह एक ऐसे आदमी की आवाज़ थी जिसे यह मालूम हुआ हो कि एक कवि, स्पष्टतः एक महान और प्रसिद्ध कवि फासिस्ट था, यानी कि एक अपराधी था। और इसे मैंने बहुत साफ ढंग से व्यक्त किया था। प्रोफेसर वायका ने कविता पढ़कर मुझसे पूछा कि खुदा के लिए, तुमने अंत में पाउंड के बारे में यह सब क्यों लिख दिया (कविता का शेष हिस्सा उन्हें बहुत अच्छा लगा था)। मैंने उसे अखबारी रपट के आधार पर लिखा था। तब से मुझे उनकी जिंदगी, उनकी कविता, साहित्यिक आंदोलनों के जन्म में उनकी भूमिका के बारे में जानने का मौका मिला है और मैंने यह भी जाना है कि कितने ही कवि-मित्रों के लिए वह ठोस रूप में मददगार रहे। उन्हें पालते-पोसते रहे। मेरे लिए यह सिक्के के दूसरे रुख की खोज थी। लेकिन मैदान में मैंने जो कुछ कहा उससे मैं मुकरने नहीं जा रहा हूं। दूसरी बात : कुछ अर्से बाद एक कनाड़ी कवि ने उस कविता के पुनर्मुद्रण की अनुमति मांगी तो मैंने इनकार करते हुए उन्हें लिखा कि उस कविता में एक तरह का फ़ैसला दिया गया है जबकि मुझे फैसला देने का कोई अधिकार नहीं। आप युद्ध के मैदान में हों तब की बात अलग है। मान लीजिए, यहां एक प्रतिरोध टुकड़ी का योद्धा है, दूसरी तरफ आपका शत्रु है : फासिस्ट या कोई और। आप गोली चलाते हैं, एक आदमी मरता है। वह साहित्य नहीं है। मैंने उन्हें लिखा कि अब हम उस बूढ़े को चैन से रहने दें। मैंने पाया कि मैं कोई न्यायाधीश नहीं हूं। न्यायाधीशों ने फ़ैसला किया : उन्होंने उसे एक पागलखाने में भेज दिया। मेरा काम उन्हें आखिर तक समझना था। कोई कह सकता है : अच्छा, आप उस समय अपरिपक्व थे। नहीं, ऐसी बात नहीं है। युद्ध का वातावरण ही ऐसा होता है कि कुछ खास समस्याएं सायास ढंग से अतिसरलीकृत की जाती हैं। आप अपने विरोधी को जितना वह दरअसल है उससे अधिक मूर्ख और अधिक असभ्य दिखाने की कोशिश करते हैं। लड़ाई में आप अपने शत्रु के अच्छे पक्षों पर ध्यान नहीं देते, क्योंकि अगर ऐसा करें तो उससे लड़ने में लाभ क्या रह जायेगा !

एक बार मैंने ग्रीस और स्पेन के बारे में, वहां के फ़ासिस्टों और गृहयुद्ध के

बारे में एक राजनीतिक कविता लिखी थी। राजनीतिक रूप से वह सही थी। लेकिन पिछली लड़ाई के बाद क्या मेरे लिए ये शब्द लिखने मुमकिन थे कि 'हत्या करनी ही पड़ती है' ? यह अभिव्यक्ति बीस साल तक मुझे आक्रांत किये रही। क्या मेरा धंधा हत्या करना था ? उन्हें मारा नहीं जाना चाहिए; लेकिन दूसरी ओर, उसका क्या किया जाये ? क्या होता है जब कविता रणक्षेत्र में प्रवेश करती है ? यहां कुछ नैतिक द्वंद्व आपके भीतर उठते हैं जिनका कोई समाधान नहीं है।

अब आपकी कविताओं का एक बड़ा सकलन प्रकाशित हो जाने के बाद आप पोलिश कविता के चंद पहले प्रतिनिधियों में आ गये हैं। आपको यह कैसा लगता है ? इस महान अवसर को आप किस तरह देखते हैं ?

यह हंसने की बात नहीं है। (हंसी) बहुत गंभीर बात है। अलबत्ता, मेरे लिए यह कोई एकदम नयी शुरुआत नहीं है। शुरुआत तो इधर-उधर छपी कुछ कविताओं और रैंप और ह्वार्डिंग से छपे संग्रह से हुई थी। १९७१ का लंदन काव्योत्सव भी महत्वपूर्ण था। मैं समझता हूं, ब्रिटिश श्रोताओं से मेरा जीवित साक्षात्कार, क्वीन एलिजाबेथ हॉल में कई सौ लोग, और फिर अखबारों में समीक्षा, बातचीत और पत्राचार—यह सब शायद मेरी स्थिति के लिए सहायक हुआ और अब पेंग्विन का संग्रह इसे प्रमाणित कर सकेगा, जब तक कि कोई सशक्त आलोचक मुझ पर प्रहार करके ध्वस्त नहीं कर देता।

यह एक नाजुक अवसर है...

मेरी कविता के लिए।

और व्यापक रूप से सारी पोलिश कविता के लिए भी।

क्या पता ? फ़िलहाल मुझे इसका एहसास नहीं है। अपने व्यवसाय, अपने ध्येय के प्रति मैं हमेशा सजग नहीं रह पाता। कभी-कभार मैं अपनी ज़िम्मेदारी, अपने काम के प्रति जागरूक रहता हूं, लेकिन वे दुर्लभ ही क्षण होते हैं : एक दिन लगता है कि मुझे इससे महत्व का एहसास होगा और अनुवादक के रूप में आपके काम की सार्थकता का भी। कविता संगीत या चित्र या माज़ोसे जैसे नृत्य-दल या किसी मुक्केबाज़ या खिलाड़ी की तरह नहीं होती। इस एहसास की शुरुआत मुझ में इसलिए हो रही है कि अब से पहले मैं क़तई अनजान था। दूसरी ओर, गौर करने की बात है कि पश्चिम जर्मनी में पोलिश साहित्य की लोकप्रियता की भयानक लहर उठी थी, वह अब उतर रही है।

अमरीकी कवि वालेस स्टीवेंस ने, जो कि एक बीमा कंपनी में अफ़सर रहे, कहा है कि हर कवि को कोई न कोई धंधा अपनाना चाहिए। इंग्लैंड में लोग कविता को हाशिये की कारंवाई के रूप में करते हैं। पोलैंड में स्थिति बिलकुल दूसरी है। आप तो पेशेवर लेखक हैं।

हा, पोलैंड मे कविता अक्सर सार्वजनिक सरोकार रही है। लेकिन इसी के साथ यह भी सुनने मे आता है कि कविता पर बहुत संकट छा गया है और उसे कोई पढता ही नही। कई किताबों के १०,००० प्रतियों तक के संस्करण हो जाते हैं और बिक जाते हैं। कविता मसलन् धर्म की जगह ले सकती है।

फिर इससे सत्ताधारियों से लगातार टकराव भी अपरिहार्य होता होगा। इंग्लैंड में तो कविगण क्या करते हैं, इससे किसी को लेना-देना नहीं है। पोलैंड में कविता की एक राजनीतिक भूमिका है।

हां।

आप निश्चय ही मानते हैं कि कविता को सामाजिक पृष्ठभूमि में, जीवन के बीचोंबीच उपस्थित रहना चाहिए, और अगर समाज समवतः अपनी सरकार के माध्यम से असंतोष प्रकट करता है तो यह एक स्वाभाविक परिणाम है।

इस पर मैं अभी विस्तार से कुछ कह नही सकता। यह जटिल और व्यापक मुद्दा है जिसमे समाजशास्त्र, राजनीति, साहित्यिक परंपरा और राष्ट्र का इतिहास भी शुमार है। बल्कि इस पर समाजशास्त्रियों और साहित्य के इतिहासकारो का ध्यान जाना चाहिए।

हमने पाउंड की चर्चा की। मैं आपसे विट्गेंस्टाइन और एलियट के बारे में जानना चाहूंगा। एलियट के नाटकों पर आपकी क्या राय है ?

मैंने उनके बस अनुवाद ही पढे है। मुझे एलियट के नाटकों का भाषाशास्त्रीय दृष्टि से बहुत महत्व लगता है। मर्डर इन केथेड्रल को मैं उनका सर्वश्रेष्ठ नाटक मानता हू। अपने व्यापक कथ्य के कारण वह शेक्सपियरीय परंपरा का नाटक है, और यही बात उसे दि काकटेल पार्टी या दि फ़ेमिली रियूनियन से अलग करती है। जहां तक विट्गेंस्टाइन के दर्शन का सवाल है, मैंने उसे नॉर्मन मैल्कोम के एक मामूली, जीवनीपरक रेखाचित्र के जरिये पढा है।

मैं जीवनी के बारे में ही पूछता हूं। पाउंड के संदर्भ में आपने कहा कि वह साहित्यिक दोस्तों के प्रति उदार और मददगार थे।

विट्गेंस्टाइन क्योंकि मानव-द्वेषी थे, जनता के प्रति उनका रवैया एक तरह के उन्माद से पैदा हुआ था। लेकिन मैं मानता हूं कि वह धर्म-निरपेक्ष, संतवत् थे, जबकि पाउंड में एक अंधे उन्माद के तत्व रहे, जो कि अपराध-वृत्ति की हद भी छूते थे। मैं सबसे पहले लोगों की जीवनी से आकर्षित होता हूं, फिर अचानक उनकी रचनाओं में भी रुचि पैदा हो जाती है। सिमोन वाइस और एक-दो अन्य चित्रकारों के संदर्भ में यही हुआ। युद्ध के एकदम बाद मुझे वॉन गॉग के अपने भाई को लिखे पत्र पढ़ने को मिले। सच्ची बात कहूं तो मैं रचनात्मक व्यक्तियों में साधुता की तलाश करना चाहता हूं। यह बात मेरे अपने जीवन में नहीं भी हो सकती है, पर साधुता का यह विचार मुझे हमेशा मुग्ध करता रहता है।

काफ़्का के प्रति आपकी रुचि का भी यही कारण था?

हां।

युद्ध के बाद आपने नोवोसिएल्स्की की एक कलाकृति के बदले में काफ़्का के 'दि ट्रायल' की फटी-पुरानी प्रति खरीदी थी, जो कि उन दिनों सरकार द्वारा प्रतिबंधित थी।

हां, दोस्तोएव्स्की और टॉमस मान में भी मेरी दिलचस्पी इसी कारण से रही है —और टॉमस मान के भाई हेनरी में भी, जिनका नैतिक व्यक्तित्व मुझे टॉमस से कहीं अद्भुत लगता रहा है। इसी तरह क्लॉस मान के प्रति भी मैं सहसा आकर्षित हुआ, सिर्फ उनकी जीवन-स्थिति के कारण : पुत्र की वह असंभव स्थिति, उसकी आत्महत्या। ये सब बहुत मामूली बातें हैं, लेकिन किसी लेखक तक पहुंचने का मेरा यही ढंग है। मुझे यह जानने की इच्छा है कि कोनराड कितने अच्छे नाविक थे। मैं उनके उपन्यासों और कहानियों की बहुत कद्र करता हूं। लेकिन मैं यह जानना चाहता रहा हूं कि क्या वह कोई अच्छे कप्तान थे या यों ही बेकार थे। इसी तरह हेमिंग्वे के बारे में भी हालांकि मैं उनकी कृतियों को कोनराड जितनी ऊंची नहीं मानता। पर वह कैसे सिपाही थे, यह जानने की उत्सुकता मुझे हमेशा रही। तमगों से सजे-धजे, पैरों में जख्मी, वह शायद महज एक मामूली मेडिकल अर्दली रहे हों? ऐसे सामान्य ब्योरों में जाने से हम अपने पाठकों को मना करते हैं, पर हम खुद उन्हीं की तरह इन चीजों के प्रति आकर्षित रहते हैं। आज डायरियों और संस्मरणों को जो लोकप्रियता मिली है, उसकी वजह शायद यही हो। कभी-कभी

किसी आदमी के बारे में यह जानना ज्यादा दिलचस्प होता है कि वह कैसा था, बजाय इसके कि उसने क्या लिखा।

'तीसरा चेहरा' संग्रह की कविताओं के 'पुनश्च' में आपने तोल्स्तोय का एक कथन उद्धृत किया है कि बच्चों का 'क ख ग' लिखना उपन्यास लिखने से कहीं अच्छा है। मितोश ने भी कहा है कि आप अपनी कविताएं वर्णमाला की तरह लिखते हैं। पता नहीं यह लिखते हुए 'तीसरा चेहरा' उनके दिमाग में रहा होगा या यह उनका अपना निष्कर्ष है। लेकिन इसे आपको…

प्रशंसा मानना चाहिये।

इसलिए कि आपने एक 'क ख ग' की, एक शैक्षणिक किताब की रचना की है। अपने व्यक्तिचित्रों और टिप्पणियों के संग्रह में आपने टू्मन कापोटे की किताब 'इन कोल्ड ब्लड' के बारे में भी लिखा है और रास्कोल्निकोव और हमारे जमाने के हत्यारों के बीच एक विरोधाभास दर्शाया है। आपने लिखा है कि हिचकॉक और स्मिथ के पास न तो आत्मा है, न कोई अंतःविवेक है और वे मजे के लिए मरते हैं। आपने लिखा है: 'मेरे लिए यह अनसुलझी समस्या है कि क्या बहुत सरल, शिक्षाप्रद कथाएं, लिखना अच्छा है और क्या इन कथाओं का ऐसा उपयोग हो सकता है कि इन्हें पढ़ कर कम से कम एक आदमी तो बूढ़ी औरतों की हत्या करना छोड़ दे। हमारे समय में किताबों और साहित्य की वास्तविक भूमिका क्या है?' यह शैक्षणिकता, जो आपकी सारी कृतियों में है और जिसकी चर्चा मितोस ने भी की है और जिसे आप स्वयं अनिवार्य मानते हैं, मुझे आपकी सबसे बड़ी उपलब्धि प्रतीत होती है।

शुरू में मैंने दो दिमागों के बीच, मानवीय और लेखकीय मस्तिष्क के बीच, एक अलगाव का जिक्र किया था। एक पाठकीय मस्तिष्क भी है। मैं कई साल तक पाठक, बहुत सच्चा, धुन का पक्का पाठक रहा हूं। मैं जिंदगी में व्यावहारिक मदद पाने किताबों और कविताओं की ओर गया। मैंने सोचा था कि वे हताशा और संशय से उबरने में मेरी मदद करेंगी, और आपको आश्चर्य होगा, दोस्तोएव्स्की और कोनराड दोनों से एक साथ मैंने यह सहायता चाही। लॉर्ड जिम और रास्कोल्निकोव, दोनों से। इसी प्रकार आधिपत्य के दौर में और पहले भी मैंने कविता से मदद मांगनी चाही। और जब निराशा ही हाथ आयी—क्योंकि अंततः वे महज किताबें थीं—मैं महानतम कृतियों के प्रति क्रोध और मोहभंग से भर

उठा। मुझे लगता था कि मैं सब कुछ कहीं गडमड कर दे रहा हूं। पर मैंने क्योंकि मदद चाही थी, उसकी गुहार की थी, इसलिए मेरे भीतर यह बात उठी कि मैं मददगार हो सकता हूं, हालांकि कभी-कभी यह भी लगता है कि यह सब किसी लायक़ नही है। कभी-कभार ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति मुझे इस तरह से लिखता है कि उससे शब्दों को कर्म मे परिणत करने के मेरे विश्वास को ताक़त-सी मिलती लगती है।

[आयन हेमिल्टन द्वारा संपादित 'दि न्यू रिव्यू' (लंदन) की संख्या २५ से
अनुवाद : मंगलेश डबराल]
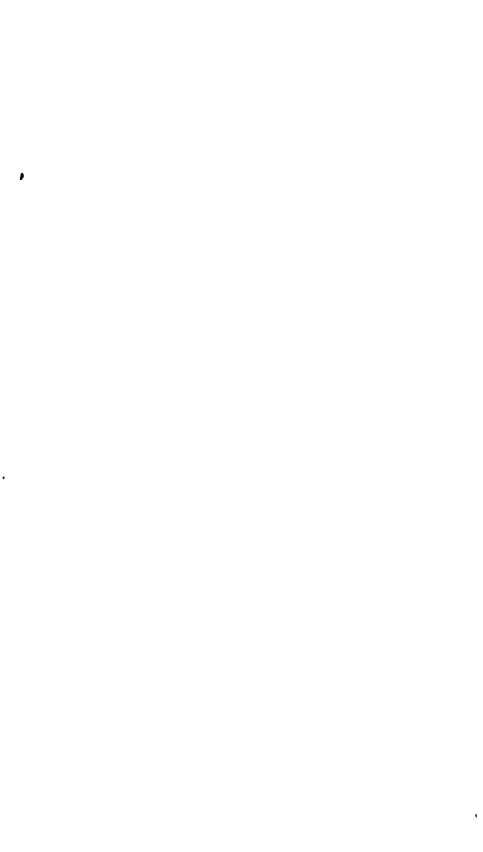
अपने

शमशेर बहादुर सिंह का नाम हिंदी साहित्य संसार में बहुत आदर के साथ लिया जाता है। शमशेर जी की खास दिलचस्पी अपने चारों तरफ़ की ज़िंदगी में आरंभ से रही है। उनका महत्त्व इसलिए भी सर्वमान्य है कि उनकी कविताओं में भाव और विचार के धरातल पर जीवन की चित्रछवियां ही दिखाई पड़ती हैं। अब तक उनके कविता-संग्रह—कुछ कविताएं, कुछ और कविताएं, चुका भी नहीं हूं, इतने पास अपने; निबंध—दोआब स्केच; कहानियां—प्लाट का मोर्चा; अनुवाद—आश्चर्यलोक में एलिस, पृथ्वी और आकाश आदि प्रकाशित हुए हैं।

●

नेमिचंद्र जैन ने अपने लेखकीय जीवन का आरंभ काव्य-लेखन से किया। तार सप्तक में आपकी कविताएं संकलित भी की गईं—अधूरे साक्षात्कार (विविध) रंगदर्शन (नाट्य समीक्षा) प्रकाशित। लेकिन बाद में आलोचनात्मक लेखन में ही मुख्य दिलचस्पी। रंगकर्म पर महत्त्वपूर्ण पत्रिका नटरंग का पिछले अनेक वर्षों से संपादन-प्रकाशन। हाल ही में मुक्तिबोध रचनावली का भी संपादन।

मलयज: महत्त्वपूर्ण कवि-आलोचक। आलोचनात्मक निबंधों का संकलन—कविता से साक्षात्कार और कविता संकलन—तिनके की चीख प्रकाशित।

मलयज : पहले तो अपने संग्रह के बारे में ही बताइये कि यह चयन आपको कैसा लगा।

अच्छा, पहले कोई ब्रॉड लाइन इसकी सोच लें।

नेमि : यह जो तलाश है ब्रॉड लाइन की यही—इसको क्या—यह जो संग्रह—

मलयज : दूसरे दो जो हुए हैं उनसे आपको यह कैसा लगता है ?

भाई, बात यह है कि जब यह छप कर—

मलयज : आपने कहा था उस दिन कि 'जगत जी' को आप अपना बहुत अच्छा जज मानते हैं।

हां, मैं मानता हूं अब भी।

मलयज : तो उसी को—आपको कैसा लगा ?

चयन में एक वैशिष्ट्य तो है। यानी मुझे, जो. अच्छा भी लगा और हैरानी भी हुई कि मेरी बहुत-सी कविताएं मनपसंद की, निजी तौर पर मुझे जो पसंद हैं, उनमें से बहुत-सी उन्होंने चयन मे रख ली, जो मैं कभी नहीं देता, फौर वन रीजन ऑर ऐनदर। वह—मेरी या तो हिम्मत ही न होती, या मैं—मेरे जी मे न आता कि मैं इन्हें दूं। उन्होंने वे सब दे दी हैं। कई ऐसी दे दी हैं। अच्छा—

नेमि : नहीं, पर ये जी में क्यों नहीं आता। क्या इसलिए कि यह आपको बहुत निजी लगती हैं, प्राइवेट लगती हैं ? या कि आपको यह लगता है कि यह जो कुछ आप कविता में करना या कि कहना

चाहते हैं उसको यह नहीं—? क्यों नहीं आप चाहते, अगर आप चुनते ?

मसलन, उसमें वह दूसरी कविता है। क्या है देखिए वह दूसरी कविता जो है ? वह एक प्योर लिरिक है। है न ? मैं समझता हूं कि आई कैन इनजोय इट।

मलयज : यादें !

यादें। अब इसको लोग कहेंगे कि यह छायावादी-सी है। क्या है। लेकिन मुझे खुद वह बेहद पसंद है। न कभी मैंने वह छपने के लिए दी, वह कविता, न कभी—लेकिन अपने आप में गुनगुनाते हुए मुझे बहुत अच्छी लगी है; हमेशा। 'कौन विहान/बीते जन्म के/आज की सच्या में गतिमान ?' मुझे यह हौंटिंग-सी लगती है, जैसे कि एक नौस्टेल्जिया, और एक म्यूजिक, प्योर म्यूजिक, शब्दों में, अपने ढंग से। 'झिलमिल दीप-से जल/आज की/सुन्दरताओं में लयमान/अलस तापस मौन/भर स्वर मे/करते/क्षीण निर्झर का सा करुण आह्वान।' यह कविता जो है, मुझे हमेशा लगता है कि लोग कहेंगे कि छायावादी रंग की, छायावादी फैग-एण्ड की, एक चीज है। वह हुआ करे। बट आई इनजोय इट। यह इस माने मे पर्सनल है।

नेमि : नहीं, पर आप फिर इसे देना क्यों नहीं चाहेंगे ? लोग तो कहेंगे, लोगों की आपकी कविताओं के बारे में, जो आपको शायद अच्छी न लगती हों उनके बारे में भी कुछ दूसरी राय हो सकती है उनकी।

हां, लेकिन यह तो बिल्कुल ही मुझे लगा कि यह छायावादी युग की एक चीज है जो मैंने भी लिखी। और मुझे चूंकि इसमे हौंटिंग म्यूजिक लगा, यानी कि म्यूजिक के टर्म्स में मैंने कविता लिखी है, एक तरह से, कहना चाहिए। इसके साउंड इफेक्ट्स और जो हौंटिंग, मेरे लिए एक नौस्टेल्जिया है, वह इसमे मुख्य है। और उसकी किसी तरह से—इसमे वौवेल्स भी। इसको एक अभिव्यक्ति मिल गई। तो अब यह प्योरली, कहना चाहिए, प्योर पोएट्री की तरह एक पर्सनल-सी चीज है। अच्छा, क्योंकि लोग चाहते है या तो वह एक सी चीज जिसको कि वह देखते ही कहें कि हां, यह शमशेर की है, या यह एक्सपेरिमेंटल है। या यह ऐब्स-ट्रैक्ट है। या यह एकदम कठिन है, समथिंग लाइक दैट। तो उसके अलावा और

कोई चीज़ हो। या तो उर्दू की कोई चीज हुई मसलन इन्होंने वह दी, कई इस तरह की चीज़ें दी हैं जो लोग लिखते हैं।

मलयज : लेकिन आखिर इस तरह की कविताएं जो आपको भी पसंद हैं, जगत जी ने भी दी हैं, तो क्या आपको शिकायत है कि ये कविताएं क्यों दीं ?

नहीं, शिकायत नहीं। मैंने कहा न कि मुझे खुशी भी हुई लेकिन आश्चर्य भी हुआ।

नेमि : नहीं, मेरा सवाल दूसरे तरह का है, कि आप क्यों नहीं देना चाहते हैं। क्यों आप जो पाठक चाहते हैं वही संग्रह में रखना चाहें, ऐसा क्यों सोचते हैं। आपको जो लगता है कि अपने आपको जिस रचना में अभिव्यक्त किया है पूरी तरह से, यानी कि वह कोई टेकनीकल एक्सपेरिमेंट हो कि आपने वोवेल्स के साथ, स्वरों के साथ, काम किया है, या कि किसी और दृष्टि से आपने''''। उसे आप देना नहीं चाहेंगे, खुद अगर संकलन करेंगे तो, उसका ठीक कारण मैं—यानी कि आज के पाठक के साथ आपके मन का जो सम्बन्ध है, उसका कुछ सिलसिला इससे हमें पता चल सकता है। मैं सोचता हूं कि जो कवि को लगता है कि मैंने इसमें कुछ ऐसी बात की है जो मेरे लिए महत्त्वपूर्ण है, मैं सोचता हूं कि वह दूसरों तक भी उस महत्त्वपूर्ण कार्य को पहुंचाना चाहेगा।

एक तो यह कि मेरे मन में संकोच वैसे ही है स्वभाव से। और पत्र-पत्रिकाओं में जो चीजें आम तौर से मैंने दी हैं, तो कुछ उनकी अपनी बंधी हुई गति-विधि से वे दूर नहीं पड़ी हैं आम तौर से। सिवाय वात्स्यायन की पत्रिका के। उन्होंने स्वागत किया है ऐसी चीज़ों का भी जिनको और कोई पत्रिका उस समय नहीं प्रकाशित कर सकती थी, अनोखी, अजनबी, और अजब-सी होने के कारण—जिनको कि उस वक्त उन्होंने छापा। उस तरह की चीज़ें कई निकलीं। तो मैं समझता हूं कि ऐसी चीज़ें मैं शायद प्रतीक में तो भेज सकता हूं कि वह छापेंगे। बाद में और लोग भी छापने लगे। तो वह एक खास रंग हो गया। अब यह जो खास रंग की धारा है, मैं इसमें कभी बंधना नहीं चाहता था। क्योंकि जैसा मूड आया, कई तरह के असर मुझ पर पड़े हैं, तो उन असरों से प्रभावित होकर मैंने कई तरह की चीज़ें अलग-अलग मूड में लिखीं। वह चीज़ें सभी पत्रिकाओं को

पसंद आएंगी यह हमेशा मेरे लिए एक संदिग्ध बात थी। तो मैं हमेशा उदासीन-सा हो जाता था, जिन पत्रिकाओं में देना चाहता था, या जिनके लिए मैं लिखना चाहता था, वे स्वभावतः कुछ कहना चाहिए प्रगतिशील किस्म की थीं। लेकिन उन्होंने कभी परवाह नहीं की मेरी कविता की आम तौर पर। सिवाय खास टॉपिक पर अगर मैं लिखूं, और खास तरह से कुछ लिखूं। और जिन लोगों ने मेरी कविता छापनी चाही, उनका दृष्टिकोण कुछ ऐसा था कि उससे मुझसे कोई खास हमदर्दी नहीं थी। लेकिन चूंकि उनके यहां कलात्मक रचना का मान था, या समझ थी, मैंने यहां चीज़ें दीं। इसके अलावा दूसरी बात यह भी थी कि बहुत-सी चीज़ें मेरी उर्दू का रंग लेकर आती थीं और उसमें उर्दू के ढंग की एक, कह लीजिए, एक नफ़ासत, या एक सेंसिटिवनेस या एक नुएन्स एक्सप्रेशन की। तो अब उनको कौन छापेगा? मसलन, एक मिसाल मैं अभी बताता हूं आपको। ज़रूरी नहीं है कि वह दुरूह, इस या उस क़िस्म की, बड़ी एक्सपेरिमेंटल चीज़ें हों जिनको देने में मुझे कभी एक ज़माने में गोया संकोच हुआ है। या प्रगतिशील चीज़ें, मसलन कुछ लोग कभी नहीं छापते मेरी, कभी कुछ पत्रिकाएं छापती। इन प्रगतिशील रचनाओं के बारे में मेरे दिल में हमेशा संदेह रहा कि ये कविता के रूप में अच्छी नहीं बन पड़ी है शायद। तो मुझे यह लगा, एक तरह का डिफ़िडेन्स, एक तरह की हीन भावना कह लीजिए आप। एक नए एंगिल से, यानी प्रगतिशीलता के एंगिल से यह हीन भाव की रचना जो है, आयी नहीं, मतलब कविता के रूप में नहीं बन कर आयी। और दूसरे एंगिल से यह हीन भाव कि कुछ अटपटापन-सा शायद इसमें हो। यानी कभी मैं संतुष्ट नहीं रहा। एक अजब-सा क्वेश्चन मार्क हमेशा मेरे दिल में रहा। फिर यह अलग-अलग ग्रुप हो गये। संपादकों के, प्रकाशकों के, तमाम इन लोगों के। तो मैं कहीं अपने को पूरी तरह गिन पाता नहीं था। तो कोई दिलचस्पी फिर मेरी खास नहीं रह गयी। अब मैं मिसाल के तौर पर बताता हूं मसलन। बल्कि मैं अब वह एक रचना लाया हूं। वैसे भी दिलचस्पी मेरी थी कि मैं तुम्हें सुनाऊं। मसलन, अभी हमारे मित्र भारतभूषण उठ गये हमारे बीच से। तो जाहिर है कि हम सब लोगों को उनका एकाएक उठ जाना, एकाएक हंसते, बोलते बीच से एकदम नहीं रहना दिस इटसेल्फ़ वाज़ ए शॉक। यानी नोबडी वाज़ प्रिपेयर्ड फ़ॉर इट। और इधर हम कुछ करीब भी उनके आ गए थे, जितने कि पहले हम नहीं थे। ३-४ साल के अन्दर एक अजब-सा सौहार्द, एक तादात्म्य-सा कहीं पैदा हो रहा था। और वह क़रीब बढ़ता जा रहा था। कई कारण उसके थे। बहुत जेनुइन और बड़ा अच्छा था। तो मैं वैसे ही कम मिलता-जुलता हूं। लेकिन इसमें एक ऐसी बात पैदा हो रही थी कि हम लोग शायद कुछ कॉमन बातों पर डिस्कस करने वाले थे। या कुछ बातें प्रोब करने वाले थे। कुछ चीज़ें ऐसी थीं। एकाएक उनके उठ जाने के बाद मेरे दिमाग़

में कुछ पंक्तियां गूंजने लगीं। ऐसे मौक़ों पर, या इस तरह के कई दूसरे मौक़ों पर जो जरूरी नही कि शोक के हों, कभी कोई ऐसा एक दौर आता है कि पंक्तियां गूंजने लगती है। तो जब तक कि वह, पूरा अपना वह, समाप्त नही कर लेती हैं, सारा गोया प्रेशर जब तक निकल नहीं जाता, तब तक मैं मुक्ति नही पा सकता उससे। पंक्तियां गूंजने लगी, और जब तक वह तार चलता रहा। तो सुनाना चाहूंगा, हालांकि इसका संबंध मेरी कविता से वैसे नही है। लेकिन अब आप यह देखिए कि इस कविता को मैं कही भेजने की स्थिति में नही हूं। क्योंकि एक तो यह कि वह उर्दू में आयी। मुक्तिबोध पर भी जब मैंने लिखी थी वह उसी जमाने में, मिसरे गूंजते थे। उस जमाने मे बीमार भी थे वह। थक-थकाकर घर में आता था। माचवे जी के घर। तो कोई मिसरा, मतलब अपने आप ही मन में गूंजता, बनता रहता था। उसे कही टाकते गये, कही लिखते गये। फ़ौर नो पार्टिकुलर रीजन। बाद में मैंने उन्ही को जोड़जाड़ के आई जस्ट कम्पाइल्ड देम। वह एक ही लय में, एक ही बहर मे। यही इनके साथ हुआ। वही, जब हम उन्हें ले चले तो यह पहला मिसरा उसी वक़्त बना—'मेरे कमज़ोर कांधे को तेरी मिट्टी उठानी थी'। तो अब यह तो बिलकुल उस मौके का भाव एकदम मेरे दिमाग़ मे आया। दिस वाज़ दि स्टार्टिंग प्वाइंट। जब तक कि पूरा यह बुखार समझ लीजिए प्रेशर था दिमाग़ पर, दिल पर, वह निकल नहीं गया, कन्टीन्यूड। यह बस पूरी की पूरी चीज़ उर्दू में बनी। सवाल यह है कि हिन्दी की किस पत्रिका को मैं, सहज ही मुक्त रूप से सहज ही में भेज दू ?

मलयज : लेकिन इस तरह की चीजें तो आपकी छपी भी हैं। मुक्तिबोध वाली कविता भी छपी है।

नेमी : आपके जो पाठक हैं वे आपकी रचनाओं को बहुत चाव से पढ़ते रहे हैं, उनकी चर्चा करते रहे हैं। बल्कि उनके लिए, अगर मै स्ट्रांग शब्द इस्तेमाल करूं तो, तरसते रहे हैं। तो यह तो आप नहीं कह सकते कि कोई पत्रिका आपको इस तरह की रचना को—

वह तकल्लुफ़ में, भई, कि शमशेर जी ने भेजी है छाप दो। वह मैं समझता हूं—

मलयज : तकल्लुफ़ की बात नहीं है। मैं समझता हूं एक खासा वर्ग ऐसा है हिंदी पाठकों का भी जो इसे पसंद करता है।

अब मैं सोचता हूं कि एक वर्ग करता है। पर हमारे संपादकों में कम शायद दिल में ऐप्रिशिएट करते हैं।

मलयज : यह कैसे आप कह सकते हैं ?

नेमी : मैं तो नहीं समझता। मेरे मन में भी यह बात नहीं है ।

मेरा ख़याल है कि—

मलयज : आपकी मुक्तिबोध वाली कविता तो छपी थी।

नेमि : आपकी और भी सब जितनी आपकी ग़ज़लें या शेर हैं वह लोगों की जबान पर हैं बहुत सारे। जो हिंदी में कविता पढ़ते हैं। उनमें से बहुत से लोगों के मन में वे गूंजते रहते हैं।

सुनना चाहें तो मैं सुनाऊं सबको—

नेमि : जरूर—

मैं समझता हूं कि कल्पना में ही भेजूंगा इसको क्योंकि ये साप्ताहिक पत्रिकाएं तो एक तरह के टापिकल—उनका वह रहता है न कि समय पर एक चीज उनके यहा पहुंचे, मिले तो—इसलिए भी एक उलझन होती है। न्यूज़वैल्यू उनके लिए जरूरी है। नही तो एक तरह एहसान सा हो जाता है।

नेमि : आप कुछ भी भेज दें वह पत्रिका पर एहसान ही है आपका।

नेमी : बहरहाल, हम लोग तो ऐसा ही मानते हैं।

नहीं-नहीं, ऐसा नहीं।

नेमि : बहरहाल, हम लोग तो ऐसा ही मानते हैं।

सुनिए आप इसको। दिवंगत भारतभूषण अग्रवाल से एक मशहूर मिसरा है, वह मैंने कोटेशन के तौर पर शुरू में रख दिया है।

दिवंगत भारतभूषण अग्रवाल से

निज़ामुद्दीन वेस्ट के आर्यसमाज-दाहक्रिया स्थान की ओर जब भारत जी के बन्धु बांधव और साहित्यिक मित्र उनका पार्थिव अवशेष ले जा रहे थे, तो सारे रास्ते यही पंक्ति बार-बार मेरी भावना से टकरा रही थी—

मेरे कमजोर कांधे को तेरी मिट्टी उठानी थी !

इसके बाद २-३ हफ़्ते तक यही 'जमीन' मेरी भावनाओं और स्मृतियों को बांधे रही, जब तक कि और भी कई मिसरे और शेर इसमें जुड़ते न चले गये, यहां तक कि मर्सिये का तीसरा बन्द पूरा हो गया और चित्त को इस असामयिक संताप से बहुत-कुछ 'मुक्ति' हुई, और कुछ न कुछ शांति-लाभ हुआ। कुछ स्थितियों में

कविता अपना यह प्रयोजन भी (कमोबेश) सिद्ध करती है।

खड़ी बोली की हिंदी परंपरा में न होकर, उर्दू परंपरा में होने के कारण मुझे इसे प्रकाशित करने में कुछ संकोच था। मगर इस कविता के माध्यम से किसी न किसी प्रकार 'सप्तकीय' परंपरा के दो साहित्यिक व्यक्ति जुड़ गये हैं, अत: कुछ-न-कुछ आशा की जा सकती है कि कृपालु पाठक संभवत: इस स्थिति को स्वीकार कर लेंगे।

—शमशेरबहादुर सिंह

[१]

अभी तो उम्र थी !—देता सहारा तू मुझे !!—लेकिन
मेरे कमज़ोर कांधे को तेरी मिट्टी उठानी थी !!
चिता तेरी जली 'हज़रत निज़ामुद्दीन'[1] के दर पर :
मुक़द्दस[2] ख़ाक पर आयी जो मथुरा की निशानी[3] थी !
उरूजे-ज़िंदगी[4] में क्यों यकायक यह ज़वाल[5] आया ?
फ़ना के पार भी शायद कोई मंज़िल बनानी थी !
अजब मस्ती-सी थी, भारत, तेरी जद्दो-जेहद[6] में भी
मुसलसल[7] जांफ़िशानी इक फ़साना थी, कहानी थी !
न क्यों चर्चे हों तेरी चाराजोई[8], ग़मगुसारी[9] के !
वही ग़म का मदावा[10] था जो तेरी छेड़खानी थी।
अदब[11] में ता-अबद[12] क़ायम रहेंगी तेरी तख़लीक़ें;[13]
अदब का सानेहा[14] गो तेरी मर्गे-नागहानी थी !

१. 'निज़ामुद्दीन वेस्ट', यमुना के तट तक आज नयी दिल्ली का यह क्षेत्र सदियों से बहुत पवित्र माना जाता रहा है।
२. पवित्र।
३. मथुरा, स्व० डा० भारतभूषण अग्रवाल का जन्मस्थान।
४. जीवन के उत्कर्ष (में)।
५. ह्रास।
६. संघर्ष।
७. लगातार, निरन्तर।
८. तदबीर, प्रयत्न।
९. हमदर्दी।
१०. उपचार।
११. साहित्य।
१२. चिरकाल तक।
१३. रचनात्मक कृतियाँ।
१४. मार्मिक दुर्घटना।

हो तेरी आत्मा को शांति हासिल दुआ ये है:
जो लाफानी[15] थी अब भी है, गयी वो शै जो फानी[16] थी!

[२]

जिधर भी देखता हूं मैं तेरा ही अक्स उभरता है:
अभी तक मेरी आंखों मे तेरी तस्वीर फिरती है!
बलन्दी पा के, दुनिया से यकायक तेरा उठ जाना!
पहुंच कर अपनी मंजिल पर कोई तक़दीर फिरती है![*]
बहुत कुछ कर गया, फिर भी बहुत से ख्वाब अधूरे थे।
तुझी को ढूंढ़ती हर ख्वाब की ताबीर[17] फिरती है!
फ़िज़ाओं में तेरी आवाज की झनकोर-सी अब तक
किसी को ढूंढ़ती-सी कांपती दिलगीर[18] फिरती है!
कहां होंगे अब ऐसे ज़िन्दादिल! हर याद में गोया
तेरी जिन्दादिली की बोलती तस्वीर फिरती है!
अजब सब्रो-सुकूं था! बन्दे-ग़म[20] काटे तो यों हंस कर—
'ग़मों की टूटती देखो पड़ी ज़ंजीर फिरती है!!
हो तेरी आत्मा को शांति हासिल दुआ ये है
हरेक शै अपने मर्कज़[21] को दमे-आखीर[22] फिरती है!

[३]

अदीब अहबाब[23] तेरी मश्क़े-पैहम[24] से सबक़ सीखें!
अज़ीज़-ओ-अक़रबा[25] तेरे, तेरी हिम्मत से हिम्मत लें!

१५. अमर।
१६. नश्वर।
*भारत की शिमला में ये जब हृद्गति बंद हो जाने से उनकी आकस्मिक मृत्यु हुई।
१७. स्वप्नफल।
१८. दिल को मसोसती हुई।
१९. सब्र और धीरज।
२०. दुखों के बंधन।
२१. केंद्र।
२२. अंतकाल में।
२३. साहित्यिक मित्र।
२४. निरंतर अभ्यास।
२५. सगे-संबंधी।

जहां भी तू रहा तेरी वफ़ादारी ही सब कुछ थी!
यही कहता था—लें हमसे जहां तक हो, मशक्क़त लें!!
सियासत में तुझे क्या दख़्ल! हां, वह भी सियासत थी—
घरेलू, बेज़रर,[२६] सी कुछ—अगर नामे-सियासत लें!
मिज़ाह्-ओ-तन्ज़[२७] -ओ तुक्तक लें, कि सोशन नज़्म लें तेरी;—
वही इक छटपटाहट-सी है, मन की जो भी रंगत लें!
तजस्सुम[२८] थी तेरी फ़ितरत,[२९] तो मश्के-फ़न[३०] रियाज़त[३१] थी;
बजा है[३२], तेरी काविश[३३] से अगर दर्से[३४] -फ़साहत[३५] लें!
कठिन हैं फ़िक्र-ओ-फ़न[३६] के मर्हले[३७] आख़ीर तक क्या-क्या!
कभी समझें तो अहले-दिल तेरा हंगामे-रहलत[३८] लें!
हो तेरी आत्मा को शांति हासिल दुआ ये है
नया शुभ जन्म ले तू, औ' नये युग तेरा स्वागत लें!

नेमि : यह एक बड़ी दिलचस्प बात है, शमशेर जी। मैं समझता हूं कि अपने समकालीनों में आपने कवि मित्रों, व्यक्तियों को लेकर शायद सबसे अधिक कविताएं लिखी होंगी। पता नहीं मेरा यह ऑबज़र्वेशन—जैसे इस संग्रह में ही त्रिलोचन को लेकर है—

यह सानेट है त्रिलोचन के बारे में।

नेमि : और भी मुझको लगता है कि और भी व्यक्तियों को, जो संपर्क में आये हैं, उनको लेकर भी—

२६. निरापद।
२७. हास्य और व्यंग्य।
२८. खोज-वृत्ति।
२९. प्रकृति।
३०. कला का अभ्यास।
३१. साधना।
३२. उचित ही है।
३३. घोर प्रयत्न।
३४. पाठ।
३५. सहज-सरस स्तरीय शैली।
३६. चिंतन और कला।
३७. मंजिलें।
३८. मृत्यु-क्षण (को उदाहरणस्वरूप सामने रखें)।

हां, चित्रकारों पर भी है। सोनी पर हैं दो।

नेमी : तो यह एक—इस दृष्टि से कविता के थीम्स, यानी जो चीजें आपको अपनी कविता के लिए प्रेरित करती हैं, आपके मन में काव्यात्मक एक्सप्रेशन को जन्म देती हैं, उनमें व्यक्तियों का एक ख़ास रोल है। यानी और दूसरी कविताओं में जिनमें—यानी इनमें तो नाम व्यक्तियों के हैं—क्या यह कह सकते हैं कि दूसरी ऐसी, और भी बहुत-सी कविताएं हैं जिनमें व्यक्तियों के नाम तो नहीं हैं, पर एक व्यक्ति उस कविता की शुरुआत के रूप में मौजूद है।

बराबर है। बराबर है। एक तो यह है कि व्यक्तियों मे दो तरह की मेरी दिलचस्पी रही है। मेरे ख़याल से, यों देखा जाय, तो हर कवि की जो बहुत ही भावपूर्ण रचनाएं हैं वह किसी न किसी व्यक्ति को लेकर ही—अगर रूमानी कविताएं हैं तो निश्चय ही कोई व्यक्ति उसके पीछे है। अगर हमारे हृदय को प्रभावित करती हैं रूमानी कविताए, तो यह निश्चित ही है कि उसके पीछे कोई न कोई व्यक्ति है जिसके साथ लगाव है, या प्रेम है। वह चाहे करुण है, जैसी भी कविता है, या आइडियलाइज्ड है। उसके अलावा यह भी होता है कि—जैसे आपकी कविता है वह ओ महत्। वह आपके संग्रह मे और आप की रचनाओं मे भी—वह जो पी० सी० जोशी का रोल है, उसकी वजह से भी वह संग्रह, और उसमे और २-३ कविताएं, मेरा ख़याल है, उनके रोल से प्रभावित होती हैं। और मैं ख़ुद भी उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित रहा हूं। कोई रचना अभी ऐसी मेरी कलम से नही निकली है कि जो संकेत उनकी तरफ दे। लेकिन मेरे मन पर उनका प्रभाव है, स्थायी रूप से जैसे बना हुआ है। उनके किसी भी आदेश को टालना मेरे लिए आवश्यक है, वह चाहे कितना कठिन मेरे लिए हो। इसका सबूत वह **इंडिया टुडे** के जमाने मे—जो मेरे लिए असभव थी बात, वह मैंने की थी उसमे। अंग्रेजी मे लिखा था, अनुवाद किया था, वगैरह। तो इस तरह दूसरा व्यक्ति, कलाकार के रूप में भी, व्यक्ति मेरे लिए बहुत ही आकर्षक होता है। यानी कोई चीज़ पैदा कर रहा है वह। एक तो यह कि कुछ उसकी जो अनुभूतियां हैं, या उसके जो अपने एक्सपीरिएंसेज़ हैं, अनुभव भी हैं जीवन के। कलात्मक अनुभव, अनुभूतिया और उसके जीवन की अनुभूतियां। जाने-अनजाने हम उनसे अपनी अनुभूतियों की, अपने अनुभवों की तुलना करते चलते हैं। जब हम किसी भी बड़े कवि को पढ़ते हैं, चाहे शेली हों या कीट्स हों, या पंत हो, या निराला हो, या मान लीजिए पाउंड हैं, या एलियट हैं। तो कौशलसी या अनकौशली—ज़ाहिर है। हम अपनी या अपने

समय की तुलना उनमें करते हैं। ये हमारी अनुभूतियों को बल भी देते हैं। निराला की अद्भुत कविताओं में, उनकी अनुभूतियों से, उनकी रचनाओं से, मुझे बहुत बल मिला है, प्रेरणा मिली है, बहुतों को मिली है। उनके बाद यह भी रहा है कि चूंकि मेरी दिलचस्पी शैली और प्रकार में और तकनीक में रही है, तो अलग-अलग रचनाकारों की, कवियों की, आर्टिस्टों की जो शैलियां हैं, उनमें भी रही है। कैसे वे अपने को व्यक्त करते हैं। उनके साथ-साथ फिर एक चीज और पैदा होती है कि वे सब कलाकार एक संघर्ष में लगे हुए हैं। कोई चीज एचीव करना चाहते हैं। तो उसका स्वरूप क्या है, जिसको एचीव करना चाहते हैं। नेचुरली, मैं भी कुछ एचीव करना चाहता हूं। तो मेरी दिलचस्पी उसमें होती है कि यह क्या रूप लेने जा रहा है, किस रूप में ढल रहा है, नेचुरली। मेरा खयाल है जब हम किसी का मूल्यांकन करते हैं तो हमारे मन में यह बात होती है कि जो शक्तियां उठ रही हैं वे किन-किन रास्तों पर चल के, या किन उपकरणों को जुटा के, या ले के, किन प्रभावों को ग्रहण करके, क्या बनना चाहती हैं। मेरी डायरेक्टली इसमें दिलचस्पी हो जाती है। तो जाने-अनजाने—ज्यादातर यानी कौशनली भी है यह, लेकिन फिर यह हैबिट-सी हो गयी है, मेरा स्वभाव-सा बन गया है। तो उतना मैं उसके, कह लीजिए कि कुछ दशाओं में जो उसके बाह्य रूप हैं, बाह्य स्वरूप हैं, दिक्कत उसमें भी होती है, लेकिन उसके बाद उसका एक वर्किंग प्रिंसिपल मैं डिसकवर करना चाहता हूं कि इस व्यक्ति का जो लिविंग प्रिंसिपल है वह क्या है। उस को पकड़ने के बाद आसान हो जाता है उसकी रचनाओं को, उसके व्यक्तित्व को पकड़ना जिसके संपर्क में हम आते जाते हैं, जैसे भारत जी के ऊपर मैंने कविता सुनायी। तो उनके यहां जो एक संघर्ष था, एक निरंतर अभ्यास। कई चीजें उनके यहां बहुत बारीक या रिफाइन्ड या बहुत फ़ाइन उस अर्थ में नहीं थीं जिस अर्थ में हम बहुत से कॉम्प्लेक्स कवियों में खोजते हैं या पाते हैं। निराला में जैसे हैं, या एलियट में हैं, या वात्स्यायन की बहुत-सी कविताओं में हैं। भारत जी में इस तरह की चीज हम नहीं खोजते। लेकिन एक और तरह की चीज उनके यहां है, जो कहना चाहिए, स्वस्थ व्यक्तित्व उनका, जो एक बड़े स्वस्थ ढंग से, एक समाज के अंदर, एक समाज के एक नुमाइंदे की हैसियत से, एक नागरिक की हैसियत से, उनका प्रतिनिधित्व करता हुआ सशक्त रूप से आगे बढ़ना चाहता है। यानी जो नौर्मेलिटी है न, उसको वैल्यू देता है। और उन्होंने हमसे कहा था, कुछ महीने हुए, कि मेरी एक यह आकांक्षा है कि मेरा पाठक यह न समझे कि मैं उसकी बोली में, मैं उसके तर्ज में, उसके ढंग से बात नहीं कह रहा हूं। वह समझे कि मेरी बात है जो मेरी ही भाषा में उसने कही है। मैं समझता हूं कि यह भी एक बहुत बड़ा आइडियल रखा है उन्होंने अपने

सामने। उसके बाद यह जो बोलचाल के रंग है, और जो लहजे हैं, जिनमें ड्रामा है—

नेमि : मैं थोड़ा-सा इनट्रप्ट करता हूं आपको। क्या आप अपने तौर पर यह मानेंगे कि एक कवि का जो एक आदर्श होता है या होना चाहिए, तो आपका यह है कि मैं जो कुछ लिखूं अपनी बोली में नहीं, बल्कि उस बोली में जिसे पाठक समझे कि मेरी ही बोली है। या कि जो आपने बताया अभी कि भारतभूषण का एक आदर्श था। कवि के रूप में अपनी नजर में क्या आपका यह आदर्श कभी रहा है, या है ?

यह निश्चय ही मेरा आदर्श है। मेरी कुछ सीमाएं भी है मगर उसके साथ यह आदर्श कई कारणों से है। और एक बहुत बड़ा आदर्श है। मगर मुझे डर है कि यह बात बहुत लंबी हो सकती है और हो जायगी।

नेमि : कोई हर्ज नहीं, कोई डर नहीं।

यह बहुत बडा आदर्श है। मसलन, मुझे अपनी कविता की डगर पर ले जाने मे जिन गुरुजनों ने, जिन गाइड्स ने, जिन ग्रेट गाइड्स ने मेरा हाथ पकड़ा, अंगुली पकड़ी, उनमे से सबसे पहले, मैं समझता हूं, मौलाना हाली थे। हाली। उनकी 'मुक़द्दम-ए-शेरो-शायरी' हमने हाई स्कूल के आसपास कहीं पढ़ी थी। इंट्रोडक्शन टु लिट्रेचर, सीधे-सीधे। वह बहुत ही नोर्मलसी का नुमाइंदा था, खुद हाली। उसने अपने ज़माने में जो बड़ा इन्क़लाब किया था, वह यह कि जो एक रगीन शायरी होती चली आ रही थी, आशिक़ी-माशूकी की, बिल्कुल एक फ़्यूडल किस्म की, एकदम उसको तमाचा मारा, और उसने उस को बदलकर सीधी-सादी शायरी की बुनियाद डाली। बड़ी हिम्मत से उसने लिखी। उसने बड़े सीधे-सादे शेर लिखे। उसकी बड़ी प्यारी शायरी है। मैंने कुछ शेर उसके, अपने उसमे, क्या नाम है, इनका भुवनेश्वर के उसमे कोट भी किये जो भुवनेश्वर को बहुत प्रिय थे। यहां है न वह सग्रह जिसमे वह भुवनेश्वर का है। वैसे हाली जो है एक अजब चीज है। मैं बता रहा हूं कि किस तरह से यह जो सादगी है न, जिसके लिए ग़ालिब ने कहा, 'सादगी वो पुरकारी बेखुदी वो होशियारी। हुस्न को तग़ाफ़ुल में जुरअत-आज़मा पाया'। यानी हुस्न की भी तारीफ वह इस तरह से कर रहा है, उसकी डेफ़िनीशन वह यों कर रहा है, कि ब्यूटी को हमने देखा, जो रीयल नैसर्गिक सौंदर्य है न, या सुंदर व्यक्ति जो अपने नैसर्गिक रूप में एक सौंदर्य की प्रतिमा है, वह हमने देखा कि बेखुदी वो हुशियारी···। हम समझते हैं कि उसको पता नहीं, वह बेखबर है, हमारी गतिविधि से,

मगर ऐसा है नहीं। फिर वह कहता है—सादगी वो पुरकारी। उसमें सादगी निश्छलता लगती है न, सरलता है। जैसा पंत जी ने कहा है, 'सरलता ही था उसका गुण'। सादगी वो पुरकारी, यानी चतुराई, यह सब नैसर्गिक है। तो आर्ट में जो एक तरह की सादगी है उसके पीछे एक छिपी हुई बहुत ही फ़ाइन फ्लेवर आर्टिस्टिक, हाली की 'भूले हैं बात करके कोई राज़दां से हम।' पूरी ग़ज़ल तो मुझे याद नहीं रहती है। कुछ उनकी ग़ज़लें और उनकी नज़्में गोया एक मिसाल हैं खड़ी बोली के सरलतम रूप की। जो कि खड़ी बोली के बोलचाल के लहजे में पूरे दर्द के साथ, पूरी भावना के साथ, कही जा सकती हैं। अच्छा, मैं यह कह रहा हूं कि उसने बहुत-से जो रास्ते में रोड़े पड़ते हैं, बहुत-सी जो गुमराहियां आती हैं, उनसे सावधान किया है। दिस इज़ व वण्डरफ़ुल एसे। कम्प्लीट एसे। मैं समझता हूं, बहुत ही एक अनुभवी व्यक्ति का एसे है। तो खैर, उसके बाद फिर ग़ालिब की मिसाल देखिए। अंत में आते-आते वह अपनी क्लिष्ट शैली को छोड़ कर सादगी पर आये, मीर के रास्ते पर आये : 'सुनते हैं, अगले ज़माने मे कोई मीर भी था'। इसी तरह का रंग उन्होंने इस्तेमाल किया : 'दिले नादां तुझे हुआ क्या है/ आखिर इस दर्द की दवा क्या है।' 'हम वहां हैं जहां से हमको भी/कुछ हमारी खबर नहीं आती।' अब इससे सादी चीज नहीं हो सकती। लेकिन इससे अधिक भावपूर्ण या गंभीर बात भी कुछ नही हो सकती। सो ऑन। यह क्वालिटी ऐसी है—

> **नेमि : मै कहना यह चाहता हूं, मैं आपको इनटरप्ट कर रहा हूं, माफ़ कीजिए, अपने काव्य-आदर्श के रूप में इसको आपने कहां-कहां लाने की कोशिश की। हमारी दिलचस्पी इसमें बहुत है कि काव्य के सर्वमान्य आदर्श के रूप में तो यह बहुत परिचित है, पर आपके काव्य-आदर्श के रूप में कब, अपने किन-किन ख़ास—**

हां, मैं बतलाता हूं। इनमें दो चीजें शामिल हो गयी है। कहना चाहिए कि दो विरोधी बातें एक साथ आ गयी हैं, मेरी कविताओं में। और उससे कठिनाई भी पैदा हो गयी है। यानी जो बज़ाहिर सादगी, सादा लगती है, सरल लगती है उसमें कठिनाई पैदा हो गयी है। ये दोनों दो दिशाओं से आयी हैं। यानी एक तरफ़ से वह आदर्श जो हाली ने रखा, या ग़ालिब ने बाद में जिसमें आंखें खोलीं, उसको लेकर के, और तुलसी मे हम जिसका आदर्श पाते हैं, या कबीर की ठेठ भाषा में पाते हैं। शेक्सपियर के यहा भी जो उसके बहुत ही मार्मिक अंश है, वह बहुत ही स्ट्रेट सीधे उसमें चले जाते हैं। ऐंड सो ऑन, ऑल नो एबाउट इट। चीनी पेंटिंग में, पोएट्री मे भी जो मितव्ययिता है,

एंड सो ऑन। दूसरी ओर यह है कि मेरी दिलचस्पी थारंभ में ही पेंटिंग में, ड्राइंग में रही है। और इनका ऐसा पैरेलेल चला है इन्फ्लुएंस, या कहना चाहिए अंदर से इनके लिए तडप, और उसमें उलझने की, उसमे मश्क करने की, दोनों की, ड्राइंग और पेंटिंग और पोएट्री, कि मैं अभी तक उनको पूरी तरह से अपने मन में अलग नहीं कर सका हूं। कहीं न कहीं वह एक हो जाती हैं। इसमें बाद मे चल के यह जो सर्रियलिस्ट पेंटर्स आते हैं, ये आते हैं हमारे यहां, मेरे दिमाग़ पर छा जाते हैं। सर्रियलिस्ट पोएट आते हैं। वह हर्बर्ट रीड का जो सर्रियलिस्ट संग्रह है, उसमें पचासों जो प्लेट्स हैं, वे न मालूम कितनी बार दिमाग से गुजरी होंगी, घूमी होंगी, बसी होंगी दिमाग मे। फिर इसमें कई और चीज़ें। पिकासो का मेरे पास पूरा एलबम है, या सेजान का क्यूबिज़्म है। वह मैंने घंटों, और बहुत दिनो-दिनों तक, सामने देखी हैं, जैसे बातें की हैं मैंने। इससे पहले एक और चीज़ ज़मीर बन चुकी है। वह यह कि मेरी उदासीनता प्रकाशकों और के संपादकों के प्रति स्थायी हो जाती है। कारण यह है कि यह मेरी जो नयी शैली आती है यह फोर्टीज़ मे, ३८, ३९-४० मे शुरू हो जाती है। उसके लिए न कोई बाज़ार है, न प्रकाशक है, न संपादक। पहला, जिसने सचमुच दिल से इसको सराहा या महसूस किया है कि वास्तव मे मेरे दिल की कोई बात इसमे आ रही है, तो वह हमारे दोस्त हैं, जगदीश एम० ए०, जो ज्ञानपीठ मे हैं। इन्होने मेरी छोटी-छोटी कविताएं जो छोटे-छोटे शब्दों मे थीं—

नेमि : 'प्रदीप' मे छपीं ?

'प्रतीक' में छपी पहली बार—

नेमि : नहीं, 'प्रदीप' में छपी थीं क्या ? वह एक मैगजीन निकालते थे न—

हां, उसमें तो नहीं छपी थी। वे उन्होने देखी थी। वह पांडुलिपि मे देखी थी और उसके बाद हंस मे कुछ निकली। वह, 'यहां कहां कौन गिनो मुझी को'। इस तरह की चीज़ें निकली थी। एक-आध उन्होने भी नये संग्रह मे रखी हैं। उसमें एक-आध कविता जो पसंद भी लोगों को ज्यादा आयी वह दूसरे संग्रह मे भी हैं। 'धरो सिर/हृदय पर' लेकिन जरा-सा हट जाती है। अच्छा तो ये चीज़ें जो हैं, जहां छोटे-छोटे शब्द है, सरल हैं, भाव उसके पीछे कुछ ज्यादा गंभीर या गहरे हैं। लेकिन मैं बाध्य नहीं हूं कि मैं पूरी कथा किसी को बताऊं। संकेत हैं जिन्हें मैं समझता हूं, और जो पढ़कर समझ सकता है वह भी उनको कैच कर लेगा। जैसे हमारे जगदीश और या मसलन मैं समझता

हूं जैसे वात्स्यायन वाद में, फिर चूंकि मैंने कहा न, ग़ालिब का शेर है जो मुझे बहुत पसंद है, सम हाऊ, 'बिक जाते हैं हम आप मताए सुख़न के साथ। लेकिन अयाफ़तवा ख़रीदार भी है।' यानी जो एक सूझ-समझ, पहचान-परख रखने वाला ख़रीदार होता है, उसके साथ अपनी कला के साथ स्वयं भी बिक जाते हैं। यह उदासीनता प्रकाशकों, संपादकों की तरफ़ से पैदा होते-होते अंत में यहां तक आयी कि मैं केवल अपने लिए ही जैसे लिखने लगा। तो मैंने जो ये पेंटिंग के स्टाइल थे, सुर्रियलिज्म के ऐब्सट्रैक्ट के, वे, मैंने शब्दों मे उनका प्रयोग शुरू कर दिया था। तो अक्सर यह हुआ कि कोई भाव उठाया, एकदम शब्द नहीं मिले मुझे।

नेमि : क्या हम यह कह सकते हैं कि आपका पहला जो काव्य-आदर्श है, हाली वाला, जिसका आपने ज़िक्र किया, या कि जिसके सिलसिले में आपने ग़ालिब का तथा अन्य लोगों का नाम लिया, यह काव्यादर्श, और यह जो चित्र की भाषा का शब्दों में इस्तेमाल करने का आदर्श है, इन दोनों में कोई अंर्तविरोध है? या कि दोनों एक जगह कहीं मिल सकते हैं? या कि ये दो अलग-अलग आदर्श हैं? जिन दोनों के सहारे कविता हो सकती है और बहुत मार्मिक और गहरी कविता हो सकती है, पर दोनों काव्यादर्श के रूप में अलग-अलग हैं, आपका क्या ख़याल है?

मेरे यहां ये मिल गये है। मैं बताता हूं किस तरह से मिल गये है। मसलन, वह है जैसे, 'ये लहरें घेर लेती है।' आप कहेंगे कि 'लहरें' घेर लेती हैं इसमें केवल रेखाचित्र है। रेखांकन है। लेकिन अब देखिए, शब्द और लहजा जो है वह इनका बोलचाल का है। हम कहेंगे कि 'मैं तूफ़ान से घिर गया हूं।' अब मैं कहता हूं 'ये लहरें घेर लेती है।' मैं कांक्रीट बातें नहीं कह रहा हूं कि कौन-सी, आर्थिक समस्याओं की लहरें, या तूफ़ान या मेरे प्रेम की समस्याओं की लहरें या मेरे और कोई मेरे जीव की कोई समस्याओं की। सबको समेट के हमने एक साधारणीकरण किया उसका कि ये लहरें हमें घेर लेती हैं। अब मैं रिपीट करता हूं, 'ये लहरें घेर लेती हैं।' इसके बाद डॉट-डॉट है, यानी इट कन्टीन्यूज—लहरें मुझे घेर लेती हैं, लहरें घेर लेती हैं। यह तो गोया लहजा, पूरी कविता मे जो शब्द आये हैं उनका लहजा, बोलचाल का है। 'उभर कर अर्ध-द्वितीया डूब जाती है'। 'अर्ध-द्वितीया' यह जो इतना टुकड़ा है, वह काव्य का है। अब मैं कहता हू कि यह चांद उभर के डूब जाता है, द्वितीया यहां काव्यात्मक है, इसलिए कि द्वितीया के साथ बहुत-से असोशियेशन्स जुड़े हुए है। द्वितीया के साथ हम कितनी ही कामनाएं करते है—दूज का चांद, या ईद

का चांद, समथिंग लाइक दैट। इसके साथ खुशी और एक भविष्य की, कोई भी प्राप्ति की, लाभ की हमें एक किरण दिखाई देती है।

नेमि : द्वितीया का एक दूसरा असोसिएशन भी तो है। तो वह भी शायद एक···

तो वह भी शायद परोक्ष—

नेमि : 'दूसरी पत्नी, दूसरी प्रेमिका'। वात्स्यायन की कविता है।

कई संदर्भ इसमें है। 'उभर कर अर्ध-द्वितीया टूट जाती है।' कोई चीज़ उभरती है और टूट जाती है। लहरें है, लहरों पर, क्षितिज पर कोई चीज़ उभर रही है, टूट जाती है।

मलयज : ये भाषा का आदर्श आपने जो रखा है, उसको लेते हुए भी आपने जो कविता लिखी है, उससे तो वह आदर्श दूर हो जाता है। उस आदर्श के पास भी नहीं फटकते आप। चूंकि वह कविता का पूरा प्रभाव इतना अधिक संश्लिष्ट और दुरूह और जटिल-सा हो जाता है अनुभव के कारण, कि वह जो आदर्श आपका, भाषा का है वह इसमें फिट ही नहीं होता।

नेमि : मतलब भाषा सरल है, उसमें शब्द कठिन नहीं हैं, पर वे जो व्यंजना कर रहे हैं वह तो बिल्कुल आम बोलचाल की भाषा में व्यंजित होने वाला नहीं है। ग़ालिब के शेर का जो आपने उदाहरण दिया, उसमें तो जो बोलचाल से समझा जाने वाला अर्थ है, वह है, और उसके अतिरिक्त और बहुत-सा है जो व्यंजित होता है। पर आपका क्या खयाल है आपकी जो कविता आपने अभी पढ़ी उसमें—

हां उसमे शायद वह दुरूहता भी है। लेकिन एक बात मैं यह सोचता हूं कि मेरे *ईडियम* से परिचित होने पर मेरे *अपने निजी मुहावरे* से परिचित होने के बाद इतनी कठिनाई फिर महसूस नही होगी।

मलयज : मेरा ख़याल है कि भाषा की बात आपकी समस्या नहीं, बल्कि यह अपने काव्य की ही खोज—काव्य-प्रक्रिया को अधिक पारदर्शी बनाने के लिए—

इसमें होता क्या है, मैं बताता हूं आपको। दो बातें होती हैं। प्रायः जितनी कविताएं इस तरह की हैं न, पलैश मे ही लिखी गयी हैं। कम कविताएं हैं

अपेक्षाकृत कि जिनको मैंने, यों कहिए कि जिनके लिए, भाषा के साथ संघर्ष करना पड़ा है, या किया है मैंने। वह अपनी ही भाषा अपने ढंग से लेकर आयेंगी और दे विल कम इन ए फ़्लैश। वे लंबी हों, या टूटी हुई या बिखरी हुई हों। सब एक रौ में, जैसे कोई डायरी लिखता है। जैसे—'यह नीला दरिया बरस रहा है' एक रौ में लिखी हुई है।

मलयज : ऐसे मौक़े पर जो आपकी भाषा का आदर्श है वह कहां काम आता है ?

जिनमें मैं भाषा के साथ संघर्ष करता हूं, वे इस तरह की कविताएं हैं जैसे कि 'प्रेम की पाती वसंता के नाम' जो सीधी-सादी है।

नेमि : ऐसी कविताएं तो आपके पूरे काव्य में कम है।

बहुत कम है।

नेमि : आम तौर पर यह जो भाषा से एक दूसरा काम लेने की प्रवृत्ति है, दूसरा जो काव्यादर्श है,—जिसकी बात मैंने कही थी कि दो अलग-अलग हैं—वह जो दूसरा वाला आदर्श है, वही आपके काव्य में क्या ज्यादा नहीं दिखाई पड़ता ?

मैं कोशिश यही करता हूं कि उसको लेकर मैं उस सरलता पर आ जाऊं कि वह बोधगम्य भी हो अधिक लोगों को और वह मेरी अनुभूतियों की जो विशिष्टता है वह भी क़ायम रहे उसके साथ-साथ।

नेमि : अच्छा इस संदर्भ में एक सवाल और। जिनको आप जनवादी भावनाओं वाली कविताएं कहते हैं, जिनका आपने जिक्र भी किया कि उनके बारे में संपादकों की और पाठकों की राय क्या होगी यह आपको पता नहीं होता, और संग्रह में वे रखी जाएं या न रखी जाएं इसके बारे में आप आशंकित रहते हैं—तो उन कविताओं के बारे में अपने इस काव्यादर्श के हिसाब से आप क्या सोचते हैं।

मैंने अकसर यह सोचा है कि बहुत छोटा-सा, लिमिटेड संख्या में, एक एडिशन ऐसी कविताओं का निकालें कि पचास प्रतियां तो नहीं पर पांच सौ या ढाई सौ प्रतियां हों—चाहे वह साइक्लोस्टाइल ही करके, चाहे वह हाथ से लिखवा लें। मलयज से लिखवा लें उनको। इनकी हैंडराइटिंग बहुत अच्छी है। लीथो के लिए जो बहुत अच्छे कागज भी आते हैं, क्वालिटी पेपर (उन पर बहुत अच्छा

प्रिंटिंग लेखों का भी हो सकता है। तो वह हम गिनी हुई पाच सौ प्रतियां उस तरह की कविताओं की छपायें।

नेमि : आप बड़ी दिलचस्प बात कह रहे हैं कि जो कविताएं जनवादी हैं उनका आप बहुत सीमित संस्करण निकालना चाहते हैं। नही, जनवादी नही, वह जो विशिष्ट अपनी अनुभूति की जो दुरूह-सी हो जाती है—

नेमि : उनकी बात कह रहे हैं ?

मलयज : वैसी कविताएं तो आपके हर संग्रह में मौजूद हैं।

नेमि : मौजूद ही हैं। सारे संग्रह आपकी ऐसी कविताओं से भरे हैं। नहीं, मैं उनकी जनवादी कविताओं की बात कह रहा हूं। उनके बारे में आप क्या सोचते हैं ?

भाई, उनके बारे मे तो साफ है कि एक दूसरा सग्रह जो मेरा है वह उन्ही कविताओं का आयेगा। 'बात बोलेगी' इस नाम से। उसमे वही, जनवादी कह लीजिए या वे सोशल इम्पैक्ट की कविताए···

नेमि : जनवादी शब्द का इस्तेमाल आपने किया था इसीलिए मैंने उसको दोहराया, मैं खुद उस शब्द से बहुत—

लेकिन उसमे यही है कि काव्यगत होना आवश्यक है, आवश्यकक ही नही, बल्कि काव्यात्मक अनुभूति के स्तर पर ही उनकी रचना हुई हो। उसमे एक कविता है जिसके बारे मे विभिन्न रायें हैं। पर मै समझता हू कि काव्यात्मक या काव्य स्तर पर वह सफल कविता है मेरी। यानी बहुत ऊंचे स्तर की न हो, मामूली हो, लेकिन वह है सफल कविता।

नेमि : आपके नये संग्रह मे जगत जी ने भी वैसी कविताएं शामिल नहीं कीं। आप कहते हैं, आप खुद चुनते तो ज़रूर रखते।

बात यह है, मैने उन पर छोड़ दिया। एक दफा जब उन पर छोड दिया तो तमाम उन्ही पर मैने छोडा। उसमे मेरा कोई दखल देने का—

नेमि : जगत जी खुद तो एक जनवादी या कि प्रगतिशील रुझान वाले व्यक्ति हैं। आप क्या सोचते हैं, क्या कारण होगा कि उन्होंने ऐसी कविताएं नहीं चुनीं ?

नहीं, इसमें कुछ तो रखी है उन्होने, जैसे, 'भाषा' है या वह—

नेमि : शांति के लिए—

मलयज : 'भाषा' तो जनवादी ढंग की कविता नहीं है आपकी। 'भाषा' तो आपके और भी संग्रह में आ चुकी है।

'उर्दू-हिंदी' या, 'त्रिलोचन को' है। या कुछ उन्होने रख ली है इस तरह की, दो-चार। मेरा खयाल है उनको उस तरह की रचनाए बहुत साहित्यिक दृष्टि से अच्छी न लगती होंगी। यह भी हो सकता है। या यह भी है कि शायद—हम नही जानते कि क्यों नही रखी उन्होंने, मैं कह नही सकता कि क्यों नही रखी। या शायद कविता की दृष्टि से सबसे अच्छी यही चीज़ें हैं। बहुत से लोग उन कविताओं को मेरी कमज़ोर कविताएं ही मानते हैं। होते-होते मैं भी यही मानने लग गया हूं। तो इसलिए वैसी कविताए लिखने की मेरी इच्छा भी कम हो गयी है। और मैं समझता हूं कि यह प्रगतिशीलों के लिए या प्रगतिशील आलोचकों को सतोष देना मेरे बस के बाहर की बात—

मलयज : नहीं, इसमें दो-एक कविताएं आपकी बहुत अच्छी हैं। जैसे कि सुभद्राकुमारी चौहान वाली कविता। वह आपकी इस ढंग की कविताओं में सबसे अच्छी है।

जैसे अमन का राग को—

नेमि : 'अमन का राग' तो आपकी बहुत प्रसिद्ध और मशहूर कविता है। वह ग्वालियर की फ़ाईरिंग के ऊपर भी जो कविता है वह भी बहुत प्रसिद्ध कविता है।

मलयज : नहीं, उसके अलावा ऐसी कविताएं, वह एक चित्र है जिसमें मध्य वर्ग का चित्र है। एक कविता वह भी है।

कई कविताएं है मेरी मध्य वर्ग को लेकर तो।

मलयज : वह उस तरह की ठेठ जनवादी नहीं है, लेकिन एक बिल्कुल निम्नवर्ग का पूरा एक अनुभूतिमय चित्र है वह कविता आपकी।

नेमि : नहीं, असल में 'जनवादी' शब्द कुछ तकलीफ़ पैदा करता है, भ्रामक है। एक अधिक सामान्य अनुभूति या अनुभव से सामाजिक

परिवेश जिसमें थोड़ा-सा जुड़ा हुआ है ऐसी कविताएं हैं। और कुछ ऐसी हैं जिनमें अधिक व्यक्तिगत अनुभूति और व्यक्तिगत परिवेश जुड़ा हुआ है। यह अन्तर तो किया जा सकता है। पर जनवादी कहने से ऐसा कुछ—

नहीं, जनवादी पर कोई आग्रह नहीं मुझे। वह तो काम चलाने के लिए कोई भी शब्द दे सकते हैं। अब इसी मे जो उन्होंने दी है, एक वह, बिल्कुल पार्टी—

मजयज : जैसे वह 'वाम-वाम' वाली कविता। इसी मे है वह।

मलयज : राजनीतिक टच इसमें भी है, पर उस ढंग से वह सामान्य अनुभव और सामान्य परिवेश की कविता तो नहीं है। उससे थोड़ी अलग हो जाती है वह। उसमें एक डेफ़िनिट राजनीतिक रुझान व्यक्त होता है।

नेमि : राजनीतिक रुझान व्यक्त होकर भी वह एक बड़े परिवेश के मसले को छूती है, यह तो हो ही सकता है न! क्योंकि एक निजी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया किसी बाहरी घटना के प्रति या बाहरी परिस्थिति के प्रति, वह ऐसी हो सकती है कि जिसमें दूसरे तमाम लोग भी साझीदार बन सकते हैं।

मलयज : मेरे खयाल से इस तरह की शमशेर जी की कविताएं ज्यादा सफल नहीं हैं। जैसे 'हरा सेब' वाली कविता है। तो देखिए, उसमें एक तरह का अपने से बाहर आ करके एक अजीब— उसमें एक कविता है थिंग। 'थिंग' यानी चीज़। वह कैसी लगी आपको?

नेमि : कोई विशेष प्रतिक्रिया मेरी नहीं है अभी।

मलयज : मुझे अच्छी लगी। वह तो 'थिंग' वाली, अच्छी लगी। यानी कौतुक से अधिक है या कौतुक से—

मलयज : नहीं, कौतुक से अधिक है। अच्छी कविता है वह।

नेमि : मैं बहुत निश्चित रूप से उसके प्रति रिएक्ट नहीं कर पाया

हूं। पर एक और बात। अभी आपके आने के पहले हम यह बात कह रहे थे तो एक प्रतिक्रिया हुई मन में। आपके ये तीन संग्रह हैं। आम तौर पर कवियों की जिन्दगी में ऐसा होता है कि कोई एक जैसे स्टेज होता है, फ़ेज होता है कि इस तरह की कविताएं लिखी जा रही हैं। और फिर अब दूसरा एक फ़ेज यह है। पर हम लोगों को यह मालूम हुआ, कम से कम इन संग्रहों से तो ऐसा कुछ प्रभाव पड़ता है मन पर कि कई एक अनुभवों के जो अलग-अलग क्षेत्र हैं उन तक आपका मन जाता है, उनको आप अभिव्यक्त करते हैं और वे क्षेत्र आपके हर संग्रह में अभिव्यक्त होते दिखायी पड़ते हैं। यानी किसी एक अनुभव-क्षेत्र तक या कि किसी एक टेकनीक तक या किसी भाषाई प्रयोग तक, किसी एक दौर में आप उसी से उलझे हुए हैं ऐसा नहीं है। उन सारे सरोकारों से शुरू से ही जैसे आपका उलझाव है, जो लगातार रहा है। इस माने में कोई, जिसे कह सकते हैं, कोई डेवलपमेन्ट है या विकास है ऐसा—

मलयज : एक फ़र्क मुझको लेकिन लग रहा है। जैसे कि जो सामाजिक परिवेश वाली कविताएं इनकी बहुत पहले की हैं, उनमें हमको लगता है कि एक आत्म-व्यंग्य और आयरनी वाला टोन ज्यादा है। लेकिन इधर की जो कविताएं हैं, खास करके 'भाषा' वाली कविता है, इसमें बाहर के प्रति चिढ ज्यादा है। चिढ़ और आक्रोश का तत्त्व कुछ ज्यादा है। और उस तरह के अपना-अपना मिलाजुला, अपने को मिलाकर व्यंग्य करने की बात अब कम हुई है इधर कुछ।

नेमि : आपका क्या खयाल है, आपको क्या प्रतिक्रिया है इस बारे में ?

मलयज : जैसे यह, 'ईश्वर, अगर मैंने अरबी में प्रार्थना की' वाली कविता है। इस तरह की कविता पहले नहीं लिखी गयी है। हमारे सामाजिक परिवेश की कविता भी है। लेकिन उसमें अपने को मिला करके, शामिल करके, और कोई दुख और दर्द और कुछ एक अजीब मिला-जुला—

एक कविता है जो ३९ की है। 'संकेतन की व्यापक'—उसमे एक व्यग्य है, चिढ है।

नेमि : मेरा ख़याल है कि आपकी पुरानी कविताओं में भी कुछ ऐसी मिल जाएंगी जिनमें भी यह हल्का-सा व्यंग्य का भाव मौजूद है।

यह चीज, ३६ से शुरू होती है यह। वह जैसे 'गजेन्द्र पाल सिंह एक दोस्त थे'। उसमे भी वह है कि मैं समाजवादी ही बनूंगा यह 'उच्छृंखल' के ज़माने की जब नरोत्तम नागर थे। उसमे छपी भी थी।

नेमि : नहीं, यह जो बात हम लोगों ने की—

हां, हा, विभिन्न टेकनीकों मे विभिन्न प्रकारों मे मेरी बहुत गहरी दिलचस्पी रही है। ऐट द सेम टाइम, यानी विभिन्न बिल्कुल विरोधी टेकनीकों मे, बल्कि उनमे भी जिन पर पहले मैं हसा नही करता था, लेकिन जो मुझे खोखले मालूम होते थे। जैसे हमारे बहुत ही आदरणीय दिवगत कवि, महाकवि मैथिलीशरण गुप्त। बाद मे आ के उनके लिए मेरे दिल मे बहुत रेस्पेक्ट बढ गयी। एक तरफ वह, दूसरी तरफ़ निराला, जो विल्कुल उनके अपोजिट हैं। इसी तरह से मान लीजिए एज़रा पाउंड, जो एकदम दूसरी तकनीक लाता है, दूसरा अप्रोच है। और इनका बिल्कुल क्लैपट्रैप है। यानी हाली जैसा कवि जिसको सामने रखकर उन्होंने कविता लिखी, हाली इतना रिफाइंड है। अपनी सादगी मे, इतना इफेक्टिव है, पावरफुल है कि वह रुला देता है, यानी हृदय भर आता है और उसको सामने रख के भी यह(मैथिलीशरण गुप्त) सीख नही सके। यह बात सोचने की है। कारण इसका वही है, सांप्रदायिक। दिमाग मे यही था कि उन्होने हिन्दुओं को सबोधित किया। इन्होने मुसलमानों को किया तो हम हिंदुओ को करें। उन्होने मुसलमानो को जगाया, हम इन्हें जगाएं। *हाली जब मुसलमानों को जगा रहा है तो उसके मन मे कोई तास्सुब नहीं है।* बहुत बडी पूरी दुनिया देखकर वह नक़्शा खीचता है। उसमें कहता है, 'तुम पिछड गए हो, तुम भी आगे आओ। तमाम दुनिया तरक्की कर रही है।' सो ऑन। यानी उस पोएम को पढने के बाद जो तास्सुब बढता है, *यह उससे ताल्लुक़ रखता है।*

नेमि : अच्छा, यह बताइए। यह 'दिल भर आना' कविता पढ़कर, क्या आप कवि का या कविता का एक मकसद मानेंगे ?

नही, मकसद नही। कुछ कविताएं, कुछ कविताए ऐसी है, मसलन वह कहता है—कई कविता ऐसी हैं जो दुखियारो पर लिखी हैं उसने—

नेमि : नहीं, उस कवि की बात नहीं कह रहा हूं। पर बात निकली

इसलिए पूछा मैंने कि आप कविता के लिए—

मैं आपसे बताता हूं। कविता के लिए कोई जरूरी हो या न हो, यह कोई जरूरी नहीं है। ए क्लास ऑव् पोएट्री इज़ देयर ह्विच डज़ इफेक्ट टु दैट—

नेमि : तो उसको कविता की दृष्टि से, कविता के रूप में, आप किस तरह से उसका मूल्यांकन करते हैं।

मेरे लिए बडा मुश्किल है कहना, क्योंकि मुझे एकदम वे जो राधा के विरह की कविताएं हैं, सूर की या रत्नाकर की, वे याद आ जाती है। उनको बगैर प्रभावित हुए पढना मुश्किल है। या हनीफ़ के—

नेमि : नहीं, बहुत से लोग हैं जो कहते हैं कि जिस कविता में यह गुण हो, या यह खासियत इस तरह की हो, यह उतनी अच्छे दर्जे की कविता नहीं है। तो आपकी इस बारे में क्या राय होगी?

ऐसा है कि जिसमे यह खासियत हो, मगर सिर्फ यही खासियत नही हो। मतलब यह खासियत अच्छे कला-पारखियो या अच्छी कला, बहुत ऊचे स्तर की कला मे रुचि रखने वालों को जो प्रभावित करे उस ढंग की। यही नही, बहुत-से स्तर ऐसे आते है पुराने क्लैसिक्स के, जो हमे हिला देते है। किस तरह हिलाते हैं, यह कम्प्लेक्स बात है। सिर्फ दिल भर आता है, केवल यही नही होता। उसमे बहुत-सी बातें भर आती है। हमारी चेतना को कई तरह से वह जागृत करते हैं। बहुत सेन्सिटिव तरीके से यह हमको मिलते है। वी सी मोर दैन जस्ट—टीयर्स कम आउट नौट ओनली बिकोज ऑव् अवर सिम्पैथी फौर राधा, बट इट इज यूनिवर्सल टाइप ऑव् एक्सपीरियेन्स इन ह्विच वी आर औलसो इनवौल्व्ड। इट इज़ ए वेरी कम्प्लेक्स सिचुएशन। वहा पर यह सीधी-सादी नही है। दिल यों ही नही भर आता सभी का प्रायः, यानी पढने वालों का, क्यों दिल भर आता है? इन एज मे भी इट इज़ समथिंग—

नेमि : कम्प्लेक्सिटी को हम क्या थोड़ा और परिभाषित कर सकते हैं?

या तो हम यह मान सकते हैं कि हमारी यह जो है—डिफिकल्ट फॉर मी टु एनैलाइज़। बट ऐनी वे, इट रिमेन्स ए फैक्ट।

नेमि : नहीं, मैं यह कहता हूं कि दिल भर आने के साथ-साथ यह

जो कम्प्लेक्सिटी क्लासिक रचनाओं में होती है—क्या है यह कम्प्लेक्सिटी। उसको थोड़ा-सा और डिफ़ाइन किया जा सकता है ?

मेरा ख़याल है कि ह्यू मन सफरिंग या ह्यू मन ट्रैजेडी, ह्यू मन लाइफ़ की जो—सफ़रिंग ही कहेंगे उसको—कोई और लफ़्ज़ मिलता नहीं है—सफरिंग इटसेल्फ इज़ ए वेरी कम्प्लेक्स थिंग। उसको इतनी गहराई तक वह नापता है और उसको वहां लिफ्ट करता है कि मसलन रामचरितमानस में जो शिव और उमा का प्रसंग है। वह बहुत गहराई तक द्रवित करता है। बहुत गहराई तक। उमा की, तुलसी ने जिस तरह उसको व्यक्त किया है, उमा की ट्रैजेडी। फ्रौम द मोमेन्ट शिव सम्पर्क उससे अलग कर लेते हैं बगैर बताये, वहां से ट्रैजेडी शुरू हो जाती है। पूरा का पूरा बहुत दर्दनाक है। राम की ट्रैजेडी की समझ जो उन्होंने शौर्ट में, ब्रीफ में, वह एक अजब तरह की चीज़ रखी है कि दिल भर आता है। कैसे भर आता है, इट इज़ नॉट ए सिम्पल थिंग। मैंने थोड़ा-सा ही अनुवाद में कालिदास पढ़ा है जहां उमा की प्रतिक्रिया होती है। छोटे-छोटे वर्णनों में बहुत ही कम्प्रेस्ड वर्णनों में, वह एक ह्यू मन एलिमेन्ट को छूता है, जो यूनिवर्सल भी है। पर्टीकुलर भी है, जो हमें भी छूते हैं और क्लासिक भी हैं !

मलयज : भाषा के रचाव की बात आप अक्सर करते हैं।

रचाव नहीं बल्कि नैसर्गिक। नैसर्गिक भाषा जिसके पीछे भारतभूषण भी थे—

नेमि : एक बात। भाषा की बात उठ ही गयी तो मुक्तिबोध की भाषा के बारे में आपकी क्या राय है ?

उनकी जीनियस, उनकी दूसरी क्वालिटी, को न भूलें—परिमाण में—

नेमि : जीनियस की बात अलग है पर भाषा—

हां, भाषा के बारे में काफी शिकायत है उनसे।

नेमि : यानी उनकी भाषा जो है, भाषा की दृष्टि से कंपेयर अगर करें, उनकी और वात्स्यायन की भाषा को, तो क्या कहेंगे ? यह कहा न कि अर्जित की हुई भाषा है वात्स्यायन की।]

वेरी इंटरेस्टिंग, वेरी फ़ाइन, वेरी गुड प्वाइंट औन ह्विच टु थिंक, फौर एनी-

बडी । इसमे यह है कि यहां पर आकर हम निराला को भी देख सकते है इसी तरह से ।

नेमि : निराला को छोड़ दीजिए, मेरा ख़याल है। वह थोड़ा मुश्किल है, क्योंकि—क्योंकि निराला की भाषा अर्जित भाषा नहीं है ।

मलयज : वह इस कंवेंरिजन में नहीं बैठते ।

नेमि : वह इस कंवेंरिजन में नहीं आयेंगे ।

मलयज : उनकी भाषा परंपरा-प्राप्त कुछ है ।

यानी खड़ी बोली के लिए आदर्श नही है वह, खडी बोली भाषा की दृष्टि से ।

नेमि : निराला ?

हां, निराला ।

नेमि : वह एक अलग सवाल है ।

और उसी तरह से मुक्तिबोध भी खड़ी बोली भाषा की दृष्टि से आदर्श नही है । और वात्स्यायन को भी भाषा की दृष्टि से आदर्श नही मानूगा ।

नेमि : एक दूसरा सवाल भाषा पर ही । एक तो यह हुआ कि उसमें—

मुझे अब संकोच यह महसूस हो रहा है कि वात्स्यायन के लिए बहुत गहरा आदर है मेरे मन में ।

नेमि : नहीं, मैं दूसरी बात कह रहा हूं । यह एक बात हुई कि अनुभूति का जो अंश है वह इतना भारी होता है मुक्तिबोध में कि उनकी भाषाई या जो दूसरी चीजें हैं वे—

भाषा के स्तर पर भी उन्होंने इमेज—भाषा को इमेज और मेटाफर के लेविल पर वह औरों से बहुत आगे ले गये । सिर्फ मुहावरे और बोलचाल—ये दो कमजोर है । लेकिन मुहावरे-बोलचाल भी—जैसे ग़ालिब के यहां, ग़ालिब भाषा के लिए आदर्श नहीं है, सनद के लिए ग़ालिब को लोग नहीं कोट करेंगे, सनद के लिए । वहां दाग सनद है, जौक सनद है, दूसरे कवि सनद हैं ।

टकसाल हैं वे, भाषा की टकसाल पर परखेंगे वहां पर ले जाकर दाग के यहां। इस तरह से भाषा में हम मुक्तिबोध के यहां नहीं परखेंगे। हिंदी में अभी कोई नहीं है जिसके यहां परखेंगे।

नेमि : नहीं, एक दूसरा सवाल जो मेरे मन में हमेशा उठता है, कि क्या हमारे मन में जिसको हम खड़ी बोली कहते हैं, जो पूरे क्षेत्र की भाषा है, इसका कोई एक फिक्स्ड ढांचा तो नहीं बन गया है ? क्या खड़ी बोली का कोई ऐसा सांचा मौजूद है जिसके आधार पर आप इस भाषा को, इनकी भाषा को, कहेंगे कि सनद नहीं है। कौन सी भाषा हिंदी के संदर्भ में, यानी संदर्भ—

नहीं, यह दूसरी एकदम नयी बहस है।

नेमि : काव्य के संदर्भ में यह एक बहुत महत्त्व का प्रश्न है। अगर हम कोई ऐसे एब्सट्रैक्ट फ्रेम की तलाश करते हैं भाषा के मामले में, आज भी हिंदी कविता में, या आज के हिंदी गद्य में, तो क्या हम उस जिंदा भाषा के साथ पूरा न्याय कर रहे हैं ? यह सवाल मन में उठता है। मतलब आज की हिंदी की काव्य-भाषा क्या होगी, यह कैसे बनेगी, उसका क्या रूप होगा, यह सवाल है। पहले से कोई ढांचा मौजूद है जिसका एप्रौक्सीमेशन जरूरी है या वह बन रही है ?

मेरे पास इसका अपने लिए, मैं अपने लिए ही कह सकूंगा, क्योंकि मेरे अपने लिए तो इसका जवाब मौजूद है। और उसका जवाब यह है कि 'प्रेम की पाती घर के बसता के नाम'—इसमें एक प्रयोग है, यह मेरा एक कौन्शस प्रयोग है। यानी वह छंदोबद्ध है और सीधे-सीधे खड़ी बोली की है। सुनिए—पूरी कविता (कौन के प्रीतम कौन की पाती—) आई वुड एटेम्प्ट टु राइट पोएट्री इन दिस स्ट्रेनटेकिंग लैंग्वेज फ़ौर्म, द कौमन स्पोकेन फौर्म ऐंड पुट इट टु यूज़।

नेमि : आप इसे यूज़ करेंगे, यानी यह तो एक प्रयास हुआ कि इस भाषा को भी कैप्चर किया जाय, उसकी जो काव्यात्मक क्षमता है उसका अन्वेषण किया जाय।

मलयज : नहीं, इस तरह की फ़ोक लैंग्वेज जो है, जो इसमें उठायी गयी है, इस तरह की एक कविता तो आपकी पहले भी है—'निंदिया सतावे मोहे'। वह प्योरली फ़ोक है।

नेमि : मैं आपसे यह कह रहा हूं कि जिस कम्प्लेक्स एक्सपीरिएन्स का आपकी अपनी कविता में बार-बार इजहार है, अभिव्यक्ति है, आप समझते हैं, उसको आप इस काव्य-भाषा में अभिव्यक्त कर सकते हैं ? यह एक सवाल है।

करना चाहिए।

नेमि : नहीं, चाहिए तो ठीक। पर एक प्रैक्टिसिंग पोएट के रूप में आप यह बताइए कि क्या आपकी जो दूसरी-दूसरी तमाम कविताएं हैं, इस संग्रह में से भी जिनका जिक्र किया जा सकता है, और-और तमाम आपकी कविताएं हैं, क्या आप उस अनुभव को या तो यह कहें कि वह अनुभव प्रासंगिक नहीं है, उसका काव्य में अभिव्यक्त होना जरूरी ही नहीं है, या तो आप यह कहें। अगर आप यह नहीं कहेंगे तो क्या आप इस तरह की भाषा में उसको व्यक्त कर सकते हैं ? यह मेरे मन में एक सवाल उठता है भाषा को लेकर। एक और सवाल उठता है—

कोई इसका कटा-छंटा जवाब तो नहीं है। पर इसकी सूरत मेरे लिए यह है कि मैं किस दिशा में जाने की कोशिश कर रहा हूं इस संदर्भ में—

नेमि : भाषा के इस सवाल को फिर से देखें। भाषा आप चाहते है कि ऐसी हो, इस तरह की। पर मैं जो आपसे पूछ रहा हूं कि क्या आप उस अनुभव को भी छोड़ देना चाहते हैं या नहीं छोड़ देना चाहते ? नहीं छोड़ देना चाहते हैं तो आपकी अभी क्या राय है ? यानी आप इतने लंबे अर्से से कविता लिखते हैं, तो आपकी क्या राय है कि क्या उस अनुभव को, आपको लगता है, कि इस तरह की भाषा में व्यक्त किया जा सकता है ? यानी 'माडल और आर्टिस्ट' वाली कविता को ही लीजिए। क्या आप समझते हैं कि इस भाषा में—

मलयज : नहीं, यहां शमशेरजी का आग्रह यह है कि उस अनुभव की प्रकृति को ही बदल दिया जाए।

नेमि : नहीं, ये यह नहीं कह रहे हैं।

इस बारे में मैं खुद ही बहुत क्लीअर नहीं हूं।

मलयज : ये कहें नहीं, पर यह बात इस कविता से कम से कम

जाहिर होती है कि भिन्न प्रकार की अनुभव की भूमि पर आप आना चाहते हैं और वहां उसके साथ जो फ़ोक संवेद है उसका इस्तेमाल करते हुए, अधिक वाह्योन्मुखी होकर कविता लिखना चाहते हैं।

नेमि : नहीं, मैं नहीं समझता कि शमशेरजी यह स्वीकार करते हैं।

मलयज : इनकी यह चेष्टा बराबर रही है, हमेशा आकर्षण रहा है—

नेमि : नहीं, बल्कि सब तरह की चेष्टा रही है।

इसमे मुझे एक बात याद आ रही है। यह जो समस्या है कि विशिष्ट अनुभूतियां या अनुभव उनको व्यक्त करने की भाषा, क्या उसमें जो सरलीकृत *भाषा जिसे कहना चाहिए, जिस पर कभी-कभी मैंने ज़ोर दिया, जिसे* शायद आप कहेंगे सरलीकृत भाषा, क्या इसके उपयुक्त है ? उन अभिव्यक्तियों के लिए क्या यह काम दे सकती है ? मेरा ख़याल है, यही प्रयोजन है इस सवाल का। तो इस सदर्भ मे मेरे दिमाग मे यह बात आयी है अभी कि शुरू मे ही, यानी अपने लगभग स्कूल डेज़ से ही, मैंने बहुत गहरी दिलचस्पी ली, एकदम एक दूसरे से भिन्न बल्कि विरोधी प्रकार के अभिव्यक्ति शिल्पो मे, और अभिव्यक्ति के कवियों मे। यही नही कि एक तरफ तो मुझे बहुत गहराई से आकर्षित करते रहे उर्दू के कवि। उर्दू कवियो मे न केवल गज़लगो शायर, बल्कि जो लम्बी नज़्मे और खास विषयों को उठाकर उन पर बहस करने वाली नज़्मे जैसे हाली ने या इकबाल ने या चकबस्त ने, या इन लोगों ने लिखी। तो उनका बहुत गहरा असर मेरे उस फ़ौर्मेटिव पीरियड पर रहा है। एक तरफ तो ये कवि थे जो कि सीधे-सीधे आब्जेक्टिव—खास करके हाली का, जो एक कहना चाहिए रिवोल्ट अगेन्स्ट टू मेडिवल होल्ड ऑव् द गज़ल, यह था। यह बहुत ही ट्रिमेन्डस इन्फ्लुएन्स, उर्दू पोएट्री मे भी उसका था और हाली ने मुझको इन्फ्लुएन्स किया। उनकी जैसे 'बरखा रुत' है और 'हुब्बेवतन' है, और इस तरह की कविताए है, तो वे इतनी सीधी और सरल भाषा मे और इतनी दिल को छूने वाली चीज़ें हैं। या उनका यह मुसद्दस है जिसमे उन्होंने मुस्लिम अवाम को संबोधित करते हुए उनकी समस्याएं उनके सामने रखी और उन्हें बड़े व्यापक परिप्रेक्ष्य मे उनके सामने रखा कि देखो, दुनिया कहां जा रही है और तुम कहा हो। तो ये सब चीजे। या इसके बाद इकबाल जब आते हैं और फिर समस्याओं को एक दूसरे स्टेज पर ला करके पेश करते हैं, तो वह कविता से ज्यादा उन समस्याओं पर—खास करके

शुरू की कविताओं में, यानी पहले-दूसरे दौर की भी कविताओं मे, इकबाल का जोर इस बात पर है कि ऐ हिंदुस्तान वालो, अगर तुम सभलोगे नही तो तुम खत्म हो जाओगे। तुम्हारी ताक़तें तुम्हारे खिलाफ साजिश कर रही है। 'तेरी बरबादियो के मशवरे हैं आसमानों में'। इसका मतलब यह है कि वेस्टर्न नेशन्स, खास करके ब्रिटिश, हिंदुस्तान की सियासत को, हिंदुस्तान की सोसाइटी को बरबाद करने के मशवरे उनके यहां है। और इस तरह की उनकी पेशीनगोइयां हैं जो वाकई इकबाल को गहराई से अध्ययन करें तो आज भी यह मालूम होगा कि कवि की जो पेशीनगोई होती है उसके इशारे उसके अंदर है। ये तमाम चीजें, यही नही बल्कि जैसे सब्जेक्टिव चीज़ो को भी व्यक्त करने के जो अदाज कुछ हाली के भी। क्योकि हाली ने गजल की रिवायत को तोड़ के एक बहुत ही ऑब्जेक्टिव और कुछ बहुत ही रियलिस्टिक ढंग मे हृदय की बातों को रखा अपनी गजलों मे। जो कि एक नयी रिवायत शुरू हो जाती है वहा और इकबाल ने भी गजल को एकदम नयी जमीन देकर उसमें फिलॉसोफिकल म्यूज़ियम और उसमे बहुत-से दूसरे व्यापक संदर्भों को समोया ग़ज़ल के अन्दर। इन सब चीज़ो का एक तरफ से तो यह असर। दूसरी तरफ एक असर इंगलिश के कवियों का, जो भी स्कूल डेज़ से हमारी पीढी मे, सभी के टेक्स्ट बुक्स में, मसलन टेनिसन, आम तौर पर रहता ही रहा। टेनिसन की कविताओं को ले करके शुरू की क्लासों से लेकर के 'ब्रुक' तथा दूसरी थीमैटिक पोएम्स और फिर जिसमें एक पोएटिक क्राफ्ट बहुत इम्पौर्टेन्ट है। आखिर तक 'मौडे आर्थर' वग़ैरह सब रहीं। इसका असर। फिर जो ऐंटीटेनिसोनियन या ऐंटीविक्टोरियन ट्रेंड आता है वह असर। इसके अलावा हिंदी के कवियों का असर। खास तौर से निराला का असर। और शुरू मे द्विवेदीकालीन कवियो मे श्रीधर पाठक। तो मेरा कहने का मतलब यह था कि जो विभिन्न प्रकार अभिव्यक्ति के थे, कुछ कौन्शसली, कुछ कविता मात्र से प्रेम होने के कारण, सभी तरह के। जो मुश्किल भी पडते थे उन्हें बडी मेहनत से, जैसे ब्राउनिंग बहुत मुश्किल लगता था लेकिन बेहद मेहनत करके मैं उसका ईडियम समझने के क़ाबिल हुआ। ब्राउनिंग के ड्रैमेटिक मोनोलोग्स ने बहुत इंट्रैस्ट मुझको किया। फिर टैगोर का इंफ्लुएन्स उस जमाने मे आता है। अच्छा कहने का मकसद मेरा यह है कि इससे यह हुआ कि कविता लिखते समय जैसी मन.स्थिति होती थी उसमे औटोमेटिकली इन तमाम तरह की अभिव्यक्तियों में से कोई न कोई एक अभिव्यक्ति का एक प्रकार मेरे आड़े आ जाता था।

नेमि : आप उसे आड़े आना क्यों कहते हैं? मैं यह नहीं समझ

पाता हूं। मैं समझता हूं कि कवि के अनुभव का जो पूरा रेन्ज है, अलग-अलग स्तरों पर, वह ज़िंदगी को जीना है, उससे कुछ ऐसा अनुभव प्राप्त करना है, जिसको यह व्यक्त करना चाहता है अपनी कविता में। वह एक ही तरह का तो होता नहीं। इसलिए भाषा जो है कविता की, वह एक ही तरह की, एक ही ढांचे की, सांचे की हो यह जरूरी नहीं है। हमारा सवाल असल में यही था कि क्या आप यह कहेंगे कि वह जो उस तरह की एक-डाइमेंशनल भाषा है बहुत-सी, जिसमें उतनी सादगी है, सीधा अभिव्यक्त करने की, कम्युनिकेट करने की क्षमता है ? तो एक दूसरा अनुभव स्तर है जिसमें दूसरी तरह की भाषा की जरूरत है।

हां, मेरी कोशिश एक यह भी रही है कि जिसे हम एक-डाइमेशनल भाषा कहते है या कहेंगे, और आम तौर पर वही होती है, उसमे एक ऐसा भी प्रकार होता है और हो सकता है जो बजाहिर एक-डाइमेशनल मालूम होते हुए भी उसके अन्दर उसके दूसरे डाइमेशन्स होते हैं मसलन जैसे तुलसीकृत रामायण में ऐसे है जो कई डाइमेंशन्स की तरफ जाते है। जैसे कि यह उमा और शिव के ब्याह का प्रसंग उसके अंदर है। वह मुझे मल्टी-डाइमेशनल स्टोरी लगती है जो कि बहुत ही सजेस्टिव है कई पहलुओ से। इस तरह की चीज़ें मैं समझता हूं शायद रूपक के ढग से या इमेज को ले करके। और सीधे-सादे तरह की कविताओं में भी जिसमे आम भाषा का फायदा उठाया गया हो, उसमे भी। वह चीज़ें एक्सप्रेस हो सकती है जो कम्प्लेक्स होती है। एक कोशिश मेरी थोड़ी-सी शायद कभी-कभी इस ढंग की भी हुई है कि भाषा हम लें सरल और कुछ जिसे कहते है जनवादी भी, लेकिन उसमें हम बात अपनी ऐसी जो कम्प्लेक्स होती है वह कह जाएं। बहुत ही मुश्किल है यह बात।

नेमि : नहीं, सवाल देखिए यह नहीं है कि ऐसी भाषा का इस्तेमाल करके कम्प्लेक्स बात कही नहीं जा सकती। सवाल यह है कि क्या एक ही तरह की भाषा को हम काव्य-भाषा का आदर्श बना लें ? यहीं से बात शुरू हुई थी। यानी जो बात मैंने कही थी वह यह है कि हिंदी की जो हमारी कविता है, या हिंदी की जो काव्य-भाषा है, वह निर्माण होने की, बनने की, प्रक्रिया में है। उसके सामने कोई एक बना हुआ सांचा नहीं है और अनुभव के अलग-अलग स्तरों से वह बन रही है।

जहां तक मेरा ख़याल है, नेमि जी, यह जो मार्क्सवाद कहिए या प्रगतिशील आंदोलन कहिए, इसका असर, प्रभाव, भी बहुत गहराई से जहां तक संभव था मेरे अंदर काम करता रहा। यह एक तरह की जिद तो नहीं कहूंगा लेकिन एक बड़ी उत्कट इच्छा मेरे अंदर रही कि मैं एक आम आदमी के अपने अभिव्यक्ति के लेवल पर अपनी कम्प्लेक्स बातें भी कह सकू, उसके टर्म्स मे। एक तरह का दोनों का सहयोग-सा स्थापित हो। भाषा या शैली कुछ भी उसकी मैं लूं, बात मैं अपनी रखूं, और अंदाज़ अपना—यानी अंदाज़ से मेरा मतलब है कि कोई बात मैं सैंश्रीफाइस करूं अपनी, इस सिलसिले मे। ऐसा मैं करूं। तो यह कोशिश कभी-कभी ज्यादा जोर पकड़ती रही और मैंने कोशिश की। मुश्किल था मेरे लिए लेकिन एक इन्फ्लुएन्स शायद उसका भी है। जो बैलेड का एक फ़ार्म भी है तो, मैं यह समझता हूं कि बैलेड में भी एक कम्प्लेक्स बात कही जा सकती है। और मैं इधर एक बात यह महसूस करता रहा हूं कि जितने भी एलीमेंट्स हैं काव्य के सृजन मे, उन एलीमेंट्स मे से एक एलीमेंट हमारा अपना कहिए, या एक सामान्य पाठक भी है, और उसके सृजन के कम्पोनेंट्स मे वह आता है। अगर कौंशसली लेकर हमारा सृजन होने लगे तो वह एनरिच करता है। हमारे एक्सप्रेशन को वह एनरिच करता है। आम तौर यह छूटता जाता रहा। मेरे यहां तो बहुत है वह। लेकिन अगर वह न छूटे और शामिल किया जाए जैसा कि मैं समझता हूं कि पुरानी ट्रेडिशनल कविता या उर्दू मे। मैं समझता हूं कि उसको बहुत अच्छी तरह हल किया ग़ालिब ने अपनी रचना में। उसके यहां वह साधारण आदमी का स्वर, उसका लहजा भी बोलता है, ग़ालिब की अपनी जो कम्प्लेक्स अनुभूतियां हैं वह भी उसमें व्यक्त होती हैं। और एक ऐसा समन्वय है अद्‌भुत जिसमें कि ये चीज़ें। हम यह भी कह सकते हैं, कि शेक्सपीयर के प्लेज़ में उसके एक्सप्रेशन में भी यह बात हमारे सामने आती है, बड़े अच्छे उदाहरण के रूप में कि कैसे यह बात संभव हो सकती है। तो ये चीज़ें मुझे अपनी तरफ़ खीचती रही हैं। मै इसमें सफल नही हुआ हूं यह बात मै मानता हूं। यह स्पष्ट भी है मेरे लिए।

नेमि : अच्छा इस भाषा के सवाल से हम अब इस बात पर भी कुछ विचार कर सकते हैं कि आज जो कविता लिखी जा रही है, नौजवान कवि जिस तरह की भाषा की तलाश कर रहे हैं, और उसका इस्तेमाल कर रहे हैं, वह आपको अपने संस्कार के आधार पर या कि अपनी रुचि के आधार पर या कि अपने काव्यादर्श के आधार पर कैसी लगती है? भाषा भी और उस पूरे काव्य के

बारे में आपकी क्या प्रतिक्रिया है आज ?

यह स्थिति मेरे लिए बड़ी असमंजस की है, इसको व्यक्त करना ।

नेमि वह तो है ही है, हमारे आपके जेनरेशन के लोगों के लिए असमंजस की ।

बहुत असमजस की है क्योंकि इसमें—मैं समझता हूं कि मेरे असमजस को मलयज समझ सकते हैं । कई इधर के कवि साहित्यकार आसानी से इसको समझ न सकेंगे मेरे इस असमजस को । चूंकि मलयज जो मेरे साथ रहे है । और वह मेरे करीब भी रहे है तो मेरे असमंजस को वह शायद काफी हद तक समझ सकते हैं । इसमे कई विरोधी, एक-दूसरे की विरोधी बातें रही है मेरे अंदर, यह अजब बात है । इसमे मेरे सस्कार का दोष भी है । संस्कार मेरे, जो पहले गहरे सस्कार है मेरे अदर, वह उर्दू के और उस भाषा के हैं । और कविता के लिए भाषा मेरे लिए एक आदर्श रूप ले उठती है और उसमे मुहावरा, लहजा और उसकी शुद्धता—ये मेरे लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण हो उठती हैं । इधर कविता, हिंदी कविता का जो विकास हुआ है और आम तौर पर पूरे दौर मे, उसमे भाषा की जो नैसर्गिकता, जो बोलचाल के लहजे या उसके मुहावरे की जो प्रासगिकता, या उसमे जो नुएन्सेज या बारीकियां हो सकती हैं उनके जो फायदे उठाये गये है, वह एकदम नगण्य हैं, प्राय. हिंदी कवियो के लिए । प्राय: रहे हैं, और इधर आकर तो, मैं समझता हू, आम तौर पर काफी दूर पड गये है हिंदी कवि । लेकिन जैसा मैंने कहा असमजस मेरे लिए इसलिए है कि इस स्तर पर इस समस्या को उठाने से हमेशा मैं बचा हू । क्योंकि इस बहस को उठाने मे बहुत-सी ऐसी बहसें उठती है जिनके लिए मैं तैयार नही हू । क्योंकि यह एक ऐतिहासिक प्रोसेस, यानी हिंदी कविता के ऐतिहासिक विकास मे भाषा का योग, उसका सवाल हो उठता है और उसके विश्लेषण मे बहुत-सी बातें आती हैं । तो मैं खुद चूंकि अपने-आपको कोई आलोचक नही मानता रहा हूं, तो मैंने अपनी दिलचस्पियां अपने काव्य-सृजन और सृजनात्मक साहित्य के अपने पढने में ही सीमित रखी हैं । और यह काम मैंने औरों पर छोडा है । बाक़ी इसके विरोध में जो बात मैं कह रहा था वह यह है कि आम तौर पर लोग जानते हैं कि मैंने एक के बाद एक आने वाले अपने बाद की पीढी के कवियों को, गोया एक—यह तो नहीं कहूंगा कि मैंने प्रोत्साहन दिया है, बल्कि कइयो से मैंने कुछ सीखने की कोशिश भी की है । खुद मलयज की कविता मेरे लिए बहुत क्लिष्ट थी; उसको मैंने बहुत मेहनत से और उस का विश्लेषण करके समझने की कोशिश की है । और उसके बाद वह भी मेरे

लिए नये कवियों में एक उपलब्धि थी। और इसी तरह कई कवियों के बारे मे मैं कह सकता हूं जिनको पढना—वह ख्यात या कम ख्यात या बिल्कुल अनजाने हों, अनजाने हैं ऐसे कवि—ये सब उसमें शामिल हैं। कवियों को मैंने हमेशा बहुत आदर से पढा है, चाहे उनमें बहुत से दोष हों या कम हो या न हों। सीखने की नीयत से, उनको समझने की, उनके आज के रौ को, उनकी भावनाओं को समझने की कोशिश मे, क्योंकि वह कुछ व्यक्त करते हैं, अपने युग का इस दृष्टि मे। लेकिन दूसरी चीज़ यह भी है कि नये कवियों पर विदेशी कवियों का एक ढंग का ज्यादा असर पड़ता गया है और उसमे अपनी कविताओं की नीवें कुछ कमजोर होती गयी हैं।

नेमि : आपका ख्याल है कि जिसे नयी कविता या प्रयोगवाद का दौर कहा जाता है उसकी तुलना में आज की कविता पर विदेशी कविता का असर ज्यादा है? या कि, बल्कि मैं तो यह भी सवाल शायद पूछ सकता हूं कि पंत जी की कविता पर विदेशी असर है उसकी तुलना में क्या आज की कविता पर विदेशी असर ज्यादा है?

मेरा ख्याल यह है कि आज विदेशी कवियों का या कविता का जो असर है वह बहुविध है, अनेक प्रकार का है। इसमे अमरीकी कवि, ब्रिटिश कवि खास तौर से यूरोपियन कवियों का, विभिन्न देशों के जो कवि पेंग्विन मे आते रहे हैं, आते गये हैं। और एक उत्सुकता है जानने की कि आज का कवि कहां क्या लिख रहा है, यूरोप मे क्या लिख रहा है। इससे पहले फ्रांसीसी कवियों का, मलार्मे वगैरह का जिक्र होता रहा और रिम्बो का बहुत चर्चा रहा, और इस तरह के कवियों का। इसमे यह रहा कि इसमे अनुवादपन भी आया। पंत जी के दौर मे जो असर या वह रोमांटिक कवियों का ज्यादा था, कीट्स, शेली, वर्ड्स्वर्थ और वर्ड्स्वर्थ के एक तरह से कहना चाहिए दार्शनिक एप्रोच और रोमांटिक भावनाएं। साथ ही रवीन्द्रनाथ, जिन पर भी कम नहीं था इन रोमांटिक कवियो का असर। साथ ही देखिए, उनकी अपनी ज़मीन जो थी हिंदी कविता की, हम उसमे देख सकते हैं कि ये मध्यकालीन कवियो के जो टुकडे है और उसमे जो भावुकता या भावना है, लालित्य है शब्दों का, जो उसमे समास है, वे भी आते हैं, और जैसा लोग बताते हैं कि कालिदास का असर भी बहुत गहरा है ही, पत पर भी और—

मलयज : मतलब यहां के कवियों का भी असर था और बाहरी कवियों का भी—पर आज की पीढ़ी पर बाहर के कवियों का असर ज्यादा है?

हां मैं यही बात कर रहा हूं। इसलिए आज की कविताओं में जो अनुवादपन आ गया है उसमे प्राय: सामान्यतः देखें तो एक कवि दूसरे कवि से कोई भिन्न, विशेष नही लगता। अगर एक सामान्य स्तर पर चयन किया जाए तो उसमे यह किसकी कविता है यह बताना प्राय: मुश्किल होगा।

> नेमि : आप क्या इसलिए यह समझते हैं कि वह असर उन पर विदेशी है या किसी प्रकार की—
>
> मलयज : मतलब कोई कमी उनके अंदर खुद है ?
>
> नेमि : हां, कमी कही जा सकती है। कमी भी है। या कि—
>
> मलयज : यह एकरसता या एक समानता जो है वह क्या विदेशी असर की समानता की वजह से सब में समानता आ गयी, या कि खुद उनके अंदर कोई ऐसी विशिष्टता या व्यक्तित्व का कोई अलग योग या उठान या विकास नहीं है जिसकी वजह से उसकी कविता एक ढर्रे की लिखी जा रही है ?

बिल्कुल सही, यह बात भी है, क्योकि व्यक्तित्व का उठान न होने से या कम-ज़ोर होने से भी यह बात है। और एक बात मैं यह समझता हूं कि सबसे बडी कमज़ोरी जो होती है प्राय: एक नौजवान साहित्यकार के लिए या किसी भी कलाकार के लिए, वह यह कि जल्द ही—। और इधर एक दौर यह भी आया है बराबर, यह पत वगैरह के बाद या बच्चन, नरेंद्र के बाद, कि हम आधुनिक कहलाएं। यानी हम आधुनिक दौर के आधुनिक हैं या नही। इसमें एक होड़-सी कह लीजिए, एक उत्सुकता-सी आधुनिक होने की, बनने की। इसमे वह जल्दबाज़ी और जिसमें कि हम जिस ज़मीन पर खडे है उसकी तो परवाह नही है लेकिन आधुनिक होने की परवाह है। चुनाचे हमने बहुत-सी चीज़ें उठा के उधर मे ले ली, अपनी कविताए जल्दी-जल्दी व्यक्त कीं। और एक अजब तरह की बड़ी अस्वस्थ-सी होड़ हो गयी, और अपनी भाषा की पर-पराए क्या हैं, जिस भाषा मे लिख रहे हैं, उसकी क्षमताए क्या है, इसमे एक तरह की लापरवाही आ गयी। मैं समझता हूं कि बावजूद इसके कि हिंदी का पठन-पाठन बहुत ज़ोर से इधर बढा है, लेकिन मैं समझता हूं कि आधुनिक के अलावा जितनी भी परंपरा हिंदी की रही है कविता की, छायावाद समेत, उसके प्रति एक अरुचि भी उतनी तेज़ी से बढी है। और बल्कि एक सस्तापन-सा भी कविता में एक दिशा से आया है। वह यह कि एक तरफ आधुनिकता पर बहुत ज़ोर देते हैं, दूसरे, मुझे बहुत ऐसे कम कवि मिले हैं जिनको कि फिल्म देखने का शौक हद से ज्यादा या ऐबनार्मल हद तक नही है, या जो अपनी खाली

घड़ियों में जो फिल्मी गीत न गुनगुनाते होंगे। तो ये दोनों चीज़ें ज़ाहिर करती हैं कि—

> **मलयज : खैर, ये नये कवि और आजकल लिखने वाले जो युवक हैं, उनके मन में जो छायावादी काव्य के प्रति अरुचि है उसका कारण क्या आप यह नहीं समझते कि वे जो शिक्षा या कोर्स में लगे हुए हैं, पंत, प्रसाद, महादेवी वग़ैरह ! मेरे ख़याल से तो यही वजह हो सकती है कि बजाय उनको न पढ़ने के बहुत अधिक पढ़ना या एक रूटीन में ही पढ़ना अरुचि का कारण हो सकता है।**

हां, यह भी सही है कि उन्हें सही परिप्रेक्ष्य मे या मिलाकर, परपरा के साथ, या जोड़ के नही पढाया जाता है शायद। मैं जानता नही हूं क्योंकि मैं कभी विद्यार्थी नही रहा हूं, अकादमिक तरीके से हिंदी में। लेकिन जिस तरह से उनको प्रोजेक्ट करना चाहिए, उन कवियों को, हमारे कवियों को, वह न होकर शायद बड़े मेकैनिकल ढंग से शायद वह चलता है। तो इस वजह से भी एक अरुचि होना—जैसे यह बात भी है कि यह मानना पड़ेगा कि शायद कवियों की अपनी भाषा एक गढी हुई संस्कृतनिष्ठ भारी-सी भाषा है, समास-बहुल। और आज कवि उसके प्रति बहुत बेसब्री दिखाता है और वह चाहता है कि हम कुछ अपने ढंग से कहें, वह चाहे जैसे भी, अपना हो।

> **मलयज : हां, कवि को छायावादी भाषा या कविता मात्र पर जो सबसे बड़ी आपत्ति है, वह यही है कि वह भाषा बड़ी स्थिर और स्टेटिक है और कोई ऐक्शन नहीं उसमें। सब तत्सम शब्द हैं। आज जबकि बहुत ही ऐक्शनमय एक तरह का वातावरण है, उसमें छायावादी कविता तो बड़ी ठहरी हुई-सी लगती है। इसलिए उधर कोई रुझान नहीं होता। एक बुनियादी कारण जो यह आ गया, मेरे ख़याल से तो इसी वजह से शायद उनका रुझान न हो इधर।**
>
> **मलयज : मेरे ख़याल में एक और भी दिक़्क़त है—**
>
> **नेमि : तात्विक कारण है यह—**

हां, यह है। हमारी पीढी जो है न, नेमि, मैं समझता हूं कि बिल्कुल ही इस ढंग से नहीं देखती है इन कवियों को। हम जब छायावादी कवियों को देखते हैं तो उसमें महादेवी वर्मा, या निराला भी बल्कि प्रसाद भी—उनके यहां भाषा के अलावा उनकी जो अनुभूतियां हैं वह बहुत हमारे सामने रहती हैं।

हां मैं यही बात कर रहा हूं। इसलिए आज की कविताओं मे जो अनुवादपन आ गया है उसमे प्रायः सामान्यतः देखें तो एक कवि दूसरे कवि से कोई भिन्न, विशेष नही लगता। अगर एक सामान्य स्तर पर चयन किया जाए तो उसमें यह किसकी कविता है यह बताना प्रायः मुश्किल होगा।

नेमि : आप क्या इसलिए यह समझते हैं कि वह असर उन पर विदेशी है या किसी प्रकार की—

मलयज : मतलब कोई कमी उनके अंदर खुद है ?

नेमि . हां, कमी कही जा सकती है। कमी भी है। या कि—

मलयज : यह एकरसता या एक समानता जो है वह क्या विदेशी असर की समानता की वजह से सब में समानता आ गयी, या कि खुद उनके अंदर कोई ऐसी विशिष्टता या व्यक्तित्व का कोई अलग योग या उठान या विकास नहीं है जिसकी वजह से उसकी कविता एक ढर्रे की लिखी जा रही है ?

बिल्कुल सही, यह बात भी है, क्योकि व्यक्तित्व का उठान न होने मे या कमज़ोर होने से भी यह बात है। और एक बात मैं यह समझता हूं कि सबसे बड़ी कमज़ोरी जो होती है प्राय' एक नौजवान साहित्यकार के लिए या किसी भी कलाकार के लिए, वह यह कि जल्द ही—। और इधर एक दौर यह भी आया है बराबर, यह पंत वगैरह के बाद या बच्चन, नरेंद्र के बाद, कि हम आधुनिक कहलाएं। यानी हम आधुनिक दौर के आधुनिक है या नही। इसमे एक होड़-सी कह लीजिए, एक उत्सुकता-सी आधुनिक होने की, बनने की। इसमें वह जल्दबाज़ी और जिसमें कि हम जिस ज़मीन पर खड़े है उसकी तो परवाह नही है लेकिन आधुनिक होने की परवाह है। चुनांचे हमने बहुत-सी चीज़ें उठा के उधर से ले ली, अपनी कविताएं जल्दी-जल्दी व्यक्त की। और एक अजब तरह की बड़ी अस्वस्थ-सी होड हो गयी, और अपनी भाषा की परंपराए क्या हैं, जिस भाषा मे लिख रहे हैं, उसकी क्षमताए क्या है, इसमे एक तरह की लापरवाही आ गयी। मैं समझता हूं कि बावजूद इसके कि हिंदी का पठन-पाठन बहुत ज़ोर से इधर बढा है, लेकिन मैं समझता हूं कि आधुनिक के अलावा जितनी भी परंपरा हिंदी की रही है कविता की, छायावाद समेत, उसके प्रति एक अरुचि भी उतनी तेज़ी से बढी है। और बल्कि एक सस्तापन-सा भी कविता में एक दिशा से आया है। वह यह कि एक तरफ आधुनिकता पर बहुत ज़ोर देते हैं, दूसरे, मुझे बहुत ऐसे कम कवि मिले हैं जिनको कि फ़िल्म देखने का शौक हद से ज्यादा या ऐबनार्मल हद तक नही है, या जो अपनी खाली

घड़ियों में जो फिल्मी गीत न गुनगुनाते होंगे। तो ये दोनों चीज़ें ज़ाहिर करती हैं कि—

मलयज : ख़ैर, ये नये कवि और आजकल लिखने वाले जो युवक हैं, उनके मन में जो छायावादी काव्य के प्रति अरुचि है उसका कारण क्या आप यह नहीं समझते कि वे जो शिक्षा या कोर्स में लगे हुए हैं, पंत, प्रसाद, महादेवी वग़ैरह ! मेरे ख़याल से तो यही वजह हो सकती है कि बजाय उनको न पढ़ने के बहुत अधिक पढ़ना या एक रूटीन में ही पढ़ना अरुचि का कारण हो सकता है।

हां, यह भी सही है कि उन्हें सही परिप्रेक्ष्य मे या मिलाकर, परपरा के साथ, या जोड़ के नही पढ़ाया जाता है शायद। मैं जानता नही हूं क्योंकि मै कभी विद्यार्थी नही रहा हूं, अकादमिक तरीके से हिंदी मे। लेकिन जिस तरह से उनको प्रोजेक्ट करना चाहिए, उन कवियों को, हमारे कवियों को, वह न होकर शायद बड़े मेकैनिकल ढग से शायद वह चलता है। तो इस वजह से भी एक अरुचि होना—जैसे यह बात भी है कि यह मानना पडेगा कि शायद कवियों की अपनी भाषा एक गढ़ी हुई संस्कृतनिष्ठ भारी-सी भाषा है, समास-बहुल। और आज कवि उसके प्रति बहुत बेसब्री दिखाता है और वह चाहता है कि हम कुछ अपने ढंग से कहें, वह चाहे जैसे भी, अपना हो।

मलयज : हां, कवि को छायावादी भाषा या कविता मात्र पर जो सबसे बड़ी आपत्ति है, वह यही है कि वह भाषा बड़ी स्थिर और स्टेटिक है और कोई ऐक्शन नहीं उसमें। सब तत्सम शब्द हैं। आज जबकि बहुत ही ऐक्शनमय एक तरह का वातावरण है, उसमें छायावादी कविता तो बड़ी ठहरी हुई-सी लगती है। इसलिए उधर कोई रुझान नहीं होता। एक बुनियादी कारण जो यह आ गया, मेरे ख़याल से तो इसी वजह से शायद उनका रुझान न हो इधर।

मलयज : मेरे ख़याल में एक और भी दिक़्क़त है—

नेमि : तात्विक कारण है यह—

हां, यह है। हमारी पीढ़ी जो है न, नेमि, मैं समझता हूं कि बिल्कुल ही इस ढंग से नही देखती है इन कवियों को। हम जब छायावादी कवियों को देखते हैं तो उसमें महादेवी वर्मा, या निराला भी बल्कि प्रसाद भी—उनके यहां भाषा के अलावा उनकी जो अनुभूतियां हैं वह बहुत हमारे सामने रहती हैं।

और हमारे अंदर उनका प्रभाव, उनके व्यक्तित्व का प्रभाव, एकदम बहुत ही मंद नहीं हुआ है शायद। कहीं न कहीं वह अंदर है, हम ज्यादा उसके बारे में न कहें, लेकिन वह है। यानी हम उनसे विमुख नहीं हुए हैं और उनके व्यक्तित्व की गरिमा हमारे साथ है। जब हम मुक्तिबोध का नाम लेते हैं तो साथ में कहीं न कहीं निराला का नाम लेना चाहते हैं। आज के कवि जो हैं, निराला का नाम वे ले लें, लेकिन उनके लिए मुक्तिबोध ही प्रासंगिक आरंभ होते हैं। और उसके बाद --

> मलयज : निराला के प्रति इधर काफी रुझान बढ़ा है नयी पीढ़ी का। और कुछ बहुत ही सीरियस स्टडीज भी हो रही हैं इधर। मेरे ख़याल में निराला के प्रति, मुक्तिबोध के प्रति तो काफी उत्साह इधर घट गया है, लेकिन निराला के प्रति नये सिरे से उत्साह बढ़ रहा है।

यह तो बड़ा शुभ है, बहुत अच्छा है।

> मलयज : और मेरा ख़याल है, छायावादी सब कवियों में निराला ही उभर कर सामने आ रहे हैं। उसकी वजह यही है कि निराला में एक ऐक्शन मिलता है, एक गति मिलती है और अपने समय की सीमाओं को तोड़कर आगे बढ़ने की एक चेष्टा भी है और प्रवाह भी है और उसकी शक्ति भी है। जबकि पंत और प्रसाद या महादेवी वर्मा छायावादी कवि हैं जो सब एचीवमेंट के बावजूद, अपनी सब उपलब्धियों के बावजूद, एक जगह घिर गये हैं और वहां तक पहुंचना जैसे एक अध्ययन प्रणाली के अंतर्गत ही संभव है। यानी कोई सहज एफ़िनिटी नहीं है। आपकी पीढ़ी के लोगों के लिए यह संभव था कि आप उनसे एक एफ़िनिटी स्थापित कर लें। लेकिन आजकल के कवि के लिए मुश्किल यह है। शायद क्लास रूम में बैठ के ही वह एफ़िनिटी कर सकता हो, या स्थापित कर सकता होगा। वैसे ही अपने कवि कर्म में या वैसे ही—एक जो सामान्य चिंतन है रचना-प्रक्रिया का, या और वैचारिक चिंतन, उसमें कहीं वह ठहरते नहीं ज्यादा। यानी उनके शिल्प का अध्ययन कर सकते हैं, उनकी भाषा का एक ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन कर सकते हैं, कि कैसे उस भाषा का विकास हुआ और उनमें से कौन से तत्व निकल करके आगे बढ़ते गये और अब भी मौजूद हैं। लेकिन एक सहज एफिनिटी नहीं मिलती जबकि

निराला में मिलती है। मुक्तिबोध में तो खैर मिलती ही है क्योंकि वह तो इस पीढ़ी के हैं—

इधर के कवियों को मैं अपने दिमाग मे और आम तौर से दो ग्रुप मे ले लेता हूं प्राय: । एक ग्रुप जिसको कि मोटे तौर पर कहा जाए कि परिमल ग्रुप से शुरु हो करके और प्रोत्साहन पा करके आगे बढता है, और जिसमें आपने व्यक्तिगत अनुभवों और अनुभूतियों को, अपनी कठिनाइयो को, बेबसी और लाचारी या विडम्बना, और यह जीवन मे जो ह्रास आम तौर पर, निराशा—

मलयज : इस तरह का कोई ग्रुप नहीं है।

लेकिन मैं बताता हूं कि दूसरी तरफ एक दूसरा ग्रुप दिमाग मे आता है जो कि इस तरह की भावनाओ का शिकार कहना चाहिए या उनमे दबा हुआ कम मुझे लगा है। उसकी एक बडी मिसाल धूमिल की ही है मसलन। और ये लोग एक तरह का विद्रोह कह लीजिए। आगे चल के ये दोनो ग्रुप मिल भी जाते है, काफी एक-दूसरे के क़रीब भी आ जाते है। और इधर जो विद्रोह की कविता और एक—यानी पहला ग्रुप जो है वह कहना चाहिए एक डिस-इल्यूज़नमेन्ट का है और डिसइल्यूजनमेन्ट को एक विद्रूप के भाव मे मसलन श्रीराम वर्मा ने भी व्यक्त किया है।

मलयज : परिमल का जो ग्रुप है या उससे प्रभावित पीढ़ी जो आप कह रहे हैं, मेरे खयाल से ऐसी कोई नहीं है। सिर्फ़ परिमल के सदस्य लोग जो अपने थे उन्हीं को आप मानें तो वह उनकी कविता अपनी जगह पर है। लेकिन उनसे प्रभावित या इन्स्पायर्ड तो कोई ऐसा ग्रुप है नहीं।

इन्स्पायर्ड नही, लेकिन वहां से जो एक धारा चलती है, नये कवियों को प्रोत्साहन तो मिला है अवश्य ही। जैसे 'नयी कविता' मैगज़ीन में या इलाहाबाद के कवियो को लें आप, उसी समय के तो मेरा खयाल है कि दिल्ली, पटना, बिहार में इस तरह के कवि रहे है। और उसके साथ-साथ दूसरे कवि मध्य प्रदेश के, और पजाब, या मध्य प्रदेश के खास तौर से, कवि उठे हैं। और उठते कवियों में श्रीकात वर्मा को लगा। और कुछ कवि आते है, नाम तो मुझे इस वक़्त सब याद नहीं, पर जैसे देवताले हुए और दूसरे कवि हुए। यानी इनका रग ज्यादा आलोचनात्मक व्यवस्था के प्रति, और आक्रोशमय और कुछ विद्रोह का स्वर कुछ अधिक तेज़। इस तरह के कवि। बाद मे ये

दोनों कुछ समान से स्तर पर आ जाते हैं। तो प्रयोग का असर और इस तरह के विद्रोह का असर मिल-जुल के काफ़ी दिलचस्प इधर हो जाता है। मसलन जगूडी। जगूडी की कविता व्यक्तिगत रूप से मुझे बहुत ही आकर्पित करती है। और जगूड़ी के ईडियम मे कुछ जैसा अपनी भावना का आज का रूप मुझे लगता है कि मैं अगर लिखू तो—बहुत पसंद आता है, मुझे बहुत पसंद आता है।

मलयज कुछ और व्याख्या कीजिए इस कथन की। यह पर्याप्त नहीं लगता। मतलब कि आप चाहेंगे कि खुद जगूड़ी की तरह लिखें या उसका अपना कुछ—

हा, मेरा मतलब कहने का यह था, मेरा खयाल है, हम सब जिम रंग मे आम तौर से लिखते है या जो एक मुख्य हमारा सोचने या व्यक्त करने का ढंग होता है न, उससे मिलता-जुलता या उसको अधिक पुष्टि करता या आगे ले जाता ऐसा कोई कवि, या नयी चीज़ों को उस ढंग से लाता हुआ होता है, तो वह हमे आकर्पित करता है। जगूडी के यहां मैंने दो-तीन चीज़ें देखी, मसलन यह है कि चट्टानों का, जड़ों का उलझाव। जाहिर है कि उस उलझाव मे जो मानसिक और पारिवारिक या सामाजिक समस्याओं से उलझाव होता है वह प्रतिबिम्बित होता है। और उसको जिस तरह से लेकर वह प्रकृति में और अपने व्यक्तित्व और उसके संबधों को जिस तरह मे वह व्यक्त करता है, इमेज के रूप मे वह उसका व्यक्तिगत होते हुए भी वह मुझे बहुत आकर्पित करता है। यानी कवि अत तक कवि रहता है। यह जरूर है कि वह आगे चल कर उलझ जाता है और फिर कविता कहां समाप्त करना चाहिए इसका उसे आइडिया नही होता है। यही उसकी कमज़ोरी मुझको विशेप लगती है।

नेमि : आपको अतिनाटकीय नहीं लगती उनकी अभिव्यक्ति, उनका बात कहने का ढंग ? यानी उसको ओवियस बना देने की हद तक, या कि एक हद तक—बहुत ग़लत है यह शब्द, फिर भी—प्रचारात्मक बना देने की हद तक ?

नही, प्रचारात्मक तो मुझे नही लगता है।

नेमि : नहीं, मैंने कहा, एक हद तक ओवियस, अपनी बात को। और एक उसके ऊपर ज़्यादा नाटकीय बोझ डालने की कोशिश, उनकी कविता में आपको नहीं लगती ?

मुझे नही लगी है यह। एक कारण इसका यह भी हो सकता है कि मैंने कुल

मिलाकर उनकी बहुत ज्यादा कविताएं नहीं पढ़ी हैं और एक दफ़ा में मैंने उनकी एक ही कविता प्रायः पढ़ी।

नेमि : उनके दो संग्रह निकल गये हैं।

हां, दो संग्रह निकल गये हैं। संग्रह रूप में मैंने उलटे-पलटे हैं। एक संग्रह उलटा-पलटा है मैंने। ज्यादातर जो मैगजीन में निकली हैं कविताएं वे पढ़ी है, देखी हैं मैंने। और उनका इम्प्रेशन मुझ पर गहरा रहा है, उनके ढंग का। शायद अगर मैं उनका अध्ययन करूं उनकी रचना के विकास का, कविताओं का, तो शायद वहीं न कहीं मैं आपसे सहमत हो जाऊं क्योंकि उस तरह का रिपिटिशन, उसी तरह की बात को दोहरा के भी ढग से कहना, यह शायद उनके यहां है। वह चीज़ बाद में कुछ बोर करने लगती है। लेकिन जो ढंग उनका है, उसने मुझे आकर्षित किया। दूसरा कवि धूमिल मुझे लगा। उसने वाकई उस बोलचाल की भाषा को आम आदमी जिस तरह हाट-बाजार में बोलता है, और उसके संदर्भ में जो ख़ास शब्द आते हैं, जैसे मोचीराम है। बहुत ही तीव्र भावना से उन्होंने अपनी रचनाएं लिखी हैं· सिर्फ़ इस तरह की कविताओं ने मुझे बोर किया जैसे बहुत लंबी कविता थी वह, क्या थी वह, 'पटकथा'। वह मुझे बेकार-सा रिग्मारोल-सा लगा। उसमें कहीं-कहीं अच्छे छद हो सकते हैं। लेकिन इस तरह का, ज़ाहिर है कि जितने भी कवि आजकल इस तरह का लिख रहे हैं, मैंने दो का नाम लिया, और भी कई इस तरह के कवि है, जैसे मंगलेश डबराल हैं। तो उनके यहां हमें आश्वस्त करने वाली चीजें और फिर कुछ निराश करने वाली, दोनों तरह की बातें मिल जाती हैं। कमलेश को ले सकते हैं। उनका अपना एक ढंग है, कुछ बड़ा कल्पनालोक वह अपना बुनते हैं और उसमे एक निजी-सा, मैं समझता हूं, एक साफ़्ट वातावरण। और उसमें पश्चिमी कवियों का भी प्रभाव है, लेकिन अच्छा लगता है। पर उसमे फिर वही बात हो जाती है कि एक तरह की एनुई जैसी आ जाती है। एक तरह की वायवीयता। और इसमें भी अच्छी कविता और एक सामान्य कविता का फ़र्क बहुत ओवियस-सा हमें मिल जाता है। कई इस तरह के लोग है। लेकिन बजाय इसके कि एक परसनैलिटी, दो-एक को छोड़ के, पूरी तरह उभरे, अलग-अलग कवियों की कुछ चुनी हुई चीजें जो है वह अच्छी लगती है। और वे पूरी तरह अपनी कविता का विकास तो नहीं कर सके हैं। जैसे मसलन मैं कहूंगा, क्या नाम है उनका, बिहार के नये कवि—वह क्या—नाम है उनका—इधर के कवियों में—

नेमि : ज्ञानेन्द्रपति ?

नही । जिनके यहा वह भावना बडे नीचे धरती से, जड़ से उठती है—

मलयज . मदन वात्स्यायन ?

नही, नहीं । मदन वात्स्यायन तो बहुत पुराने चले आ रहे हैं। हालांकि उनकी जो सभावनाए थी, वह एकदम सभावना का ही एक स्वरूप देकर फिर वही खत्म हो जाती हैं । उसको उन्होने बिल्डअप नहीं किया । हां, आलोकधन्वा, आलोकधन्वा के यहा, जिसे मैं कहूंगा प्योर पोएट । यानी एक तरफ तो वह धरती की समस्याओ को धरती से उठाता है; दूसरी तरफ उसे उठाने का ढंग बिल्कुल एक विशुद्ध कवि का जैसे है । तीसरी तरफ वह कही खो जाता है । और या तो वह एक, जो सामाजिक दृष्टिकोण है उनका या राजनीतिक दृष्टिकोण है, उसमे वह उलझ जाते हैं या यह कहना चाहिए कि, उसको उलझना भी मैं नही कहूंगा, यानी वह कवि का जो स्वरूप है कविता के लिए, उसमे यह हो सकता है कि वह रेटोरिकल हो जाय लेकिन थोड़ी-सी जो ४-५ कविताएं मैंने इधर-उधर देखी, उनमे वे बातें मुझे मिलती है, जैसे मुक्तिबोध या निराला की दिशा की तरफ मुझे जाती लगती है लेकिन मैं यह भी देखता हू कि एक थिननेस उसकी है कही न कही, वह जो है वह डाली कमजोर है, वह बहुत पुष्ट होकर बहुत ही मजबूत नही हो सकेगी। यानी हो जाय तो ठीक है, इस तरह की चीजें । या **श्रीराम वर्मा** को मैं तू । श्रीराम वर्मा के यहां भी अद्‌भुत-सी बातें है । एक तरफ तो वह सामान्य अनुभूतियों को बड़ा दिलकश और नाटकीय रूप देते है जानवूझ के । वह बहुत ही अच्छा लगता है । दूसरी तरफ जो मुझे आकर्षित करती हैं चीजे, अपने टेकनिकल कारणों से, या भाषा की तरफ मेरा अतिरिक्त-सा झुकाव होने के कारण, वह उनका भाषाविज्ञानीय, शब्दो का जो प्रयोग है उसमें एक वह आनन्द आता है कभी-कभी, जैसा कि कभी-कभी माचवे की कविताओ मे होता है, कि वह भाषा का अनोखा-सा प्रयोग शब्दों का अनोखा-सा प्रयोग । उनके यहा जो अनोखापन है, वह अनोखापन हिंदी की कविता मे आजकल तो कही नही है । एक फैन्टासी, एक अजब तरह की फैन्टासी और उसमें एक आनन्द हो । जैसे कि आनन्द-विभोर होकर एक बच्चा जैसे किलकारी मारने लगे और एक बडा आदमी जानबूझ कर उसका रोल अदा करने लगे वह सब चीज जैसे कही बड़ी प्रासंगिक है । इसकी केवल एक ही मिसाल पहले के कवियों मे माचवे के ही यहां मुझे मिलती है । और वह एक पीढ़ी का गैप भी है, डिफरेन्स भी है । लेकिन माचवे भी इसको और ज्यादा ले जा सकते थे । कई रूप इसके आ सकते थे । लेकिन किसी वजह से यह—कई रूप आये भी उनके यहा—

यह बिल्कुल ही इनसिग्नीफिकेंट क़िस्म की राइटिंग है। आजकल उसका कुछ महत्त्व है ?

जो कुछ आपने कहा है, उद्धरण दिया है; किसी भी महान आलोचक का तो—

मलयज : बहुत ही जोरदार भाषण; भोपाल में—

किनका है तो भी ? खैर—

मलयज : बहुत ही आक्रोश में—

लेकिन मैं तो एकाएक यह फौरन कह सकता हूं कि बिना किसी ज्यादा हिचक के कि मैं उनसे बिल्कुल असहमत हूं, एकदम से असहमत हूं, यह बात ज़रूर है यह कहने के बाद, यह जैसा कि उनका एक स्वीपिंग स्टेटमेंट है, मेरा भी यह एक—अतिव्याप्ति इसमें हो सकती है। क्योंकि इतने कवि आज लिख रहे है, और कुल मिलाकर देखा जाय तो अच्छी कविताएं अगर चुनें तो, उसमें विभिन्नता भी मिलती है हमें। उसमें जैसे आप मंगलेश डबराल को ले लें। या इधर के हाल ही मे जिन्होंने कुछ उन्नति की जिनसे पहले ऐसी आशा नही थी। पंकज सिंह है। उनके एप्रोच से मतभेद हो सकता है। एक हद तक। लेकिन उनकी एक उत्कट आकांक्षा, कुछ यथार्थ को व्यक्त करने की; और उस यथार्थ से गुंथने की—इनसे इनकार नहीं किया जा सकता। यह कुछ ऐसी थी जैसी कि मुक्तिबोध की अपने ज़माने मे, बहुत मेहनत मे। उस यथार्थ को व्यक्त करने की। यथार्थ को व्यक्त करना कलाकार का बहुत ही पहला और बहुत ही बुनियादी धर्म है, और उस धर्म में वह कामयाब ही हो, यह जरूरी नही है। लेकिन ऐसी कोशिश और उस कोशिश में किसी हद तक भी कामयाब होना मेरे लिए बड़ी आदरणीय चीज़ होती है। तो उसमे विभिन्न रूप से, विभिन्न दृष्टियों से जो कवि संलग्न है और उसमें अगर काव्य के स्तर पर, काव्याभिव्यक्ति के स्तर पर, कुछ किया है उन्होने, तो उसका आदर होना चाहिए, और मैं उनका आदर करता हूं।

इधर एक और चीज़ बढी है, जिसे मैं कहूंगा ग़ज़ल, ग़ज़ल की तरफ़ रुझान। ग़ज़ल जहां एक तरफ आकृष्ट करने वाली विधा हैं और इसमें श्रेय इसके आकर्षण को बढ़ाने का, मैं समझता हूं कि फिल्मों को भी है। और उर्दू के कवियों के जो सस्ते संस्करण प्रकाशित हुए हैं, जिनमें ज्यादातर आम रुचि की, लोगों की रुचि की चीज़ें चुनी गयी हैं, उसको भी है। और रुझान में इधर वाकई ग़ज़ल की तरफ एक ऐसा मैदान खुला है जिसमे कई लोग उतरे हैं। मैं

यह कह दूं कि गज़ल एक बहुत ही कठिन विधा है, देखने में जो बहुत ही सरल और बडी अच्छी मालूम होती है। बहुत कठिन विधा है। और इसमें एक तो यह मान लिया गया है, उर्दू में तो, कि अब ग़ज़ल में कोई नयी बात या नये ढग से कहने वाला मुश्किल है कि आये। जो ग्रेट गज़ल थी, या जो ग्रेट गज़ल लिखने वाले थे—महान, उनका दौर खत्म हुआ। लेकिन अद्भुत बात यह है, अभी मेरे एक दोस्त से बात हो रही थी, यह आश्चर्य-जनक बात लगती है कि हर ऐसे मोड पर जब हम यह समझते है कि गज़ल अब खत्म हो गयी है, तो एकाएक एक नया कवि आता है और वह नये स्वर और नयी अभिव्यक्ति के साथ अपनी चीज़ें लाता है। कटेम्परेरी उर्दू पोएट्री मे भी ऐसी चीजें मिलती है। तो उनका संदर्भ स्पष्ट न होने की वजह से हिंदी पाठकों के सामने या श्रोताओं के सामने उनको स्पष्ट करना मैं समझता हूं कि मुश्किल है। लेकिन यह फैक्ट है तो हिंदी में इस तरह का रुझान एक तो बडा प्रारंभिक ही लगेगा, यदि उसको बड़ी गभीरता से, गज़ल की विधा को लिया जाय। लेकिन वह बड़ा अच्छा लगता है मुझे। मसलन, इधर **दुष्यंतकुमार** की गज़लें आयी। इससे पहले मध्यप्रदेश के एक और कवि है जिनका सग्रह भी आया है और उनके मेरे पास कुछ छपे हुए फ़र्मे आये थे। लेकिन गज़ल पर भावुकता ही में यह रुझान आया है। यह भी एक प्रतिक्रिया है कई चीज़ों की। क्योकि गज़ल एक ऐसा पर्दा है जिसमें बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं जो पढने वाला समझ लेता है, और जिसकी व्याख्याएं भी, एक से अधिक भी, हो सकती है और उनका वही बिहारी के दोहे वाला, हिसाब हो जाता है। अगर अच्छा शेर है कोई कि जो गभीर असर करते हैं, दिल पर चोट करते है, और नही तो वह फ़्लैट होते है, और आम-तौर पर हर गज़ल में दो ही चार शेर अच्छे होते है, और हर शेर अच्छा हो इसकी कोशिश बहुत कम कवि आम तौर पर करते है। तो इनके यहां भी खामियां है—दुष्यंतकुमार के यहा। मैं जानता हूं कि वह अपनी सफ़ाई पेश करेंगे; या वकालत करेंगे। और अच्छे कवि आम तौर से अपनी वकालत पेश करते है। तो इस बारे मे कोई बहस मैं नही करना चाहूगा। खुद त्रिलोचन शास्त्री ने जो गज़ल लिखी है उसमें बहुत सी खामियां हैं। और उनके यहा से अच्छे शेर चुनना आसान काम नही है। लेकिन उनके अच्छे शेर, चूंकि उन्होने सैंकडो गज़ल लिखी हैं, वे अच्छे शेर चुने जायं सख्ती से, तो कुछ न कुछ निकल जायगे। तो यह उस दृष्टि मे है जब हम गज़ल को अच्छे स्तर पर अच्छे स्तर से चाहते हैं। लेकिन हिंदी मे यह एक रौ आयी ये जो साप्ता-हिक मैगज़ीन हैं, धर्मयुग या साप्ताहिक, ये भी गज़लें आम तौर पर छापना पसद करते है।

मलयज : और भी कोई फ़ौर्म कविता का है, जैसा ग़ज़ल का फ़ौर्म हिन्दी में इधर हो रहा है। और भी फ़ौर्म, कविता के फ़ौर्म की तरफ़ भी···

आप, अगर आपके दिमाग मे ऐसा कुछ, यानी आपके जहन मे, कोई ऐसी चीज़ रही है तो—मै इसके अलावा, मै एकाएक तो कुछ नही सोच सकता हूं—

मलयज : फ़ौर्म के प्रति क्या कुछ इस तरह की आर्थिक उत्तरदायित्व की भावना इधर कवियों में आपको दिखायी पड़ती है ?

नेमि : उत्तरदायित्व के साथ-साथ इस बात पर भी आप कुछ रोशनी डालिए कि क्या फ़ौर्म की भी कोई तलाश है ? कविता के पाठक के रूप में क्या आपको लगता है कि आज का जो नौजवान कवि लिख रहा है, उसके मन में किसी फ़ौर्म की ललक है, तलाश है, या कि वह उसकी तरफ़ बढ़ रहा है ? क्या ऐसा कुछ लगता है। यानी एक तरह से आप कह सकते हैं कि नयी कविता के दौर में कविता का एक फ़ौर्म ढूंढ़ने की कोशिश हुई। मुक्तिबोध की कविता के रूप में एकाएक नया कविता का फ़ौर्म दिखायी पड़ता है। आपने अभी ग़ज़ल का जिक्र किया। तो इस तरह, आज की जिंदगी को जो सही रूप दे सके, ऐसे किसी फ़ौर्म की कोई झलक या कहीं कोई तलाश, आप को आज की कविता में दिखायी पड़ती है क्या ? हो सकता है कुछ नहीं है, लेकिन आपकी प्रतिक्रिया क्या है ?

मेरी प्रतिकिया यह है, गो कि मेरी प्रतिक्रिया का क्या मूल्य या महत्त्व हो सकता है, मै नही जानता, क्योकि यह एक बडा एकैडेमिक सवाल है। तो हम, उस रूप मे तो मुझे नही लगता कि जिस रूप में प्रयोगवादी कवियो का और उसके अतर्गत और उसके बाद मुक्तिबोध का प्रयास था कि आज के यथार्थ के लिए जो उपयुक्त फौर्म या रूप है उसे पाया जाए। और कविता को जो सांचा मिले या वह ढंग एक मिले, कवि को मिले। इस तरह का तो नही है, लेकिन एक और चीज है, यानी एक तरफ तो जैसा मैंने पहले कहा, कि यूरोप के आधुनिक नये कवियो की चीज़ें पढने की एक उत्कट इच्छा हुई थी, और उनसे सीखने या उनसे क़दम पर कदम चलने या उनसे होड लेने की इच्छा, पौलैंड, चेकोस्लोवाकिया, और दूसरे देशों की लैटिन अमरीकी कवियों की, कई देशों की कविताओं का प्रभाव मुझे ऐसा लगता है कि पहला

नगण्य नही है। लेकिन उसमे दो चीज़ें मुझे लगती हैं। एक तो यह कि उनका जो रूप हमे लगता है, उन विदेशी कवियों का, हम उसके पैरेलल एक चीज़ लिखते है, यानी उस ढंग की चीज़ को हम समझते हैं कि हमारे काम की है इसलिए अपना लिया। दूसरी चीज़ यह है कि हमें जो कहना है, उसके लिए हमे एक रूप, एक फौर्म मिले। वह कोशिश तो मुझे नही लगती है। यह एक ज्यादा सीरियस कोशिश है, मैं समझता हूं, पर यह कोशिश जरूर है, हर कवि अपने व्यक्तिगत स्तर पर यह कोशिश कर रहा है कि मेरी अभिव्यक्ति का क्या एक रूप मुझे उपलब्ध होना चाहिए और उसके लिए अपनी खोज या उसकी खोज निरंतर कविता की या कवि की जो प्रगति है, वह खोज की ओर है, उसको पाने की ओर है, ऐसा तो मुझे नही लगता। लेकिन यह जरूर है कि आज जो कुछ वह भोग रहा है, आज का नया कवि, अपने समाज के साथ, अपने निम्न-मध्य वर्ग के साथ, उससे अत्यंत उत्पीडित है, हमारी पीढी क्या, बल्कि हमारी पीढी के भी बाद की दो पीढ़ियां आयी है—अगर १०-१० वर्ष की पीढी मानी जाय—तो उनके यहां भी इतनी उत्कट इच्छा इसको व्यक्त करने की, जो भोग है आज का जो बहुत ही कटु है। शायद नहीं भी। और उसमें उसको व्यक्त करना वह अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है बजाय इसके कि जिस रूप में वह व्यक्त करे वह रूप बहुत सशक्त ही हो, या कुछ जल्दी भी है उसको व्यक्त करने की। और उसमें वह साहित्यिक पक्ष कहें या तकनीकी पक्ष की तरफ ज्यादा ध्यान नही देता रहा है, ऐसा मेरा खयाल है। यह मोटे रूप में मैं कह सकता हूं। इसमें अपवाद हैं, जैसा कि मैंने कहा कुछ है। दरअसल मैं यह समझता हूं कि यह दौर आज का, आज के कवियो का, एक अजब, काव्य की एक तरह की विरलता का कह लीजिए यह दौर है, जिसमे हताश-सा हो के, तमाम संघर्ष करता हुआ, हाथ-पाव मारता हुआ कवि जो है, वह अपने को ऐसी जगह पाता है जहा कि कोई रास्ता नही, या तो आक्रोश, एकदम उफान और एक गर्मी, लेकिन कोई रास्ता नहीं है जैसे, मुझे लगता है औन द होल—

मलयज : तो फिर कविता की जरूरत आज है ? यह सवाल उठ सकता है। यदि विरल कविता का युग आ गया है तो—

जरूरत का जहा हम नाम लेंगे, वहां तो एक कमौडिटी की चीज हो जाती है कविता। 'कविता की जरूरत' लफ़्ज उसके लिए उपयुक्त नही हैं, क्योंकि कविता या ग़ज़ल या गीत भी कह लें—

मलयज : नहीं, बहुत गहरी आवश्यकताओं की पूर्ति अगर कविता

करती है तो मतलब उसी संबंध में जरूरत लफ़्ज़ इस्तेमाल किया गया है।

हां, वह जरूरत तो उसकी रहती ही है।

मलयज : जरूरत का मतलब यह नहीं कि कोई बहुत पोलिटिकल एक चीज़। बल्कि वास्तव में कोई ऐसी आवश्यकता है कि कविता लिखिए आप ? कविता की विरलता का ही यह युग है तो कविता क्यों लिखें फिर ? क्या, अर्जेन्सी क्या है फिर।

जब मैंने विरलता कहा तो मेरा मतलब यह था कि काव्य-तत्व जिसमें प्रधान हो, यानी काव्यात्मकता जिसमें प्रधान हो। अभिव्यक्ति तो गद्य में भी हो सकती है, अभिव्यक्ति हो गयी। लेकिन उस अभिव्यक्ति के साथ जो उसका एक काव्यात्मकपक्ष है, यानी उसमे काव्य की गहराई या ज़ोर, कविता का जो ज़ोर है उसकी तरफ़ ध्यान शायद इतना नहीं है। ऐसा मेरा ख़याल है। आम तौर से।

मलयज : इसकी क्या वजह हो सकती है।

नेमि : यह भी एक दौर है या इसको मैं एक दूसरे—

पता नही आप इससे—मैं जानना चाहूंगा कि आपका क्या ख़याल है इसमें।

नेमि : इसी से जुड़ी हुई शायद एक और भी बात है, वह बतायें। जो नया प्रगतिशीलता का एक दौर हिंदी लेखन में विशेष कर कविता में, फिर से दिखायी पड़ रहा है,—हो सकता है कि यह मेरा ही कहना हो, आपको ऐसा न लगता हो, पर अगर लगता है आपको भी ऐसा, तो आपकी क्या राय है ? दो बातें इसके बारे में। क्या उस कविता की विरलता को, जिसका आपने ज़िक्र किया, बढ़ाता है या कि उसको कम करता है ? यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष है कि ये जो फिर से दोबारा प्रगतिशीलता का स्वर शुरू हो रहा है यह प्रगतिशीलता के पुराने दौर से कुछ आगे लगता है आपको, या फिर वहीं लौट जाने की कोई कोशिश है इसमें ? आपकी क्या प्रतिक्रिया है, इस तरह के लेखन के बारे में ?

यह बहुत दिलचस्प है, बहुत अच्छी आपने बात रक्खी है। एक्सक्यूज मी, मसलन मेरे सामने जो चित्र है उसमे दो सर्किल है, और एक सर्किल मे एक आंख है और

इसमें एक ऐंगिल भी है और इसमें एक खत्ती के से कर्व हैं। और नीचे कुछ रंगों के दाग़ हैं जो कि नीले से शुरू होकर फिर गदले और उसके बाद फिर खुलते हुए साफ़ पीले नारंगी रंग मे बदल जाते है। तो यह इमेज इस बात का है, जिसको मैं मानता हूं कि एक सर्किल होता है, एक सर्किल से शुरू करके, यानी हमारी जिंदगी मे भी, और आम तौर से तमाम जो आंदोलन हैं, उसमे भी। वह सर्किल पूरा होता है आगे चलता हुआ, क्रिया-प्रतिक्रिया जिस तरह से होता है। तो मैं समझता हूं कि जितना कुछ इधर एक्सपेरिमेंट या जो कुछ भी हुआ, या जो हुई कविताएं, तो अब यह दौर आना था। और यह भी जरूर है कि इस वक्त जिन मुश्किलों का सामना और जिन समस्याओं का सामना पूरा देश कर रहा है और जो बहुत-सी बातें उद्घाटित होती हैं और हुई हैं, और वह आक्रोश भारत तक ही सीमित एक तरह से नहीं है। मैं समझता हूं बल्कि वह एक बेचैन करने वाला आक्रोश व्यापक है। मलसन, चिली में जो कुछ हुआ और इसके जो खतरे हिंदुस्तान में भी हैं, और जो बाहर के हस्तक्षेप दूसरे-दूसरे मुल्कों में होते रहे हैं कुछ शक्तियों के। और अपने यहां भी जो बहुत-सी गडबड़, बहुत-सा जो भ्रष्टाचार, बहुत-सा जो अनाचार, बहुत-सी चीजें जो इस तरह की हैं, तो इसमें एक सामान्य नागरिक हताश-सा हो जाता है। और उसको अभिव्यक्ति देने वाला जो कवि है वह भी। तो इसमें जाहिर है कि प्रगतिशील का एक रोल अपना पैदा होता है। यानी वह कोई चाहे उसको लाये, न चाहे न लाये, लेकिन वह उभार वह आक्रोश इससे पहले शुरू हो चुका था जिस आक्रोश की मिसाल धूमिल ने भी रखी है, दूसरे कवियो ने भी रखी है एक रूप मे। दूसरे रूप में, कहीं विद्रूप के या विडम्बना के या डिसइल्यूज़न के या फिर आक्रोश और—

> **मलयज : मेरा खयाल है, नेमि जी का प्रश्न जो है वह थोड़ा इससे अलग-सा है। उनका प्रश्न आक्रामक कवियों पर या आक्रामकता पर नहीं बल्कि नयी प्रगतिशीलता पर है। एक डेफ़िनिट पॉलिटिकल कमिटमेंट से मतलब है।**

देखिए न, पहले जो प्रगतिशील आन्दोलन शुरू हुआ था—प्रेमचन्द जी के ज़माने में, सन् ३६ के करीब, तो उस वक्त देश एक विदेशी शक्ति से संघर्ष कर रहा था। और हम यह चाहते थे, उस ज़माने में जो मेनिफ़ेस्टो निकला था, कि हम-कवि, यानी साहित्यकार अपने देश के जीवंत प्रश्नो को उठाएं और योग दें देश को आगे ले जाने में। कुछ इस तरह का, मोटे तौर पर अगर मैं अपने शब्दों में रखूं तो, इस तरह का था। आज भी यह मांग, यानी प्रगतिशील साहित्य की, प्रगतिशीलता को जब हम लेंगे तो उसमें वह बात ध्वनित

होती है। यानी कि एक तो यह कि हर सशक्त कवि जो आता है वह, अगर सच्चा कवि है तो, उसमे एक स्वर जीवन की प्रगति या जीवन की उथल-पुथल को व्यक्त करने वाला होता ही है। तो प्रगतिशील शब्द जब हम लाते हैं, तो उसमें यह है कि साहित्यकार कौन्शस हो जाता है, अपना दायित्व महसूस करने लगता है, और उस दायित्व को लेकर वह फिर रचना करता है। यही मार्क्सवाद का असर हिन्दी साहित्य पर या कविता पर आया, जिसमें एक दौर मेरे ऊपर भी गुज़रा, जिसका असर कमोवेश कही न कहीं बचा-खुचा होगा। अब मार्क्सवाद के भी अनेक रूप-रूपांतर और भेद-विभेद हुए। आज भी यह नहीं कह सकते हैं कि उसका असर प्रबल कहीं न कहीं नहीं है। हालांकि उसके रूपों को और भेदो को समझना मेरे लिए तो बहुत ही मुश्किल है। लेकिन यह भी, एक तरफ़ तो यह रहा कि इस तरह की कौन्शसली, या गलत शब्द है लेकिन जिसे रेजिमेंटेड कहना चाहिए, डाइडैक्टिक क़िस्म का साहित्य, कविता या कहानी वग़ैरह लिखना एक बड़ी गलत-सी बात है। मैं भी यही मानता रहा हूं। दूसरी तरफ़ एक दायित्व एक नागरिक की हैसियत से साहित्यकार का उठता है। और उसमें—यह वाक़ई मेरे लिए एक बहुत बड़ी समस्या रही है। जिसको कि मुक्तिबोध ने अपने तौर पर बहुत अच्छा हल किया, लेकिन मैं नहीं, बिल्कुल नही कर सका, कि किस तरह से हमारा नागरिक का दायित्व है, वहा पर कृतिकार, रचनाकार, शिल्पी कहां कैसे खड़ा होता है, आ करके। एक तो यह कि ईमानदारी से वह जैसा जो कुछ महसूस करता है, उसको वह भरपूर व्यक्त करता है, और उसके इस तरह से व्यक्त करने से उसके इस दायित्व की पूर्ति होती है। दूसरे, इसके अलावा, वह उसमें कुछ जोड़ना चाहता है और जोड़ने की कोशिश करता है। जैसे कि हम समझते हैं कि मायकोव्स्की ने अपने ज़माने में किया कि अपने चारों तरफ़ की जो ऐक्टिविटी थी, जो कुछ भी निर्माण या जो कुछ भी हो रहा था, उसमें वह व्यक्तिगत रूप से जा-जा के, देख-देख के, नोट ले-ले के, या उसका पूरा अध्ययन कर-करके, और इस तरह से वह फिर उसे अपनी कविता या रचना का अंग बनाता था। और फिर भी वह देखता था कि यह जो हमारा अग बनता है, हमारी कविता का, यह सब यथार्थ या सत्य, वह कविता बनता है, कहीं मशीन बन के तो नहीं रह जाता है। यानी एक मेकैनिकल चीज़ तो नहीं हो जाती है। मैं समझता हूं कि इसके लिए उसने अपने को पुश्किन से भी जोड़ा। हालांकि वह दोनों बहुत अलग हैं। लेकिन यह सच है कि वह—अगर मुझे सही याद है—करीब ३-४ साल तक कविता लिखना बन्द करके केवल अपनी पूरी परम्परा के अध्ययन में, शिल्प के, भाषा के, अभिव्यक्ति के अध्ययन मे लगा रहा चार साल के करीब। और उसके बाद फिर वह आया मैदान मे, और उसने

कहा कि किस तरह से यह आज का यथार्थ चैलेंज है एक तरह का, आज का यथार्थ जो भी है वह चाहे निर्माण के स्तर पर हो, मशीन युग के स्तर पर हो, बहुत-से जो आन्दोलन है उनके स्तर पर हो, या देशी-विदेशी प्रभाव के स्तर पर हो, या दार्शनिक प्रभावों के स्तर पर हो, या जो भी कलात्मक अलग-अलग विधाओं के असर के स्तर पर हो। यह एक तरह का, मैं समझता हूं, एक नौजवान या नये या ऐम्बीशस कवि के लिए निश्चय ही एक बहुत बड़ा चैलेंज है। बहुत बड़ा चैलेंज है। और उसमे या तो वह कवि पूरा का पूरा डूब जायगा उसका पता नही लगेगा कि कहा गया वह, कोई था भी कि नही था, या मुमकिन है कि अगर उसमे से वह बढता है या निकलता है तो कमज़ोर हो के निकले या बहुत ही कुछ न कुछ लाये वह। या वाकई अगर वह उसमे जूझता है, जुटता है, जैसे कि मल्लयुद्ध मे या बौक्सिग में या इस तरह के कंपिटीशन मे। या सामूहिक रूप से भी हम कंपिटीशन को ले सकते है, जैसे एक देश दूसरे देश से घोर कंपिटीशन मे। आज लगभग उसी तरह का युग है। एक अजब-सा, कुछ भयावह-सा, बड़ा अजब-सा युग है यह। व्यक्तिगत स्तर पर भी, देश के स्तर पर भी, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी। एक अजब तरह की होड़ भी है, चैलेंज भी है। उससे आदमी एस्केप भी कर सकता है। मैं समझता हूं कि मैंने बहुत बार एस्केप किया है।

मलयज : पहले यह बताइए कि आपने अपने युग का प्रगतिशील दौर भी देखा कविता का, और आजकल की नयी प्रगतिशीलता का दौर भी आप देख रहे हैं। उसकी कविताएं आप देख रहे हैं। दोनों में आपको क्या अन्तर दिखाई देता है ? क्या जमीन में अन्तर है, या ऐटिट्यूड में ? अन्तर क्या है ? कुछ ऐसा आपको लगता है ? या उसी का रिवाइवल है ? उन्हीं भूलों को दोहरा रहे हैं या किसी नयी जमीन को आगे बढ़ा रहे हैं ?

नही, कुछ तो जैसा मैंने कहा—

मलयज : दोनों का कम्पैरिजन आप किस ढंग से करते हैं ?

यह भी मैं समझता हूं बहुत सार्थक सवाल है इस दौर का। यानी अब जो हमे फिर सतर्क करता है या हमें फिर सचेत करता है, कहना चाहिए ?

मलयज : कुछ लोगों का यह कहना है कि पहली प्रगतिशीलता और आज की प्रगतिशीलता के बीच में जो पीरियड आता है नयी कविता

वगैरह का, वह एक तरह से गुमराह करने वाला पीरियड था। और उसने बहुत ही कलात्मक, कविता को एक तरह की कलात्मक स्थिरता पर लाकर छोड़ दिया है। और अब जो नयी कविता शुरू हो रही है प्रगतिशील, वह एक तरह से जो स्वस्थ परम्परा है निराला की, उसको आगे बढ़ा रही है।

यह बहुत ही ओवर सिम्पलीफिकेशन, और बहुत ही एक गलत तरह का स्टेटमेंट है। लेकिन यह जरूर है कि मैं इस तरह से नहीं देखता। जो बीच का दौर आया है, उसने बहुत कुछ जमीन बनायी है, बहुत कुछ नया अनुभव भाषा का, शिल्प का दिया है, और उसका फ़ायदा उठाया जायगा और उठाया जाना चाहिए। यह मैं नहीं मानता—जो भी कहता हो या जो भी—

मलयज : नहीं, यह आम धारणा है। नये प्रगतिशील कवि जो हैं उनमें भी यही धारणा है।

नेमि : यह स्वयं नये प्रगतिशील कवियों की धारणा तो है जरूर, पर शायद बहुत से लोगों की नहीं है कि यह जो दौर पिछला गुजरा वह बेकार गया। नहीं, जो सवाल मैंने आपसे पूछा था, और जिसे शब्दों में मलयज जी ने भी दोहराया, वह यह है कि इसमें, इन दोनों में कोई स्तर का फर्क है, या कोई विशेष ऐटिट्यूड का फ़र्क है, या कि यह ऐतिहासिक कारणों से एक बार फिर पैदा हो गया है, जैसा पहले पैदा हो गया था ? यानी कि कविता के बारे में में जो यह नजरिया है, यह पुराने ही नजरिये का एक नये पीरियड में फिर से दोहराना है, या कि आज की जो कविता है, यानी आज का जो यथार्थ है, उसको अभिव्यक्त करने का यही एकमात्र रास्ता है, या कि महत्वपूर्ण रास्ता है ? यानी इस तरह का कुछ सवाल है सामने। सरलीकरण की दृष्टि से नहीं, पर यह सवाल जरूर है कि कैसे हम इस तबदीली को देखें।

यह तो बात सही ही है कि यह ऐतिहासिक कारणों से भी पैदा हुआ है मेरे ख़याल से। दूसरी चीज यह है कि अभी यह इतना नया है, यानी मैं जहां तक समझता हूं कि यह जो भार है प्रगतिशील साहित्य को लाने का, या प्रगतिशील शब्द कहते हो——

मलयज : नहीं 'प्रगतिशील' शब्द इस्तेमाल नहीं करते, अब तो 'जनवादी' शब्द करते हैं।

हां, वह जनवादी करें।

नेमि : वैसे एक तरह से आपने एक जवाब पहले दिया है। जिन कवियों को या जिनका लेखन आपको अच्छा लगता है उनका जब जिक्र किया, तो आपने प्रायः उन्हीं लोगों का नाम लिया जो इस प्रगतिशील सूची में माने जाएंगे। जैसे जगूड़ी, या कि धूमिल। या इसी तरह के आलोकधन्वा। इस तरह के जो नाम आपने लिये। और हां, पंकज सिंह, मंगलेश डबराल। तो ये सब उसी धारा के, धारा अगर कहा जा सकता हो, तो उसी धारा के कवि हैं। तो एक तरफ आपका जो प्रिफ़रेंस है उसने ही यह ज़ाहिर होता है एक हद तक, कि कविता की जो एक सहज परिणति आज हो सकती है या होती है, सार्थक कविता की, वह इन्हीं कवियों में दिखाई पड़ रही है जिनको प्रगतिशील कहा जाता है।

मैं कुछ इस ढंग से इसको नही ले रहा हू। मैं अगर अपनी बात को साफ़ करने की कोशिश करता हूं तो वह यह है कि जिन कवियो का मैंने ज़िक्र किया था उन्होने आज के भोगे जाने वाले यथार्थ को, जिसको कि नयी पीढ़ी भोग रही है, कुछ अधिक आक्रोश या उत्साह या कहना चाहिए ज़ोरदार ढंग से अभिव्यक्ति दी है। लेकिन जब प्रगतिशीलता का लफ़्ज़ मैं लेता हूं, या जनवादी कह लीजिए, तो उसके साथ मैं इन कवियों को नही जोड़ पाता। क्योंकि प्रगतिशीलता या जनवादी कविता के तत्व जब मेरे सामने उभरते हैं, तो उसमें एक दूसरा खाका मेरे सामने आता है। इन कवियो को जब मैं लेता हू तो मुझे यह लगता है कि इनका जो वैचारिक दृष्टिकोण है या परिप्रेक्ष्य है, वह उलझाव ज्यादा लिए हुए है। और जब हम प्रगतिशीलता—जनवादी नाम तो हम आज ले रहे हैं—तो प्रगतिशीलता से ज़ाहिर है, मेरे लिए भी वह मार्क्सवादी दृष्टिकोण को रख करके आगे चलने वाली है। उसमे दृष्टि का उलझाव नहीं होना चाहिए। यानी उसमें एक सफ़ाई या ऐनेलिसिस या एक स्पष्टता सी होनी चाहिए जो कि उन कवियो में नही है।

नेमि : माफ कीजिए, क्या आप यह कह रहे हैं कि मार्क्सवादी दृष्टि एक उलझाव-रहित सरलीकरण की दृष्टि है।

वह उलझाव-रहित होने की एक कोशिश जरूर है और सरलीकरण की हो सकती है, उसका खतरा है, बहुत बडा खतरा है, मैं यह मानता हूं, कि मार्क्सवाद के ज़रिये हम विश्लेषण कर सकते हैं, सामाजिक परिस्थितियों का, राजनैतिक परिस्थितियों का, अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियो का, और ज्यादा साफ़

हमारे सामने नक़्शा हो सकता है। इसमें जो एक बौद्धिक प्रयास है, वह मुझे उन कवियों में नहीं लगता जिनका मैंने अभी, धूमिल आदि का, नाम लिया। धूमिल में शायद हो लेकिन क्योंकि वह जो विश्लेषित करते हैं, वह विश्लेषित यथार्थ को हृदयंगम करके फिर जो उसको प्रोजेक्ट करते हैं, वह एक दूसरी चीज़ है। और जिस प्रगतिशीलता का आपने कहा वह मेरे ध्यान मे नहीं थी। मेरे ध्यान मे जो प्रगतिशीलता आयी है वह बिल्कुल इधर; मैं समझता हूं चंद महीनों या एक साल मे इधर जो स्वर उठा है, जनवादी, या मसलन जो कि एक नया प्रोग्रेसिव, नेशनल प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन तथा उसके संदर्भ मे जो सवाल उठे हैं और एक चेतना आयी है उसको ले के मैं समझता हूं वह कड़ी वहां जुड़ जाती है, पिछले प्रगतिशील आंदोलनों से जुड़ जाती है। बीच का यह जो दौर आता है जिसमें आक्रोश है या बहुत ही उद्वेग और बहुत ही पीड़ा के साथ जो चीज़ें व्यक्त की गयी हैं, तो चूंकि उसमे इतना आवेग, पीड़ा और इतना मंथन है, और आज की जो कटुता है उसकी अभिव्यक्ति है, इसलिए जहां यह सशक्त हुई है, उसमे इमेज जहां बिल्कुल यथार्थ या विविड आये हैं, वे मुझे आकर्षित करते हैं निश्चय ही। लेकिन उसमे जो कमी मुझे कह लीजिए आप, कमी वह होगी ही, जहां तक काव्य या दार्शनिक चिंतन या कहना चाहिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण या चिंतन के रिश्ते का सवाल आ जता है, तो वह मुझे उस तरह आश्वस्त नहीं करती है। इस तरह से आश्वस्त करने वाला—यानी फिर एक दिशा हो जाती है जो बहुत मुश्किल है, बहुत कठिन रास्ता है, जिसे मेरा खयाल है मुक्तिबोध ने पार करने की कोशिश की। एक तरफ़ तो उनका चिंतन जो था मार्क्सिस्ट एप्रोच के गहरे अध्ययन, निरंतर उसके अध्ययन पर, निरंतर उसको उसके टकसाल पर परखने की प्रक्रिया थी। दूसरी ओर यथार्थ को उसी आक्रोश के साथ, उसी फ़ोर्स के साथ इमेज मे, लिविंग इमेज में व्यक्त करने की भी कोशिश थी।

> **नेमि : एक मुझे दिलचस्प बात सूझती है जिसे पूछता हूं आपसे, इंटरप्ट करके। क्या आपको लगता है कि मुक्तिबोध की जो कविता है वह मार्क्सवादी दृष्टिकोण को उजागर करने वाली कविता है यानी मार्क्सवादी कविता कह सकते हैं उसे ? या कि मार्क्सवादी की कविता कह सकते हैं ?**

मैं समझता हूं कि कह सकते हैं। क्योंकि व्यक्तिगत परिचय या ऑब्जर्वेशन से मैं यह जानता हूं कि वह निरंतर मार्क्सीय दृष्टिकोण का अध्ययन आखीर तक, अपनी दृष्टि को, और कविता को उस दृष्टि के अनुसार सुगठित करने में वह बराबर करते रहे। और मुझे याद है कि वह इलाहाबाद में आकर एक पूरी [illegible]

'मार्क्सिज्म ऐंड रियलिटी' वह क्या मैगजीन है, उसको ले गये थे। उसके उद्धरण वह पढ के सुनाते थे।

मलयज : इल्यूजन ऐंड रियलिटी।

नेमि : वह तो एक किताब है।

नही, एक मैगजीन जो सोवियत से आती है रियलिटी, साइंस—

नेमि : 'साइंस ऐंड सोसायटी' एक होती थी, अमेरिकन मैगजीन थी।

नही, नही, एक उनकी भी थी, सोवियत यूनियन से।

नेमि : सोवियत से तो एक 'सोवियत लिटरेचर' नाम की—

इसके, अलावा भी एक वैचारिक मैगजीन—

नेमि : नहीं, ऐसी तो कोई नहीं थी—

बहरहाल, तो इस तरह की मैगजीन्स वह बहुत ही अंडरलाइन कर के बहुत ही क्लोजली पढते थे और वह उसको अपनी—मेरा अपना इम्प्रेशन अभी तक यही है कि वह आखिर में आते-आते—इसलिए उनके साथ मेरे सामने एक पैरेलेल आता है, मेरे दिमाग में, उस कोशिश का। एक संघर्ष है वह पूरा का पूरा। जहां तक सफल होता है, मैंने कहा न, जैसे आदमी उसी मे खो जा सकता है एकदम। मशीन में गया, मशीन का अध्ययन करने के लिए, उसका एक रूप समझने के लिए, और मशीन मे ही खो गया, पता नही चला किधर गया। यह हृश्र उसका हो सकता है या वह जैसे मायकोव्स्की निकला उसमे से। 'लेनिन' नाम की उसकी कविता है। मैं समझता हूं कि वह एक बहुत बड़ा कारनामा है। यानी वाल्ट ह्विटमैन—के बाद, वाल्ट ह्विटमैन की जितनी बडी और लंबी सफल कविताएं हैं—उनकी कुछ असफल या अर्धसफल कविताएं भी काफ़ी हैं—उसके पैरेलेल हम रख सकते हैं, मायकोव्स्की की कविता लेनिन को। और इसी तरह से नेरूदा की बाज लंबी कविताएं हैं। उनको हम रख सकते हैं 'रेजिडेंस औन अर्थ'। तो इस तरह के जो ऐंबिशस प्लैन या प्लौट या ऐंबिशस जो वर्क्स हैं, जिसमें हम समाज को समझने, पूरी अपनी आत्मा से, मस्तिष्क से, हृदय से, और उसके ऐतिहासिक परिवेश मे पूरे इतिहास में, नेरूदा ने क्या किया? पूरे लैटिन अमेरिका का सारा इतिहास लेकर वह पी गया। उसको इस तरह इमैजिनेटिव ढंग से उसने

व्यक्त करना चाहा, उसकी स्पिरिट को, उसकी आत्मा को, कि वह आज के संदर्भ मे हम सब, जो पाठक हैं, जो श्रोता हैं, या साहित्यकार, दूसरे कवि लोग, उसकी यानी लैटिन अमरीकी इतिहास या आत्मा को समझ लें कि किधर वह जायगा, जाना चाहता है। मेरे ख़याल मे यह है कि अपने ज़माने में मायकोव्स्की ने भी जो निर्माण हो रहा है, उसके पीछे क्या शक्तियां काम कर रही हैं, फोर्सेज हैं, क्या रूप उसका है, उसमे कला का जो रूप है वह क्या है, यह खोज उसकी थी। और मैं समझता हूं कि जिस तन्मयता से, जिस निष्ठा से, जिस हद दर्जे मेहनत से वह उसमें लगा, उसी का एक पैरेलेल मुझे मुक्तिबोध मे लगता है। उतनी ही मेहनत से। वह टूट गये उस मेहनत में, लेकिन उनकी वही मेहनत थी और वह मेहनत और किसी में नजर नहीं आती।

> **नेमि : आपको याद है, रामविलास शर्मा ने एक बार मुक्तिबोध की एक कविता पर यही आक्षेप किया था कि वह मार्क्सवादी नहीं है, उसके पीछे जो दृष्टिकोण है। बल्कि वह रहस्यवादी, अरविंदवादी, जिसमें तरह-तरह के जिनको आदर्शवादी कहते यानी मार्क्सवादी, के विरोधी, आदर्शवादी जो रुझानात हैं, वे ज्यादा दिखायी पड़ते हैं और एक तरह की दोस्तोव्स्की की अचेतन की या अवचेतन की जो दुनिया है उसके प्रति लगाव ज्यादा है, और वह समाज की जैसी वैज्ञानिक समझ—यानी यह तो जाने ही दीजिए कि उसकी अभि-व्यक्ति जो समझ उस अभिव्यक्ति के पीछे चाहिए वह उसमें नहीं है। ऐसा रामविलास शर्मा ने कहा था। तो मुझे यह बात याद आयी जब आपने उनको मार्क्सवादी कहा।**

भाई देखिए, मैं रामविलास जी का बहुत आदर करता हूं। बल्कि उनकी स्थापनाओं से जहां तक कोशिश होती है मेरी—बहुत कम पढ़ता हूं, लेकिन मैं अपने काम के लिए, यानी जहां-जहा भी मैं देखता हू—मैं कोशिश करता हूं कि उनसे फ़ायदा उठाऊं। लेकिन मैं इस बात में उनसे बिल्कुल ही सहमत नही हूं। जरूरी नही है कि उनसे फायदा उठाने मे उनसे मैं सहमत ही होता चला जाऊं। फ़ायदा उठाना एक चीज है और सहमत होना बिल्कुल दूसरी चीज है। क्रिटिकली मैं उनसे फ़ायदा उठाता हूं अपने लिए। यहां मैं उनसे बिल्कुल सहमत हूं। यह देखना चाहिए कि जब मैंने मायकोव्स्की का, नेरूदा का या वाल्ट ह्विटमैन का ज़िक्र किया तो उनके अपने देश के, उनके अपने इतिहास के किस परिवेश में वे आते हैं। हमारे यहां देश के जिस परिवेश में जिस जगह मुक्तिबोध आते हैं। वहां एक पक्ष तो हम देख सकते हैं कि, साहब, उनके यहां जो रोमानी फंटेसी है, या जो इस तरह का जासूसी माहौल है, और उसमे इसी तरह की चीजें हैं, हम उन्ही को

देखते चलें। और उनमे जो रोमानियत है, या कह लीजिए, वह जो भी उनके शब्द होंगे। दूसरा एक पक्ष यह है जो कि बिल्कुल उनकी निगाह के सामने नहीं है कि इस सबके बीच से उसका संघर्ष जो है, होता हुआ, वह अब किधर जा रहा है, और अपने को किधर ले जा रहा है।

मलयज : वह किसके साथ है ? सिम्पैथीज किसके साथ हैं ?

सिम्पैथीज किसके साथ है ? वह तो है ही। बहुतों की सिम्पैथीज जनता के या उसके संघर्ष के साथ हैं, लेकिन वे कवि नही हैं। उनका जो असली दौर कविता का था वह, मैं समझता हूं, वह आखिर के ४-५ सालो मे जो रचनाए उन्होंने लिखी हैं, उसमें अपने को पाया उन्होने—जैसे कि अंधेरे मे, या और इस तरह की जो कविताएं हैं, उसमें आप देखिए। उसमें वह पूरा संघर्ष है, पर उसमे पूरी वह एक उपलब्धि भी आ गयी है। उसके बाद जो रचनाएं आती हैं, मैं समझता हूं, वह ज्यादा स्पष्ट रूप से ! हमें देखना है कि अपने यहां के समाज के, अपने ऐतिहासिक परिवेश के अंदर जो कवि ईमानदारी से उनको लेता हुआ यानी—अपने यहां की, अपने समाज के लोगों की अंडरस्टैंडिंग को लेता हुआ—और वह जो उसमे से फिर एक दृष्टिकोण या ऐनेलिसिस रखता था। मैं तो चूंकि कोई अध्येता मार्क्सिज्म का या कोई इस तरह का पंडित नही हूं। फ़ार फ़्रौम इट। यानी मैं तो बहुत ही ग़लत किस्म का आदमी इस दृष्टि से हूंगा, और हूं। लेकिन यह बात स्पष्ट है कि मुक्तिबोध का यह जो संघर्ष है इसके बारे में मुझे कोई दुविधा नही है। इसलिए मै बिल्कुल ही उनसे असहमत हू। क्योंकि मेरी रीडिंग जो है, वह किताबों पर या इस तरह की थ्यौरी पर आधारित नही है। बल्कि मुक्तिबोध का बहुत क्लोज संपर्क कह लीजिए, या उनकी रचनाओं का जो भी थोड़ा-सा अध्ययन मैंने किया है, उससे यह बात निकलती है और मैं आश्वस्त हूं इस मामले मे।

मलयज : आज की कविता पर फिर लौटें हम। तो आपने अभी तक जो कहा, उससे यह लगता है कि आज के यथार्थ को भोगने को, उसको महसूस करने की, उसको अनुभव करने की क्षमता तो बहुत है आजकल के कवियों में, लेकिन उस अनुभव को विश्लेषित करने की, एनेलाइज करने की, मार्क्सवादी के नजरिये से, या अधिक वैज्ञानिक ढंग से, क्षमता नहीं है।

क्षमता नही है, और—

मलयज : चेष्टा नहीं है। तो इससे क्या—

चेष्टा उथली है, बहुत कम है। उसके लिए जितना—यह भी तो एक डिसिप्लिन है न। आप एक चीज़ का अध्ययन करेंगे, जैसा कि एक बहुत अच्छी मिसाल मुझे, अक्सर एक कहावत याद आती है। अनुवाद में, एक अरबी कहावत है कि यह कला जो है वह एक ऐसा जंगली घोड़ा है जिसको कि आपको काबू मे लाना है और उससे काम लेना है। तो इतनी मेहनत जो है उसको—

मलयज : मगर मेहनत नहीं करते इसलिए वह क्षमता नहीं है ?

हां, दिमागी मेहनत जो है, उसको अध्ययन करने, उसको विश्लेपित करने के लिए चाहिए।

मलयज : अध्ययन तो बहुत करते हैं, आजकल के कवि, खास तौर से—

एक तो अध्ययन वह है जो हम उन निबंधों में देखते है, जिसके पीछे अगर मान लीजिए तीन पेज का निबंध है तो कम से कम अगर पांच पेज नहीं तो चार पेज या दो पेज की उसमें संदर्भ ग्रंथों की सूची भी रहती है। एक तो अध्ययन वह है। उसे समझ सकना मेरे लिए तो बहुत टेढी खीर है, उन निबंधों को। क्योंकि उनकी भाषा और वह तमाम चीज़ें मेरे बस की नही हैं। ज्यादा आसान मेरे लिए होगा अगर मैं चार बार अंग्रेज़ी से कोई निबंध पढ़ लू जिस पर आधारित वह लेख होंगे। तो उनका मैं जिक्र नही कर रहा हूं। लेकिन ये कवि लोग जो हैं, हमारे रचनाकार जो कवि हैं, उनकी कविताओं से इसका पता नही चलता है कि उन्होने परिवेश को एक बौद्धिक ढंग से विश्लेपित करके अपने को व्यक्त किया हो। जैसे बेढंग से किया हो, या आवेश मे किया हो, चाहे जैसे किया हो।

मलयज : इसी से क्या यह बात नहीं निकलती, जैसा कि पहले हम लोगों ने इस बारे में सोचा भी था, कि आजकल के कवियों का, लेखकों का एक सामान्य रूप से आलोचना-विरोधी रुख मिलता है हमें ?

स्वाभाविक है यह।

मलयज : क्या यहीं से उपजता, यह ? डिसिप्लिन का न होना, विश्लेपित करने के डिसिप्लिन का न होना ही, शायद इस रूप में

प्रकट होता है कि वे आलोचना के ही विरोध में हैं ?

मेरा ख़याल है कि आपकी बात सही है।

मलयज : आलोचना मात्र को वे संदेह की निगाह से देखते हैं। तो यह सही है।

नेमि : आप समझते हैं यह जायज़ है, या यह ठीक है एक कवि के लिए या रचनाकार के लिए आलोचना विरोधी होना ?

नहीं, कैसी आलोचना हो यह सवाल है।

मलयज : मतलब, अगर कोई उसके कृतित्व की आलोचना करता है तो वह उसको कहते हैं कि यह हस्तक्षेप कर रहा है। धूमिल की एक प्रसिद्ध कविता किसी पत्रिका में पढ़ी थी, जिसका मतलब यह था कि कवि कविता लिख रहा है और आलोचक बक रहा है या सिद्धांत बघार रहा है। यानी इस तरह का एक डिविज़न कर रखा है उन्होंने कि कविता का कर्म जो है वह जैसे अपने में एक स्वायत्त कर्म है और आलोचना से उसे कुछ लेना-देना नहीं है, न कुछ सीखना है और न कुछ उससे प्राप्त करना है। यह धूमिल की पंक्ति थी जो किसी मैगज़ीन में छपी थी। तो कुल मिलाकर एक तरह से आजकल के जो—

नेमि : आम है यह तो, धूमिल ही नहीं—

यह धूमिल की कमजोरी को भी साफ व्यक्त करती है। उसकी कविता में, उसके कवित्व मे जो कमजोरी है, उसकी यह पंक्ति उसका बहुत अच्छा उदाहरण है।

नेमि : बहुत लोग हैं इसमें यकीन करने वाले आजकल के दौर में—

लेकिन सवाल यह है कि किस तरह की आलोचना ? एक तो आलोचना वह है—

नेमि : यह तो हर वक़्त, देखिए, हर वक़्त, आप किसी भी दौर को लीजिए। आलोचना हर तरह की हुई। पंत की या निराला की जो आलोचना हुई वह कोई, बहुत समझदारी की नहीं हुई। पर कुछ बहुत सही भी थी। तो आलोचना के तो बहुत सारे स्तर होंगे जैसे

कविता के बहुत सारे स्तर हैं। सवाल यह है कि आलोचना मात्र के प्रति जो एक तरह की—

यह वचकाना स्तर, मैं समझता हूं, व्यक्त करती है, इस तरह की भावना, आलोचना मात्र से एक तरह की विरक्ति या उसका विरोध। हर अच्छा कवि मैं समझता हूं एक सीरियल कवि जो है, वह एक अच्छा आलोचक भी, मैं इस माने में उसको मानता हूं कि वह अपनी ज़मीन को साफ करने के लिए बहुत कुछ समझता है, पढ़ता है, समझने की कोशिश करता है और विश्लेषित करने की कोशिश करता है। उस विश्लेषण का परिप्रेक्ष्य या उसकी वस्तु—चाहे जितनी सीमित भी हो, लेकिन वह उसके लिए जरूरी है। यह तो मैं समझता हू कि गलत बात है। यह उसकी कमज़ोरी को और भी अंडरलाइन करती है। इफ़ इट इज ट्रू। आइ थिंक इट इज़ ट्रू कि लोग आलोचना से नाराज़ होते हैं। यह तो खैर है ही है। और इसी का नतीजा है कि मैं बहुत कम आलोचनाएं पढ़ पाता हूं। कुछ यह कि आलोचना में दलबंदिया भी है।

नेमि : वैसे ये सिर्फ़ कविता में हो, ऐसा नहीं है। आज के दौर में यह आम रुख है कि आलोचना बहुत अप्रासंगिक, ग़ैर-ज़रूरी और परोपजीवी काम है और रचनाकार के ऊपर जिंदा रहता है आलोचक, और वह केवल नष्ट ज़्यादा करता है, उससे सचमुच कोई फ़ायदा नहीं होता है, रचनाकार को या दूसरे पाठकों को।

यह तो आम तौर से जैसा कि आलोचना का दौर होता है और उसमे आलोचनाएं जैसे आती रहती है, जाती रहती हैं। इसके बारे में यह बात सही है लेकिन गभीर आलोचना, गंभीर विश्लेषण कवि के लिए भी स्वयं—और कुछ दो-चार तो ऐसे आलोचक गंभीर होते ही हैं कि उनकी इसमें दिलचस्पी नही होती है कि किस पक्ष का, किस दल को, या अपने को, या दोस्त को, या किसको, हम समर्थन कर रहे है या नहीं कर रहे है। यह नहीं होता है बल्कि यह होता है कि बात क्या है उसको हम समझें और विश्लेषित करें और उसको सामने रखें तो ऐसी आलोचना तो बहुत ही उपयोगी है कवि के लिए, चाहे उसके बिल्कुल विरोध में हो। उनकी दृष्टि से असहमत होते हुए भी बहुत से मामलो मे, रामविलास के साथ, उनको मैंने उपयोगी पाया है अपने लिए। क्योंकि वह एक वार्निंग लाइट होती है, रेड लाइट, जहां पर *गाड़ी को रोक देना जरूरी होता है किसी मोड़ पर। यह जरूर है कि हम बिल्कुल* हमेशा उसी की पैरवी न करते रहे। वह एक शेर है गालिब का, बल्कि दो शेर मुझे याद आ रहे हैं। दोनों एक-दूसरे के जवाब भी है एक तरह से। क्या है वह,

"'''पहचानता नही हूं अभी राहबर को मैं'।

नेमि : 'चलता हूं थोड़ी दूर हर एक तेज रौ के साथ'।

हां, '''हर एक तेज रौ के साथ, पहचानता नही हूं अभी राहबर को मैं'। और इस पर गोया उन्होंने एक फुटनोट उस पर लगाया कि जो इनका दूसरा शेर है— 'क्या है जरूर सिज्र की हम पैरवी करें। माना कि एक बुजुर्ग हमें राहबर मिले'। अगर कोई अच्छे राहबर या क्रिटिक हमको मिल गये तो इसका मतलब यह नहीं कि उनकी पैरवी ही हम करें या उनके पीछे-पीछे हम चल दें। तो, एक अच्छा क्रिटिक मिल जाय और उसका फ़ायदा उठायें, उसकी बात समझें। उसके बाद सोच-समझ के अपना भी दिमाग़ उसमें विश्लेषण में, लगना चाहिए, साथ-साथ ही, देन वी कैन कम टु, एराइव ऐट सम रीयल हेल्पफुल प्लौज़िबिल कनक्ल्यूज़न ह्विच कैन ओनली बी, औल टोल्ड, प्लौज़िबिल। यानी फ़ाइनल तो वह मेरा खयाल है, नहीं हो सकता है, न होना चाहिए। प्रगतिशील जमाना अब जो आ रहा है, ये जनवादी ढंग, यह भी एक टेन्टेटिव—यानी इसमें भी टटोल है एक तरह की। टटोल ही है जिसमें इसको एक पक्की जमीन पाने में कुछ वक्त लगना चाहिए। मैं समझता हूं और इसमें ईमानदारी से लोग बढ़ेंगे तो पिछली गलतियों को नहीं दोहरायेंगे, नही दोहराना चाहिए। और कुछ इस तरह के जो वाटरटाइट कम्पार्टमेंट बन गये हैं कि अज्ञेय का जहां नाम लिया वहां एकदम प्रगति-विरोधी रूप सामने आ गया। या जहां मान लीजिये, निराला का नाम लिया तो एकदम सब कुछ प्रगतिशील ही सामने नजर आने लगा। या फिर प्रेमचंद का नाम लिया तो एकदम जैसे कि स्तंभ ऐसा आ गया कि बिलकुल द ग्रेट बेकन लाइट फ़ौर एवरी गुड थिंग। तो यह हट जायगा, उसको क्रिटिकली हम जज करेंगे। बहुत सी चीजें जो उसमें संश्लिष्ट होती हैं उनको हम देखेंगे। अज्ञेय के साथ यह एक बहुत बड़ी नाइंसाफ़ी हुई है कि जो बहुत-सी उन्होंने सामाजिक कविताएं लिखी हैं, सामाजिक परिवेश को, मसलन मुझे खयाल है कि वह दंगों की। 'शरणार्थी' में जो कविताएं हैं, मेरी समझ में नहीं आता कि क्या कारण है कि उनको एक तरफ़ हम हटा दें, कभी याद ही नही करें। अगर मान लीजिए अज्ञेय का नाम न होता उस संग्रह के ऊपर, किसी प्रगतिशील साहित्यिक का होता, तो मैं जानता हूं कि आज के दिन उसकी कई पंक्तियां लोगों को याद हो गयी होतीं—इतनी बार कोटेशन आते। तो यह जो दृष्टि है उसको अब कहीं दोहराया जायगा। इसी तरह से इस बारे में मैं धन्यवाद देता हूं अपने कुछ गुरुजनों के प्रभावों का, कि मैं इस गलतफहमी के बारे में शुरू से ही सतर्क रहा हूं। चुनांचे वह दौर था जब किपलिंग

का नाम लेना गुनाह होता था, और उसका नाम आपने लिया कि बस। उस ज़माने में किपलिंग की जो राष्ट्रीय कविताएं होती थी उनका मैं अत्यधिक प्रेमी था। आज तक रहा। वह हमें राष्ट्र-प्रेम सिखाता है। सवाल यह है कि आख मीच कर या आंख बद करके हम राष्ट्र-प्रेम सीखते है या कि हम अपनी जमीन को समझते हुए, अपने फ़र्क को समझते हुए। किसी को बतलाने की ज़रूरत नही है कि वह कितना बड़ा इम्पीरियलिस्ट कवि है, कितना बडा, पराधीन देशो का वह दुश्मन ही है, यह सब बताने की ज़रूरत नही है पढे-लिखे आदमी को। लेकिन यह जानने की ज़रूरत है कि किस तरह से वह अपने काम के लिए शिल्प का इस्तेमाल कर रहा है, किस तरह से वह अपने देश से प्यार करता है। उसकी कविता है 'ससेक्स' जिसमे वह कहता है कि 'गौड गेव ओल मेन ओल अर्थ टु लव बट सिन्स अवर हार्टस् आर स्मौल, ही गेव टु ईच ए लिटिल स्पौट बिलवेड ओवर ओल। एँड सो फ़ौर मी माई ससेक्स।' तो आप यह देखिए इंगलैंड भी एक छोटा-सा कोई बहुत बडा द्वीप नही है, कुल मिलाकर। उसमें एक छोटे से जिले के बराबर, हमारे बस्ती या गोरखपुर के बराबर होगा ससेक्स। उसमे भी कम, आधा शायद उसका हो। उसने सारा अपना जो प्रेम है, राष्ट्र-प्रेम उस जिले के प्रति केन्द्रित कर *दिया। मैं समझता हूं कि यह उसकी महान कविताओं में से* है। उसकी एक और कविता है जिसमे वह कहता है, ईश्वर से प्रार्थना कर रहा है कि—रोम मिट गया, और बाबल मिट गया और ईरान मिट गया, अब यह लंदन और पेरिस की बारी हो सकती है, होगी। हे ईश्वर, हमारे गुनाहों के लिए हमे क्षमा करना। बडा दर्द है इसमे। पूरे ऐतिहासिक परिवेश मे पूरे अपने राष्ट्र के लिए इसमें बड़ा दर्द है एँड सो औन। या जैसे टौमियो यानी सिपाहियो के लिए उनकी अपनी जबान मे जो बैलेड लिखे हैं उसने, वे आज भी पठनीय हैं। यह जो व्यंग्य भी हैं, और यह जो उसके साथ हृदय मिलाकर वह लिखता है, उनकी बोली मे—देयर इज़ समथिंग। वी मस्ट लर्न। इसमें मेरे कहने का मतलब यह है कि यह हमे वहीं पहुंचा देती है कि पुराने ज़माने में दुश्मन के खेमों में भेजते थे लोगों को कि आप वहां जाकर सीख कर आइए। वे लोग जो गुरु होते थे, गुरु के स्थान पर बैठकर अगर यथोचित उनका सम्मान करके प्रश्नकर्ता आया है, प्रश्नकर्ता और एक विद्यार्थी और एक शिक्षार्थी के शिष्य के रूप में आया है, तो वे बताते थे उसको। मैं समझता हूं कि प्रश्नकर्ता, शिक्षार्थी और विद्यार्थी के रूप में हम हर बड़े कलाकार, हर बडे विचारक के सामने जा सकते हैं। उनसे बातें हम सीख सकते हैं, पुरानी, नयी, आज की तमाम। और उनको हम अपने काम में ला सकते हैं—वी नुड हैट दैट कैथोलिसिटी अण्डरस्टैंडिंग हेण्ड एँड वी कैन लर्न सो मैनी थिंग्स'

तो यह जो है, मैं समझता हूं कि वह गलतियां न दोहरायी जायंगी। मैं समझता हूं कि उमीद मुझे भी है, हालाकि यह भी मै कह दूं कि बहुत ज्यादा एकदम बहुत ज्यादा उमीद भी नही, लेकिन शायद यह हो कि बहुत कुछ हम इस नयी रवादारी या नयी उदारता या वैचारिक उदारता ही कहना चाहिए, या कहें कि ज्यादा एक मानवीयता जिसके लिए वही घिसा-पिटा शब्द है, वही जनवादी, उस दृष्टि से हम देखें और आगे बढ़ें। यानी वी विल रियल बी इन्ट्रेस्टेड इन पोएट्री। पोएट्री को जब हम लेंगे तो उस समय हम इसको बांट के खानो मे, कि काला, पीला, लाल इस तरह करके नही देखें तो। बल्कि इसमे भी, लाल के यहा भी जो दो कौडी की चीजें है उनको हटायेंगे और कहेंगे कि दो कौड़ी की है। काले या पीले या उसके यहा भी अगर अच्छी चीजें हैं तो हम कहेंगे कि वाक़ई उसके यहा अच्छी चीजें है। इसमे भी कमी है या नही, यह होता, वह होता, या नही होता। सी, लाइक दैट वी कैन गो। और उसके बाद अपनी जमीन हमारी सार्थक होनी चाहिए। और मैं समझता हूं कि स्पष्ट होनी चाहिए। विश्लेषित होनी चाहिए, क्लियर होनी चाहिए। यानी हमारी बुद्धि और हृदय दोनो इसमे काम आयें। मेरा मतलब कहने का यही है, यो कहने को बहुत आसान बातें है ये। लेकिन सब जानते हैं कि कितना गैप उसमे रह जाता है हर आदमी के यहा, हर कवि के यहां। बातें रह जाती है। उसका कृतित्व होता है, वह बताता है कि कहां झोल है, कितना ज्यादा झोल है, कितना वह असफल रहा है। मैं भी महसूस करता हूं अपने सिलसिले मे, बहुतो के सिलसिले मे। और उनकी खामियां जो है वहा उनके स्तर को स्थिर बना देती हैं। वह चाहे अज्ञेय हों या बच्चन हो, या पन्त हों या निराला हो—सबके अपने-अपने स्तर बनते चले जाते है। इन्ही कुछ खामियो की वजह से मेरा अपना खयाल है, उसमें निराला का ईगो जो है, जितने बड़े कवि हो सकते थे, उससे कम है। कई और चीजें है। मुझे याद है कि सरस्वती के सम्पादक थे, क्या नाम है उनका—देवीदत्त शुक्ल। उस वक़्त देखिए उनकी दृष्टि कितनी साफ़ थी। मैंने कहा कि 'तुलसीदास' जो निराला जी का है। तो यह जानते हुए कि मैं निराला का भक्त हूं—एक तरफ देखते हुए उन्होने मुझसे कहा सिर हिलाकर, कि जी देखिए मगर, जहा वह कहते हैं—मोगल दल और वह हिन्दुत्व आ जाता है तो वही कविता एकदम वीक हो जाती है। बड़े परिवेश को लेकर चले हैं, वहा वह एक छोटे परिवेश मे अपने को ले आते हैं। मैं वाकई हैरान रह गया था और मैं अभी तक चकित हू कि एक ऐसी व्यापक दृष्टि इन थर्टीज लेट थर्टीज—एक शख्स की थी जो सपादन कर रहा था। तो कई चीजों ने निराला के स्तर को बहुत नीचा किया है। मैं समझता हू आगे चलकर और भी मालूम होगा कि उनका स्तर जितना

अभी हम उठाये हुए हैं शायद उतना वह नहीं है । या जितना कुछ उठा हुआ है उसमे भी कई चीजें हमारी निगाह में नहीं हैं, वे आयेंगी । मुक्तिबोध के यहा भी इस तरह से मालूम होगा । अज्ञेय के यहां भी और मालूम होगा । हम सबके यहां भी और भी चीजें मालूम होंगी । जहां हम लोग चूक गये, बुरी तरह चूक गये इसलिये गये । कोई भी हो । ऐंड सो ऑन । तो इसलिए चारों तरफ़ देखकर, हर बात का लाभ उठा के विश्लेषण करके, बौद्धिक और भावना के स्तर, दोनों पर मैं, समझता हूं कि वह सब करना होगा । आज के कवि जो हैं, आज का पूरा परिवेश इतना तटस्थ नहीं है, यानी वह पूरे बड़े परिवेश को लेकर नहीं चल पाता है ।
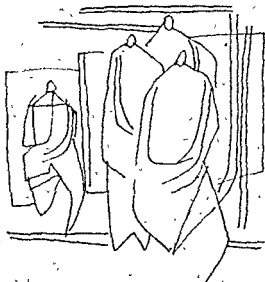
भाषाई जगह की खोज

कुवरनारायण से विनोद भारद्वाज की बातचीत

कुंवरनारायण को अनुभव की प्रामाणिकता, सच्चाई और खरेपन की भाषा में, शब्दों में बखूबी पकड़ सकने वाले कवि के रूप में याद किया जा सकता है। कविताओं के अलावा आपकी कहानियां और आलोचनात्मक टिप्पणियां भी काफ़ी चर्चित हुई हैं। अज्ञेय द्वारा संपादित **तीसरा सप्तक** में संगृहीत कविताओं के अलावा **चक्रव्यूह, अपने सामने, परिवेश हम तुम, आत्मजयी** (कविता संकलन) और **आकारों के आस-पास** (कहानी संकलन) प्रकाशित हुए हैं।

●

विनोद भारद्वाज कविताओं के अलावा फ़िल्म और कला समीक्षाएं भी लिखते रहे हैं। **पूर्वग्रह** की पहले-पहल सीरीज में **पीछा और अन्य कविताएं** और कविता संकलन **जलता मकान** प्रकाशित।

□□

कुंवर नारायण से मेरी पहली मुलाकात शायद अक्तूबर, १९६७ में हुई थी। मुझे याद है, मैं 'स्पीड मोटर' के दफ्तर मे उनसे मिलने के लिए गया था। वह मुलाकात बड़ी साधारण थी। आरंभ का दूसरा अंक उन दिनो छपा था और मैं कुंवर नारायण से उसी सिलसिले मे मिलने गया था।

फिर उसके बाद कई बार कुवर नारायण के महानगर वाले घर में जाना हुआ: आज भी वे वहीं रहते है। एक बार का मुझे खास तौर से ध्यान है। वे कलकत्ता से लौटे थे और अपनी स्टडी मे मुझे यह कहते हुए ले गए कि कुछ किताबें खरीदी हैं देखना चाहोगे। तीस-चालीस से भी ऊपर बिलकुल नयी चमकती हुई किताबों को सिर्फ देखना भी बहुत सुखद अनुभव था। किताबें कई विषयों की थी: साहित्य दर्शन, नाटक, कला आदि। कुंवर नारायण के काम करने के ढंग ने शुरू मे ही बहुत प्रभावित किया था। इतना सलीका मैंने बाद मे कही और नही देखा। उनका काम करने का ढंग काफी वैज्ञानिक भी है। चीजों को बडे ही कायदे से फ़ाइल करते हैं; बातचीत मे कोई संदर्भ आ जाए तो 'बड़ी कोशिश करके' कोई कागज, कतरन या किताब ढूढ लाते हैं। किसी चीज के बारे में जानना हो, तो **एनकाउंटर** के दस साल पुराने अंक या **एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका** की किसी जिल्द मे काफी समय लगा देते हैं। एक बात मैंने उसमे नोट की है: बातचीत मे कोई नया नाम या कोई नयी बात उन्हें सुनने को मिले, तो अगले ही दिन वह उस पर काफी चीजें इकट्ठा कर चुके होते है।

कुंवर नारायण अपने कहानी-संग्रह **आकारों के आसपास** के पलैप पर लिख चुके है, "साहित्य का घंधा न करना पड़े इसलिए मोटर का धंधा करता हूं।" जाहिर है, यह बात एक खास तरह की खीझ को ज्यादा बताती है पर कुवर नारायण इस बारे मे भाग्यशाली है कि उन्हे मोटर के धंधे पर भी बहुत वक्त नही लगाना पडता है। उनके पास समय और सुविधा है पर जिन लोगों के पास ये दोनों चीजें खूब अधिक मात्रा मे होती हैं अक्सर वे जीवन मे कुछ खास नही करते दीखते। कुंवर नारायण अपनी समय और सुविधा का खूब

इस्तेमाल करना जानते हैं। और मैं यह भी अच्छी तरह जानता हूं कि जब कभी भी अपने व्यवसाय संबंधी किसी काम में वे उलझे होते हैं, तो इतनी पूरी जिम्मेदारी के साथ उलझे होते हैं कि कंपनी का उनका कोई कर्मचारी इस उलझन में पड़ सकता है कि 'ब्रिटिश काउंसिल' की किताबों, रवीन्द्रालय और मैफेयर वगैरह के टिकिटों और तमाम तरह के 'अजीब किस्म के लोगों' की संगत में रहने वाला यह आदमी कागजों पर दस्तखत करते वक्त जोड़-जमा की बारीकियों पर कैसे चला जाता है।

वैसे मुझे इस पर कोई आश्चर्य नहीं है।

१६७१ मे मैंने अपनी विश्वविद्यालय की पढाई पूरी की थी और 'टाइम्स ऑफ इंडिया' मे अभी नौकरी शुरू नही की थी। ठीक-ठीक अर्थों मे 'बेकार' नही था बल्कि तय नहीं कर पाया था कि क्या किया जाये जाये? कुंवर नारायण से संपर्क बढ़ने से उनके निजी पुस्तकालय और उनकी संगत का पूरा लाभ मिला। मैं वह समय अपने लिए बहुत महत्वपूर्ण मानता हूं। उम्र के हिसाब से कुंवर नारायण मुझसे २१ वर्ष बड़े हैं पर उनके साथ रह कर यह फ़र्क कभी महसूस नहीं होता। उनके साथ तमाम तरह के विषयों पर इतनी अधिक बातें हुई हैं कि टेप रेकार्डर लेकर बातचीत करना मुश्किल था। पर उनसे बातचीत की इच्छा भी थी, चूंकि हिन्दी में भले ही ऐसा कम है, पर यह जरूरी है कि महत्वपूर्ण लेखक-कलाकार किसी खास बात—समय पर क्या और कैसे सोच रहे हैं, इसे दूसरे भी जानें। इसीलिए हम लोगों ने शुरू मे मोटा-मोटा 'फ्रेमवर्क' बना कर अधिकांश काम लिखित रूप मे किया। यही कारण है कि इसकी 'आपनुमा टोन' को मैंने बाद में सुरक्षित रहने दिया है।

□□

करीब तीस वर्ष पहले जब आपने कविताएं लिखना शुरू की थीं, तब जो चीजें आपको कविता के लिए बहुत जरूरी लगती थीं क्या वे आज भी कविता लिखते वक्त आपको उतनी ही जरूरी लगती हैं? मेरा मतलब शायद यह जानने से भी है कि क्या कोई खास ऐसी बात आप बता सकते हैं जो कविता लिखते समय आप पर हमेशा हावी रही हो? इन्हीं सवालों से जुड़ा एक सवाल शायद यह भी है कि कविता लिखने या शायद लिखने की ही संपूर्ण प्रक्रिया में क्या कोई चीज अकेली और सबसे ऊपर आप करना चाहेंगे?

पिछले २०-२५ वर्षों में हिंदी भाषा बहुत तेजी से विकसित हुई है—केवल

हिंदी साहित्य में या हिंदी साहित्य द्वारा ही नहीं बल्कि साहित्य के बाहर भी। भारतीय जीवन मे हिंदी का इस्तेमाल बढ़ा है—खासकर पत्रकारिता, राजनीति और प्रशासन मे, जिसका असर साहित्य पर भी पड़ा है। नये-नये संचार और प्रचार माध्यमों ने भी अपनी-अपनी जगह हिंदी को बनाया-बिगाडा है—मेरा मतलब उस हिंदी से है जिसे सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन, विज्ञापन आदि जनता में वितरित कर रहे हैं। इस हिंदी को साहित्य ने प्रभावित भी किया है और उससे प्रभावित भी हुआ है। दुर्भाग्यवश शिक्षा और चिंतन के क्षेत्र मे हिंदी का इस्तेमाल उतना नहीं बढा जितनी कि मुझे आशा थी। भाषा पर गहरे और विस्तृत चिंतन का दबाव भी जरूरी है। कविता लिखते समय भाषा एक खास तरह के रचनात्मक तनाव से गुजरती है : इसी तरह अन्य विषय भी अपनी ज़रूरतो के हिसाब से भाषा को रचते हैं। शब्द और मुहावरे गढते हैं। कविता उनसे भी संदर्भ ग्रहण करती है। इसीलिए हिंदी कविता का साधारण पाठक भाषा के इकहरे या दोहरे इस्तेमाल को तो ग्रहण करता है लेकिन कविता में भाषा की बहुस्तरीय गति को हमेशा नही पकड़ पाता। मेरा मतलब यहा शब्दों की अभिधा या लक्षणा से नही है : संपूर्ण भाषा-बोध से है, भाषा की संरचना से है —भाषा जो गहरे और सतही के बीच अनेक स्तरो पर गतिशील रहती है।

मैं कविता के उस पूरे मतलब को ध्यान में रखता हू जो केवल **कंटेंट** या **फॉर्म** नहीं होता बल्कि **कंटेंट** और **फॉर्म** दोनो होता है। कविता अपने **फॉर्म** द्वारा भी उतना ही कुछ या उससे अधिक कुछ भी कहने की क्षमता रखती है जितना अपने **कंटेंट** या कथ्य द्वारा।

मलार्मे के इस कथन का कायल हूं कि कविता की बुनियादी इकाई शब्द होते हैं। कविता करने की पहली चेष्टा शब्दों से खिलवाड़ होती है। लेकिन इसका यह मतलब नही कि भाषा के ऐसे अन्य तत्व नही होते जिनसे अच्छी कविता नही बन सकती। अपने काव्यसंग्रह **चक्रव्यूह** की **माध्यम** शीर्षक पहली कविता मे मैंने भाषा को लेकर अपने रचनात्मक दृष्टिकोण को दिया था। अनुभव की प्रामाणिकता, सच्चाई और खरेपन को भाषा में, शब्दों मे पकडने की कोशिश शायद मेरी चेष्टा मे प्रमुख रहती है और यही जरूरत मेरे अनेक प्रयोगों और काव्य चिंतन के पीछे भी रहती है। यह भी लगता है कि जहा एक अर्थ मे हिंदी विकसित हुई है वहां दूसरे अर्थ मे उसका एक खास तरह का प्रदूषण भी हुआ है—प्रदूषण जिसे मैं 'माध्यम (मीडिया) द्वारा प्रदूषण' कहना पसंद करूंगा यानी शब्द और भाषा का उस प्रामाणिक, सच्चे और खरे आशयों या अर्थों से विचलन और पतन जिसे कविता और साहित्य अपनी तरह बचाते, मूल्यांकित और स्थिर करते है। कविता एक तरह से कहें तो उस भाषा का

भंडाफोड है जिसके पीछे केवल व्यावसायिक, राजनीतिक या अन्य किसीप्रकार के स्वार्थों की मक्कारी और चालाकी हो। संक्षेप मे, वह सही भापा जो मनुष्य को केन्द्र में रखती है; उन चीज़ों और स्वार्थों की भापा नहीं जो मनुष्य को मनुष्य का गुलाम बनाती है और उसे अपनी ही रची दुनिया मे बेगाना करती है।

तो कविता करते समय मेरी खास चिंता यह रहती है कि शब्दो का, भापा का उस विशिष्ट दृष्टिकोण से इस्तेमाल हो जो मूलतः साहित्यिक है, यानी जिसका सीधा सबंध मनुष्य और उसके वृहत्तर हितों से है—जिसे बराबर खोजते और साफ करते रहना ज़रूरी है क्योंकि उससे ही धोखा देना सबसे आसान और आकर्षक है। साहित्य की अपनी ज़ुबान और अपनी स्वायत्तता है जिसकी स्पष्ट पहचान को बनाये रखना ज़रूरी है।

कविता लिखना तीस वर्ष पहले आपको मुश्किल लगता था या आज वह ज्यादा मुश्किल दीखता है? बल्कि कविता लिखने की जो मुश्किल होती है उसे आप कैसे देखते रहे हैं? यहां यह बात ध्यान में आती है कि आपने काफी तरह की कविताएं लिखी हैं। इनमें से कविता के कुछ रूप क्या आप 'इन्वयूवेशन' की तरह लेते रहे हैं या आप समझते हैं कि सभी तरह की कविताएं, लिखने के पीछे छिपी मूलशक्ति से अनुप्रेरित रही हैं?

कविता लिखने को मैं मुश्किल या आसान जैसे शब्दो के साथ नहीं जोडना चाहूंगा। मेरे लिए कविता लिखना हमेशा एक खास तरह की ज़रूरत या अनिवार्यता रहा है—आप कह सकते है कि जहा यह अनिवार्यता नही रही है वहा मेरे लिए कविता लिखना इतना मुश्किल हुआ कि वह असंभव हो गया। हम शायद यहां उस तरह के लेखन को नही सोच रहे हैं जिसके पीछे केवल अभ्यास होता है। अनिवार्यता से मेरा मतलब उस रचना-प्रक्रिया से है जब एक कविता कवि के माध्यम से जन्म ले रही होती है। इस अनुरूपता को मैं यहा जानबूझकर ले रहा हूं। भापा मे किसी विषय को सोचना, कविता मे भापा को सोचने की प्रक्रिया से बिलकुल भिन्न है। कविता करते समय भी भापा लगभग उसी तरह की प्रजननात्मक (जेनेरेटिव) या रूपातरण (ट्रासफारमेशनल) की प्रक्रिया से गुजरती है जिसकी ओर चॉम्स्की ने संकेत किया है। कम-से-कम अपने लिए मैं कविता मे होने वाले भापा के रूपांतरण, चामत्कारिक रूपातरण को इसी तरह समझना पसंद करता हूं। जिस तरह एक बच्चा कुछ ही शब्दो और वाक्यो के द्वारा अनेक नये पैटर्न्स बनाता है कुछ-कुछ उसी तरह कविता भी। कविताएं लिखने के पीछे जिस मूलशक्ति

की बात आपने कही है वह शब्दों और चीज़ों और लोगों के साथ एक खास तरह का भाषाई बर्ताव या व्यवहार, या उनके बीच एक खास मनःस्थिति का मुक्त रमण है जो शब्दो के साथ खेलता भी है और उन्हे एक योजना में व्यवस्थित भी करता है।

मैंने भाषा और शब्दो के प्रति अपनी अनुभूतियों, चिंतन और प्रतीतियो को बिलकुल खुला रखा है—उन्हें शब्दों की संपूर्ण उपलब्ध संपदा के बीच, कविता करते समय बिलकुल उन्मुक्त विचरण करने दिया है, बिना यह माने क कविता की कोई खास भाषा होती है या होनी चाहिए। कविता की वही विशेष भाषा है जो एक कविता विशेष के संपूर्ण रचनात्मक तर्क और विवेक से निकलती हो। इस अर्थ मे वह स्वयसिद्ध अस्तित्व भी है और सार भी आत्मजयी मे मैंने उर्दू से लेकर वैदिक तक, कई प्रकार के शब्दो और भाषा-प्रकारो को लिया है क्योंकि मैं यह नही मान कर चला हूं कि आत्मजयी मे उपनिषद् कालीन भाषा ही हो क्योंकि वह एक उपनिषद्-कालीन प्रसंग पर आधारित है। अगर हमारा आज का सपूर्ण भाषा-बोध या भाषा-संस्कार वैदिक भाषा से लेकर उर्दू तक से जुडा है तो उसके इस अस्तित्व को प्रामाणिक माना जाना चाहिए। इसीलिये मैंने भारतीय इतिहास और संस्कृति मे भी बाहरी या विदेशी प्रभावों को कभी भी इस तरह नही लिया कि मानो उन्हें बिलकुल अलग करके किसी विशुद्ध भारतीय अतीत या संस्कृति की कल्पना की जा सकती है! ईरानी, ग्रीक, मुस्लिम, अंग्रेज़ी इन सभी प्रभावो ने अपनी तरह भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया और उससे प्रभावित हुए। इन प्रभावों को आरोपित न मानकर म्यूटेशनल मानना शायद ज्यादा ठीक होगा। इससे भारतीयता की पहचान खोती नही, और समृद्ध होती है। कविता मे भी मेरी दृष्टि भारतीयता की इसी समृद्धतर पहचान पर रहती और अपनी रचनात्मकता मे वह एक विस्तृत तथा व्यापक भाषा-बोध के स्पर्श को महसूस करते रहना चाहती है। इसीलिए कविता मेरे लिए केवल एक अनुभव या भाव की अभिव्यक्ति मात्र नही है, वह एक ज्यादा फैले और ज्यादा गहरे 'भाषाई जगह' (लिंग्विस्टिक स्पेस) की रचना या खोज भी है। काफी तरह की कविताएं लिखने के पीछे भी यही कोशिश रही है। साथ ही कई तरह की कविताएं लिखने के पीछे कई तरह के अन्य कारण भी रहे हैं। कुछ कविताएं तो बिल्कुल हल्के-फुल्के ढंग का खिलवाड है—शब्दों, तुकों, छंदों आदि के साथ खिलवाड, जिसमे कभी-कभी शायद किसी गंभीर सच्चाई तक अनायास पहुंच जाने की संभावना पर भी नज़र रही है। मेरी गंभीर रचनाओं की यदि एक काल्पनिक आधार रेखा मानी जाये, तो कम गंभीर या अगंभीर रचनाओं का ग्राफ उसके समानांतर भी चलता है और कविता में कभी-कभी

उससे बिलकुल अलग अवकाश के क्षणों में भी। मुझे गंभीर और अगंभीर तत्व इसी तरह मिले-जुले लगते हैं तथा एक स्तर पर मैं सरवान्ते, रेबले, स्विफ्ट, वोल्तेअर आदि की कृतियों को अत्यंत गंभीर और ट्रैजिक एहसास की रचनाएं मानता हूं।

आप जिस प्रक्रिया को इन्क्यूबेशन कह रहे हैं, वह अनायास और सायास दोनों होती हैं। विज्ञान की ही भाषा में कहूं तो कुछ-कुछ इस तरह : समझ लीजि एकि कुछ शब्द, बिम्ब, ध्वनियां, विचार या भाषाखंड कविता के मूल-कारण की तरह हो सकते हैं—उन्हें भाषा की परिचित व्यवस्था मे छोड़ देता हूं : धीरे-धीरे एक कविता में क्रिस्टलाइज होने के लिए। किसी हद तक यह प्रक्रिया अनायास कही जा सकती है और चॉमस्की के जेनेरेटिव सिद्धांत से *मिलती-जुलती है। बाद में कविता के इस बड़े क्रिस्टल को निकाल कर तराशने* और चमकाने का काम होता है। जिससे पूरी तरह सचेतन प्रयास माना जा सकता है। अपने अंतिम रूप में आने तक कविता कई तरह के परिवर्तनों से गुजरती है। हो सकता है जिसे हम अपनी दृष्टि में अंतिम रूप मानते हैं वह *भी कविता का कोई अपूर्ण रूप ही हो।* इसीलिए मुझे *पौलवेरी के इस कथन में बहुत सच्चाई लगती है कि "एक कविता कभी भी पूरी नहीं होती, वह हार* कर बीच मे ही छोड़ दी जाती है।"

वैसे इन्क्यूबेशन से आपका अभिप्राय क्या उस समय से है जब कविता *अपना रूप ले रही हो या उस समय से जब किसी महत्वपूर्ण कविता पर काम* न हो रहा हो ?

> 'इन्क्यूबेशन' शब्द मैंने सिर्फ इस बात को जानने के लिए इस्तेमाल किया कि आप अपने 'कई तरह के लेखन' को खुद अपने यहां कैसे और किस फ्रेमवर्क में देखते हैं। उसे आपने स्पष्ट कर दिया है। लिखने के पीछे की 'मूल शक्ति' कहकर मैं स्वयं चॉम्स्की के भाषा-शास्त्र 'के मूल ढांचे' के संदर्भ का इस्तेमाल कर रहा था। वैसे 'इन्क्यूबेशन' का अर्थ अगर किसी 'रचना के विकास' के संदर्भ में हम लें, तो 'आत्मजयी' के बारे में मैं अलग से जानना चाहूंगा। मुझे ध्यान आ रहा है कि आपने एक बार जिक्र किया था कि मृत्यु के कुछ 'निर्णायक अनुभवों' से आप गुजरे हैं। 'आत्मजयी' को अंतिम रूप देने में आपने कितना समय लिया और उसे आप आज किस तरह से देखते हैं ?

कभी-कभी मुझे लगता है कि मनुष्य मृत्यु से भी अधिक भयानक परिस्थितियों

को जी डालता है—और शायद मृत्यु का भय या आशंका भी उन्ही विषम परिस्थितियों में से है जिन्हें मनुष्य बराबर जीता रहता है। कभी-कभी यह भय इतना समीप से गुजरता है कि उसकी कल्पना उसके यथार्थ से भी अधिक भयानक बन जाती है। मैंने इस अनुभव को पहली बार जब भरपूर जाना तब यह सोच भी नही सकता था कि उसका नतीजा आत्मजयी जैसी कृति होगी। आत्मजयी उस भय से सामना भी है और शायद एक दूसरे मनोवैज्ञानिक या आत्मिक स्तर पर उस भय से किसी सीमा तक छुटकारा भी! नहीं, मैं आध्यात्मिक बात नही कर रहा—आत्मजयी मे भी नही की है—शुद्ध रूप से व्यावहारिक मनोविज्ञान की बात कर रहा हूं। उन भयावह कल्पनाओ (हॉरिबल इमेजिनिंग्स) की बात कर रहा हूं जो कभी-कभी हमारी वर्तमान आकांक्षाओं से भी ज्यादा बढ-चढ कर होती हैं। बहुत थोडे समय के अंदर पहले मां, फिर बहन की असमय मृत्यु…फिर उन दोनो की मृत्यु को मानो रेखांकित करती हुई एक तीसरी मृत्यु का अत्यंत निकट से गुजरना… उसके बाद शायद कभी-भी फिर न तो जीवन पूरी तरह आश्वस्त कर सका, न मृत्यु पूरी तरह आतंकित!

तो यह भय या चिंता ही, अस्तित्व के खिलाफ मृत्यु की इस लगातार उपस्थिति का आतंक ही, आत्मजयी की मुख्य चिंता, मूल कारण, रहा है जिसने पौराणिक से लेकर आधुनिक विचारो/तथ्यों के बीच विचरण करते हुए कुछ काव्य-तत्वों को अपने इर्द-गिर्द इकट्ठा किया। इस शुरुआत तथा आत्मजयी के अपने अंतिम रूप में आने के बीच एक लंबा अंतराल है—शायद दो-तीन वर्षो का। इस बीच इसमें काफी परिवर्तन और संशोधन होते रहे। शायद अंतिम रूप कहना गलत होगा—वह बीच में छपने दे दिया गया—कहना ज्यादा ठीक होगा!

> कविता और आलोचना का संबंध आपकी पीढ़ी में काफी स्पष्ट हो चुका था। इसके पीछे अंग्रेजी और यूरोपीय साहित्य से अच्छे परिचय की पृष्ठभूमि ने काम किया है या हिंदी कविता के विकास की अपनी जरूरतों ने इसे अनिवार्य बनाया? स्पेंडर आदि कवि-आलोचक यह मानते रहे हैं कि बीसवीं शताब्दी का साहित्य चूंकि बराबर जटिल होता रहा इसलिए आलोचना का काम बहुत महत्वपूर्ण हो गया। आप अपनी लिखी आलोचना को अपनी लिखी कविता की 'व्याख्या' के रूप में भी देखते हैं या वे बहुत नहीं तो काफी हद तक स्वतंत्र हैं?

इस सदी के समीक्षात्मक चिंतन का विशेषकर प्रतीकवादियों, टी० एस०

एलियट, एज़रा पाउंड, ऑडेन, एंपसन आदि का गहरा असर इस युग की कविता बल्कि अनेक कलाओ पर भी पडा है। यह असर केवल यूरोपीय कविता तक सीमित नही रहा बल्कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संसार की सभी भाषाओं की कविता पर पडा। हिंदी कविता भी उससे अछूती नहीं रही—खास तौर पर उसका फॉर्म। १९४९-५० मे मैंने कई प्रतीकवादी कवियों के अनुवाद किये थे। मलार्मे की कुछ कविताओ के अनुवाद उस समय प्रतीक पत्रिका में छपे भी थे। उन्ही दिनो इमेजिस्ट मूवमेंट पर भी एक लेख लिखते समय टी० ई० ह्यूम, एज़रा पाउंड आदि की कुछ कविताओ का अनुवाद किया था। लेकिन जैसा कि मैंने अन्यत्र भी एक लेख मे कहा है, रचनात्मक साहित्य से ज्यादा शायद समीक्षात्मक साहित्य ने इस सदी की कविता को प्रभावित किया—विशेषकर उस समीक्षा ने जिसका संबंध प्रमुख रूप से रचनाकारो से रहा, विशुद्ध साहित्य-शास्त्रियो से नहीं। भारतीय विश्वविद्यालयों की दृष्टि मुख्य रूप से अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों पर रहती थी और इस कमनिगाही का असर छायावाद पर भरपूर देखा जा सकता है: यूरोपीय साहित्य के बारे मे कोई महत्वपूर्ण जानकारी लगभग नही के बराबर रहती थी। मेरी अपनी धारणा यह है कि भारतीय चिंतन पद्धति और कल्पना अंग्रेजी की अपेक्षा यूरोपीय मन से अधिक निकट पडती है। अनुवाद करते समय भी मुझे यही लगा कि अंग्रेजी कवियो की अपेक्षा यूरोपीय कविताओ का अनुवाद करना अधिक आसान और संतोषप्रद, दोनों था। हिंदी साहित्य का अगर पूरे-यूरोपीय साहित्य से और गहरा संपर्क रहा होता, तो शायद हिंदी कविता के विकास का स्वरूप बिल्कुल भिन्न होता। वह छायावाद के बाद भिन्न हुआ इसके पीछे विश्व साहित्य की ज्यादा गहरी जानकारी तो है ही, साथ ही इसे मैं हिंदी कविता की अपनी ज़रूरत भी समझता हूं कि वह अब नये फॉर्म और कंटेंट की तलाश मे न केवल एक ओर तो अंग्रेजी से आगे विश्व साहित्य के प्रति सवेदनशील थी बल्कि अपने इतिहास और परंपरा के बारे में भी ज्यादा बड़ी प्रामाणिक पहचान खोज रही थी जो हमे छायावादी युग मे मिलती है।

मेरे लिए समीक्षा का स्वरूप रचनात्मक भी है और विवेचनात्मक भी। मेरे लिए वह एक कृति के साथ चिंतन भी है और उसके विरुद्ध चिंतन भी। समीक्षा के लिए एक कृति का चुनाव करते समय मैं इस साथ चिंतन को प्राथमिकता देता हू: अगर कृति मे इस साथ चिंतन की गुजाइश नही है, या कम है तो उसके विरुद्ध चिंतन भी अप्रासंगिक हो जाएगा और कृति का अपना महत्व ठीक से स्थापित न हो सकेगा। समीक्षा मे अपने लिए एक मुश्किल आदर्श सामने रखता हूं—तथ्यों को इकट्ठा करने मे एक वैज्ञानिक का सलीका और लगन हो, उनके विश्लेषण और संश्लेषण में एक दार्शनिक की सतर्कता

और तटस्थता हो तथा संपूर्ण कृति के प्रति एक साहित्यिक की संवेदना और सहानुभूति हो। इस सदी की समीक्षा मुझे इस माने मे अधिक गहरी लगती है कि उसका आधार विशुद्ध रूप से साहित्यिक न होकर कई समीपवर्ती विषयों और चिंतन प्रणालियों (मेथडोलोजीज) से प्रभावित है। मगर यह एहतियात जरूरी है कि समीक्षा पर साहित्य की अपनी छाप स्पष्ट और प्रमुख हो : वह दूसरे प्रभावो मे दब न जाये। जैसे, फ्रांकफुर्त स्कूल की साहित्यालोचना मे 'आलोचना' (क्रिटीक) शब्द का व्यापक मतलब साहित्य के संदर्भ मे नयी तरह क्रियाशील और प्रतिष्ठित होता है, मार्क्सवादी दृष्टिकोण को एक नया परिप्रेक्ष्य और विस्तार देते हुए। इसी तरह अस्तित्ववादी चिंतन के प्रभाव मे सार्त्र की समीक्षा है और वह जो जनेवा स्कूल की समीक्षा के नाम से जानी जाती है। इसी तरह समीक्षा की संरचनावादी पद्धति जो भाषाशास्त्र से जुड़ी है। इंग्लैंड मे **विश्लेषणवादी विचारधारा** (एनालिटीकल फिलासफर्स) का प्रच्छन्न प्रभाव समीक्षा शैली पर रहा है'' इसी तरह समाजशास्त्र, मनो-विज्ञान, पुराकथा-शास्त्र आदि अनेक विषय हैं जिनके द्वारा आज की साहित्यिक समीक्षा समृद्ध हुई है तथा कविता के अन्य कलाओं और विषयो के साथ अंतर्संबधों की गहरी छानबीन हुई है। इस माने मे कहा जा सकता है कि आज *कविता की ही तरह समीक्षा का काम भी पहले से कही अधिक जटिल हो* गया है। इसे मैं एक चुनौती के रूप मे भी मानता हूं और इसके सफल निर्वाह को एक खास तरह की उपलब्धि थी।

रचनाकार द्वारा की गई समीक्षा इस माने मे विशुद्ध साहित्य-शास्त्री की समीक्षा से भिन्न होगी कि उसमे रचनात्मक दृष्टि का बचाव प्रमुख होगा। जब भी एक रचनाकार किसी दूसरी कृति को सोचे-विचारेगा उसके दिमाग में वे समस्याएं आयेंगी जिनका सबंध एक कृति के निर्माण से, उसके शिल्प से, उसकी बनावट, उसके अस्तित्व, उसकी सरचना आदि से होता है। एक कृति के निर्माण की शर्तें उस कृति के विवेचना और मूल्यांकन की शर्तों से भिन्न होती है। समीक्षा मे दोनों ही जरूरी है लेकिन कवि समीक्षक की दृष्टि शायद पहली शर्त को दूसरी की अपेक्षा ज्यादा महत्व देती है। एक रचनाकार की हैसियत से मैं काफ्का और ठोमस मन्न की कृतियों के बीच उस तरह भेद नहीं कर सकूंगा जिस तरह लूकाच कर सके। लूकाच अपने विचारो को प्रमुखता देते है और उन विचारों की सफाई तथा पुष्टीकरण के लिए काफ्का और मन्न को उदाहरण की तरह इस्तेमाल करते है। मैं इस तथ्य को महत्व दूगा कि काफ्का और मन्न दो भिन्न तरह की रचनात्मक चेष्टाएं है तथा जीवन के दो भिन्न तरह के अनुभवों का नतीजा है। उनका मूल्य, उनकी जीवंतता इसी भिन्नता में है न कि किसी एक विचारधारा को पुष्ट कर सकने में। *मैं मानता हूं कि*

साहित्य उन सच्चाइयों मे से है जो जीवन की विविधता से उसके साथ सीधे और घनिष्ठ व्यवहार से निकलती है : उसकी प्रामाणिकता इस पर नहीं निर्भर करती कि वह किसी एक विचार की दलील या प्रमाण हो।

इन मानों में आप कह सकते हैं कि मेरी आलोचना मेरी रचनात्मकता का एक हिस्सा है, मेरी रचनात्मकता मेरी आलोचना का हिस्सा नहीं। लेकिन एक अच्छे रचनाकार के एक अच्छे आलोचक होने को मैं एक दूसरी तरह भी महत्व देता हूं—कि वह अपनी कृतियों का कितना अच्छा आलोचक है! मै खुद अपने लिखे हुए को तुरंत छपाना कभी पसंद नही करता, क्योंकि उस कृति के साथ एक भावनात्मक लगाव-सा होता है जिसके रहते उस कृति को तटस्थता से नही जांचा जा सकता। कुछ समय बाद ही उसे एक आलोचक की तटस्थता से देखा जा सकता है। इसीलिए मेरी बहुत-सी रचनाएं तो इसी आलोचक के इंतजार मे पडी रह जाती हैं! और भी ज्यादा शायद पास नहीं हो पाती। कभी-कभी सोचता हूं कि खराब रचनाकार हूँ या खराब आलोचक? या दोनों ही तो नही जो आपस मे झगडते रहते हैं?

> एक बार 'दिनमान' में स्व० ओमप्रकाश दीपक ने (शायद वह टिप्पणी उनके नाम से नहीं छपी थी) यह बात लिखी थी कि अगर भारत फ्रांसिसियों का उपनिवेश होता, तो हमें शायद अधिक लाभ होता। फ्रांसीसी भाषा से मूल पढ़ने के लाभ में स्वीकार करता हूं : अंग्रेजी में अनेक महत्वपूर्ण कृतियों के अनुवाद या तो ठीक नहीं हुए या हुए ही नहीं। वैसे यह भी है कि फ्रांसीसी लोग इतने अभिमानी हैं कि वे अक्सर अंग्रेजी सीखना ही नहीं चाहते। यह भी सही है कि आज हमें होलुब, होलान, अत्तला योझेफ़, वेंट्ट, वास्को पोपा जैसे तमाम यूरोपीय कवि अंग्रेजी कवियों की तुलना में अधिक निकट दिखते हैं। पर क्या आपको यह बात गौर करने की नहीं लगती कि हिंदी में पिछले कुछ वर्षों में पूर्व यूरोपीय तथा दूसरे ग़ैर-अंग्रेजी-भाषी देशों की कविताओं के अनुवाद इसलिए अधिक हुए हैं कि उनके अंग्रेजी अनुवाद आसानी से उपलब्ध हैं। रॉबर्ट लॉवेल, टेड ह्यूज, सिल्विया प्लाथ, जोन बेरीमैन जैसे अच्छे कवियों की मूल अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद क्यों नहीं हो पाये? मैं नहीं समझता कि इसका संबंध सिर्फ 'भाषाई जरूरतों' से है। भारतीय चिंतन पद्धति और कल्पना अंग्रेजी की अपेक्षा यूरोपीय मन के अधिक निकट होने वाली बात आपने भी उठायी है। क्या आप इसे और स्पष्ट करेंगे?

दो या दो से अधिक देशों की चिंतन पद्धति के फर्क को साहित्य-चिंतन पर विशेष रूप से देखा जा सकता है। 'अस्तित्ववाद' जैसे दर्शन की कल्पना इंग्लैंड की जमीन पर मुश्किल से की जा सकती है : उसी तरह विश्लेषणात्मक चिंतन पद्धति (एनॅलिटिकल) की कल्पना योरप या भारत में मुश्किल लगती है। वस्तु-ज्ञान या फिनॉमिनॉलोजी का स्वरूप भी अस्तित्ववाद या भारतीय चिंतन में उस तरह के भौतिकवादी या वस्तुवादी चिंतन से भिन्न है जिसे हम विज्ञान में या अमेरिकी उपयोगितावाद (प्रैगमैटिज्म) में पाते हैं। संसार को मूल नहीं, संसार को अनुभव करने वाली चेतना को मूल मानना कहीं न कहीं योरपीय विचार को भारतीय विचार के निकट लाता है—कविता, योरपीय कविता, मुझे इस मानसिकता की अभिव्यक्ति लगती है—ठीक उसी तरह की अंग्रेजी अमेरिकी कविता की मानसिकता वैसी नही लगती। इस ओर भी ध्यान खींचना चाहूंगा कि केवल साहित्य ही नही भाषा का गठन भी इन दो तरह की मानसिकताओं की अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए शायद हिंदी में अनुवाद करते समय वर्ड्सवर्थ जैसे कवि के भी विचार नहीं, उसके भाषा की गठन, शब्द-विन्यास आदि मुख्य समस्या बन जाते हैं।

जहां तक अंग्रेजी अनुवादों से हिंदी में अनुवाद करने की समस्या है वहां यह जरूर है कि अनुवाद की अनेक कठिनाइयां मूल से अंग्रेजी में अनुवाद करते समय बहुत कुछ छन जाती हैं और फिर उस अनुवाद का हिंदी रूपांतर उतना मुश्किल नही रह जाता जितना मूल से सीधे अनुवाद।

थोड़ा विषय बदल रहा हूं। संगीत के आप काफ़ी शौकीन रहे हैं। 'संगीत सभाओं' में जाने से लेकर घर पर भी आप कार्यक्रम करते रहे हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत में आपकी जो गहरी दिलचस्पी है उसे क्या आप अपने लेखन से भी जोड़ना चाहेंगे ? बल्कि मैं यह जानना चाहता हूं कि सिर्फ संगीत की ही हम बातें करें—दुनिया भर के संगीत की—तो आप पश्चिमी शास्त्रीय संगीत में अगर भारतीय शास्त्रीय संगीत के बराबर की दिलचस्पी नहीं रखते है, तो इसके पीछे क्या हमारे यहां पश्चिमी शास्त्रीय संगीत के 'एक्सपोज़र' की कमी है या और दूसरे महत्वपूर्ण कारण भी हैं ? वैसे तो 'एक्सपोज़र' की कमी वाला कारण आप पर लागू नहीं होना चाहिए क्योंकि इस हालत में आप देखेंगे कि हमारे यहां योरपीय साहित्य, पेंटिंग, थियेटर का भी 'एक्सपोज़र' ज्यादा नहीं है पर इन सबमें रुचि विकसित की ही जाती है ? संगीत के बारे में आपसे इसलिए भी सवाल पूछ रहा हूं चूंकि प्रसिद्ध मानवशास्त्री

क्लोद लेवी-स्त्रोस ने एक बार कहा था, "संगीत, भाषा और मिथक-शास्त्र में पहचाना जाने वाला संबंध है। भाषा के दो अंग, ध्वनि और अर्थ संगीत को अर्थ-रहित ध्वनि तथा मिथक-शास्त्र को ध्वनि-रहित अर्थ बनाते हैं। शायद आप समझ सकेंगे कि मैं लेवी-स्त्रोस को यहां उद्धृत कर रहा हूं। मिथक-शास्त्र में आपकी गंभीर दिलचस्पी रही है। मिथक-शास्त्र को लेकर हाल में जो काम हुए हैं उनसे वाकिफ़ होने के बाद आपकी संवेदना पर कोई खास फर्क पड़ा है?

भारतीय संगीत मे गहरी दिलचस्पी और उससे तृप्ति भी एक कारण है कि उतनी ही गहरी दिलचस्पी दूसरे संगीत मे नही ले सका। पश्चिमी संगीत का विस्तृत और विविध ध्वनि-संसार आकर्षित करता है तथा उसमे भी दीक्षित होने की संभावना को 'रूल आउट' नही करता—लेकिन ऐसा जरूर लगता है कि शायद पाश्चात्य संगीत को लेकर उतना घनिष्ठ कभी भी नही हो सकूंगा जितना भारतीय संगीत के प्रति हू। भारतीय संगीत ने बचपन से ही जिस तरह संगीत के प्रति एक शौक को रचा और बढ़ाया है—उसके पीछे केवल कोशिश नही है—संगीत, संगीतकारो और संगीत-प्रेमियों का वह निकट सपर्क भी है जो शायद पश्चिमी संगीत के मामले मे मुझे नहीं मिल सका। एक शौक के परिष्कार मे मैं इस तरह के 'एक्सपोजर' को भी महत्व देता हूं। संगीत और प्रदर्शन कलाओ के मामले मे तो खास तौर पर कि वह मात्र 'सुनने' या 'देखने' से ही नहीं बनता और पनपता : उसी तरह की रुचि वालो के साथ हिस्सेदारी से उसके प्रति रुचि और समझ बढ़ती है। किताब पढना, चित्रकला या फिल्म देखना हमें किसी हद तक दूसरों की उपस्थिति से बेगाना करती है जबकि संगीत या नृत्य की तैयारी और प्रदर्शन दोनो ही दर्शक की घनिष्ठ उपस्थिति को पूरी तरह आत्मसात किए हुए होते हैं। हम यहां कलाकार की तैयार की हुई 'चीज' को नही देखते या सुनते, हम कलाकार को अपनी चीज पैदा करते हुए देखते या सुनते हैं। प्रदर्शित की जाने वाली कलाओ तथा अन्य कलाओ मे थोड़ा अंतर है। संगीत या नृत्य के प्रदर्शन मे कलाकार की 'मौजूदगी' का खासा महत्व होता है : उसी तरह अच्छे-बुरे दर्शक की 'मौजूदगी' से भी कला के प्रदर्शन पर फर्क पड़ता है। जिस तरह प्रदर्शन मे कला और कलाकार अभिन्न हैं उसी तरह एक दूसरे स्तर पर दर्शक और प्रदर्शक भी लगभग अभिन्न हैं और एक-दूसरे की रुचि पर अच्छा-बुरा असर डालते हैं। इधर पाश्चात्य देशों में भारतीय संगीत के प्रति रुचि बढ़ने लगी है उसके पीछे भी शायद पं० रविशंकर, अली अकबर खां आदि के प्रदर्शनों और

उनकी वहा उपस्थिति का काफी हाथ रहा है। रेकार्ड वगैरह तो पहले भी थे लेकिन भारतीय संगीत उस तरह विदेशो मे प्रिय नही हो सका जिस तरह इधर कुछ वर्षों मे हुआ है। इस लोकप्रियता को आप आसानी से भारतीय संगीतकारों के 'प्रदर्शनों' मे जोड सकते है। भारत मे मैंने पाश्चात्य सगीत की इस तरह की 'उपस्थिति' को कभी नही महसूस किया। विदेशो मे जरूर थोड़ा-बहुत संगीत सुनने का मौका मिला—लेकिन वहा मौका ही मिला था इतना अवकाश नही कि पाश्चात्य संगीत से घनिष्ठ हो पाता। यहा मैं उन कलाओ की बात नही कर रहा हू जिनके साथ एक कलाकार का 'प्रदर्शन-कारी' व्यक्तित्व नही जुड़ा होता और जिन्हें एक कलाकार खपत के माल की तरह 'रच' या 'बना' कर उस (कला) मे अपने को अलग (एलीनियेट) कर लेता है। मैं उन कलाओं की बात कर रहा हूं जिनका मूल अस्तित्व कलाकार के 'प्रदर्शन' के साथ जुडा होता है भले ही बाद में इस 'प्रदर्शन' का एक हिस्सा हमे रेकार्ड, फिल्मो, रेडियो या कैसेट द्वारा 'रचे हुए माल' की तरह उपलब्ध हो जाये।

मिथक-शास्त्र मे मेरी रुचि पहले थी, लेवी-स्त्रोस मे (उसके कारण) बाद में हुई। टी० एस० एलियट के 'वेस्ट लैंड' के साथ ही फ्रेजर के 'गोल्डेन' बाउ' तथा मिथकों ने कवियों और लेखको का ध्यान आकर्षित किया था। मिथको में रुचि के पीछे भारतीय पुराकथाओं की अथाह संपदा का आकर्षण तो बचपन से था ही, लेकिन युग के विचारो तथा बमाड बाडकिन की दो पुस्तकों 'आरकीटाइपल पैटर्न्स इन पोएट्री' तथा 'स्टडीज ऑव टाइप इमेजेज इन पोएट्री, रेलीजन एंड फिलासफी' ने मिथको की काव्यात्मक संभावनाओं की ओर विशेष रूप से आकर्षित किया था। और भी कई पुस्तकें रही है···

संगीत मे, तथा दूसरी कलाओं मे भी, रुचि ने मेरी साहित्यिक संस्कृति को कई स्तरो पर समृद्ध किया है। जैसा कि लेवी-स्त्रोस ने कई जगह कहा है कि हर कला अपने आप मे एक भाषा होती है—इन भाषाओं से साहित्य का एक सार्थक और रचनात्मक संवाद मुझे अच्छा भी लगता है और जरूरी भी: मिथक, संगीत, नृत्य आदि कलाएं भाषा की तरह संप्रेषणीय नही हैं। ध्वनिया द्वारा एक सगीतकार जो कुछ कहना चाहता है उसका बहुत कुछ अर्थ सुनने वाले की व्याख्या पर निर्भर करता है जबकि भाषा का अर्थ पूरी तरह कहने वाले पर निर्भर करता है। लेवी-स्त्रोस भाषा को एक तरह से कविता का 'कच्चा माल' मानते है। कविता उस समय सगीत या मिथक की अवस्थाओ के निकट होती है जब वह 'शब्दों' को उनके प्रचलित भाषाई संदर्भों से विचलित करके एक नया कविताई संदर्भ दे रही होती है यानी भाषा से कला बन रही होती है। इसे ही लेवी-स्त्रोस ने कविता की 'अलग भाषा'

(मैटा लैंग्वेंज) कहा है।

शब्द और संगीत के बीच संबंध की चिंता मलार्मे तथा अन्य प्रतीकवादियों ने भी की थी वागनर के संगीत के गुण कहां तक उनकी (मलार्मे की) कविताओं में आ सके नहीं कह सकता पर इस कोशिश मे अर्थ की दृष्टि मे उनकी कविताएं कहीं-कहीं बिल्कुल दुरुह हो गयीं। फिर भी इस दिशा में चिंतन ने प्रतीकवादी कविता मे एक ऐसा गुण अवश्य पैदा किया है जिसमें संगीत के उत्कृष्ट क्षणों की मिठास और रहस्यात्मकता का आभास है। 'चक्रव्यूह' की अनेक कविताओं मे मैंने इस प्रकार के अनुभवों को पकड़ने की कोशिश की है और शायद उनके पीछे कहीं भारतीय संगीत की यादें भी रही हों। इस संबंध मे एक बात ध्यान देने की है। प्रतीकवाद ने हमें उत्कृष्ट कविता दी है। लेकिन वह हर दृष्टि से आदर्श कविता नहीं है : प्रतीकवादियों के अपने ही सिद्धांतों की दृष्टि से भी आदर्श कविता नहीं है। कलाओं को लेकर एक सीमा तक ही सिद्धांतों का आग्रह होना चाहिए। भिन्न कलाओं में समान तत्वों की खोज वहां तक तो जरूरी है जहां तक वह किसी कला की प्रकृति और विशेषता को समझा सकने मे मदद करे लेकिन एक सीमा के बाद इस धुन की ज्यादती हमें ऐसे निथारवादी (रिडक्शनिस्ट) नतीजों पर पहुंचा दे सकती है जहां कला से ज्यादा कला के चीरफाड करने वाले औजारों की और चतुराई की चकाचौंध हो!

'प्रदर्शन' वाली बात मे मैं एक हद तक सहमत हूं हालांकि विदेशों में भारतीय शास्त्रीय संगीत में—रवि शंकर आदि के संगीत में दिलचस्पी बढ़ने के कई दूसरे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण हैं। मिसाल के लिए बीटल गायकों द्वारा जो नुस्खे अपनाये गये उनके पीछे एक तरह की सतही आध्यात्मिकता का बाजार बनाना भी कारण था। जैसे जॉर्ज हैरिसन के 'विदिन यू विदाउट यू' शैली के संगीत का भवज न होते हुए भी मैं उन्हें सुनना पसंद करता हूं। बीटल गायकों ने ही दरअसल सितार का तथाकथित 'नापसी में उपनिवेशवाद' संभव किया (अवां गार्द संगीतकार पियरे बूले के मुहावरे में)। प्रदर्शन की सफलता इस क्रेज का विस्तार भी है। एक तरह का 'सुझाव'। दिल्ली में रहते हुए मैंने पश्चिमी शास्त्रीय संगीत के कई कार्यक्रम सुने हैं। सांस्कृतिक आदान-प्रदान कार्यक्रमों के अंतर्गत विदेशी कलाकार आते ही रहते हैं। मैं स्वीकार करता हूं कि इनसे मैं पश्चिमी संगीत को बेहतर ढंग ग्राह्य कर सका हूं। पर फिर भी मैंने अधिकांश पश्चिमी शास्त्रीय संगीत रेकार्ड और रेडियो के

माध्यम मे सुना और पसंद किया और भारतीय शास्त्रीय संगीत से उसकी अलग शक्ल को पहचानते हुए भी जो सवाल अक्सर मैंने सोचा है वह यह है कि अगर कोई व्यक्ति 'टोन डेफ़' नहीं है, तो क्या उसके द्वारा किसी एक संगीत के प्रति थोड़ी या पूर्ण उदासीनता दिखा सकना तार्किक है ? यहां मैं, ज़ाहिर है 'उदासीनता' शब्द आपके संदर्भ में इस्तेमाल नहीं कर रहा हूं।

संगीत में पूरी तरह डूबना और डूब कर संगीत का आनंद लेने की बात कह रहा था, यों जैसा कि मैंने आरंभ मे ही कहा, पाश्चात्य संगीत का विस्तृत एवं विविध ध्वनि संसार मुझे आकर्षित करता है—लेकिन उसी स्तर पर नही जिस स्तर पर भारतीय संगीत और भारतीय संगीत मे भी उत्तर-भारतीय संगीत, अगर हम थोडी देर के लिए कर्नाटक संगीत को भी पाश्चात्य संगीत की ही तरह एक भिन्न प्रकार का संगीत अनुभव मान कर चलें। यह मेरी अपनी सीमा हो सकती है कि मैं संगीत के गहरे अनुभव को विस्तृत अनुभव से कुछ अलग और कुछ अधिक संतोषदायक पाता हूं। विस्तार में जाने के पीछे भी अक्सर गहरे को पाने की खोज रहती है। और इस गहरे को जब मैं एक प्रकार के संगीत में अपने लिए पहचानता और परिभाषित करता हूं तो उसका यह अर्थ नही कि उसे दूसरे किसी प्रकार के संगीत में लोकेट करना असंभव है।

जहां तक विदेशों में भारतीय संगीत के प्रचार की बात है, आप ठीक कह रहे है, उसका संबंध कला के संस्कारों से उतना नही जितना पाश्चात्य उपभोक्ता सभ्यता के गहरे व्यापारिक संस्कारों से है। लेकिन जिन्हें हम किसी एक प्रकार के संगीत का विशेषज्ञ कहेंगे उनके लिए भी शायद संसार के हर प्रकार के संगीत का आनंद ले पाना उस तरह संभव नही हो पाता जिस तरह एक चित्रकार या साहित्यकार के लिए संसार की अधिकांश कला-कृतियों का साहित्यों में गहरी रुचि ले पाना संभव होता है या कम-से-कम सैद्धातिक स्तर पर संभव है। जिस तरह 'शब्दों' के स्वतंत्र अर्थ होते हैं—भाषा के बावजूद—उस तरह स्वतंत्र स्वरों के एक संगीत रचना से अलग कोई अर्थ नही होते। स्वरों का अर्थ उस कृति विशेष की संरचना के साथ जुड़ा होता है जिसे हम एक निश्चित संगीत-रचना मानते हैं। संगीत का अर्थ हम तक स्वरों की इकाइयों के अर्थ द्वारा नही पहुंचता बल्कि उसे हम एक परिचित ध्वनि के रूढिगत व पूरे ऐतिहासिक संस्कारों के संदर्भ में ग्रहण करते है। ये ध्वनि संस्कार बहुत कुछ स्वाभाविक भी होते हैं और बहुत कुछ बाद मे बनाए हुए भी। लय, स्वर, ताल, ध्वनियों आदि की अनेक गतियां और मात्राएं स्वाभाविक रुप से अवयवी होती हैं

जिसकी गूज-अनुगूज हम सभी देशो के आदि संगीतों और नृत्यों में पाते हैं। लेकिन जिसे हम शुद्ध रूप से शास्त्रीय संगीत कहेंगे वह मुख्यतः संस्कारी संगीत होता है—वे सस्कार जिसके प्रति एक्सपोज़र की बात मैंने शुरू मे उठाई थी और जिसको लेकर मेरी भारतीय संगीत मे रुचि शुरू हुई थी। ये संस्कार भारतीय संगीत की जगह पाश्चात्य सगीत को लेकर भी बन सकते थे। कोशिश करने से आज भी बनाए जा सकते हैं लेकिन दोनों प्रकार के संगीतों में समान रूप से हिस्सा लिया जा सकता है इसमें मुझे संदेह है। मैं कम-से-कम अपने को असमर्थ पाता हूं।

फिल्में काफी देखने की आपकी आदत से भी मैं भली भांति परिचित हूं। जिसे कला फिल्म कहा जाता है उसके अनुभव को हम यहां छोड़ भी दें तो ज्यादा और फिल्म देखने की आदत पर देना चाहता हूं। वेस्टर्न और जेम्स बांड की फिल्में आप काफी शौक से देखते रहे हैं। आप दंगल देखने जाना भी पसंद करते हैं। इन सभी शौकों के अंदर छिपी बातें मैं समझ कर ही यह जानना चाहता हूं कि आप इन अनुभवों को कैसे अपने रचनात्मक दिमाग का एक हिस्सा बनाते हैं ?

वह सबका सब जिसे जीता हूं जरूरी नहीं कि मेरी रचनात्मकता से ही जुडे। बहुत कुछ ऐसा भी होता है जो उस अवकाश से जुडता है जिसे मैं अपने लेखन या रचनात्मकता से लेते रहना जरूरी समझता हूं। लेकिन यह बात ठीक है कि फिल्मे देखना मेरे लिए एक दूसरे तरह का अनुभव भी है, वे फिल्में भी जिन्हें आप कला फिल्मो के वर्ग से बाहर रखते हैं। सुन्दर चेहरे की तरह एक स्वस्थ और सुन्दर शरीर की अपनी कविता होती है जो श्रम करते समय या सधी हुई गतिशीलता मे अभिव्यक्त होती है। जिसे हम भौतिक या शारीरिक या पार्थिव कहते हैं उसका अपना सौंदर्य होता है। प्राचीन ग्रीक सौंदर्य-बोध का एक छोर अगर होमर है, तो दूसरा छोर स्पोर्ट्स जिनमें हम शरीर की इस सौंदर्यशास्त्रीय लय, संतुलन, अनुपातो और समताओ को सहज ही पहचान सकते है। फूहड़, निर्दय और गंदी मारधाड़ और सैक्स वाली फिल्मो की बात छोड़ दें, तो आप देखेंगे कि ब्रूस ली की फिल्मों या टच ऑव ज़ेन जैसी फिल्मों के लडाई के प्रसंगो में नृत्य, ऑपेरा या बैले की सी खूबी और उदारता है। पाशविकता कभी-कभी हिंसा के बावजूद सौंदर्यरहित नहीं होती। हिरन पर झपटते एक बलिष्ठ सिंह के देह की कुशल सधी हुई, एकाग्र, और अचूक तन्मयता—इसका अपना जादू, कल्पना और त्रास होता है। (बोर्खेस ने अपनी दूसरा वाला बाघ और छुरा कविताओं मे इस सौंदर्य को बखूबी पकड़

है) मुकाबले की स्थिति में शरीर की अनेक हरकतें तर्क शक्ति द्वारा नहीं निदेशित होती; उन कृतियों द्वारा परिचालित होती हैं जिन्हें हम जैविक या पाशयिक कहते है। आयु बढ़ने के साथ यद्यपि तर्क शक्ति अधिक प्रौढ़ होती है लेकिन कार्यक्षमता घटती है क्योंकि वे रिफ्लैक्सेज शिथिल होते जाते हैं जो शारीरिक कार्यकुशलता का आधार हैं। शरीर की यह भाषा मुझे दिलचस्प लगती है।

मेरे इस शौक का एक पक्ष और भी है—शायद बिलकुल निजी। तत्काल से एक मिथक-काल में पलायन, कुछ उसी तरह से जैसे एक कला-काल या कथा-काल में पलायन होता है। संरचना की दृष्टि से एक जेम्स बांड या वेस्टर्न फिल्म का मिथकीय अस्तित्व एक साथ एबसर्ड की भी अनुभूति है और फंटास्टिक की भी। एक स्तर तक ये दोनों ही हमे हमारी मौजूदा जिम्मेदारियों के यथार्थ से कुछ समय के लिए छुटकारा दिलाकर मानसिक राहत प्रदान करते है। मेरे लिए *यह मौजूदा यथार्थ केवल जीवन ही नहीं जीवन से जुड़ा हुआ मेरा लेखन* भी हो सकता है।

> **आपकी कविता 'एक कलाकार मित्र के प्रति' मुझे याद आ रही है। आधुनिक चित्रकला को आप किन शर्तों से पसंद या नापसंद करते हैं? अमूर्त कला को लेकर साधारण दर्शक में जो संदेह रहा है क्या आप उसे उसके मन में तथाकथित नयी कविता को लेकर पैदा हुए संदेह के बराबर ही देखते हैं? यहां मैं यह भी जानना चाहूंगा कि अपने व्यवसाय के सिलसिले में लोगों से मिलते हुए या अपने परिवार की बैठकों में ही आप अपने लेखक होने के परिचय को किस हद तक छिपाते हैं, या यह आपके लिए कोई समस्या ही नहीं है?**

पहले मैं आपके दूसरे सवाल का जवाब दूंगा। मेरा लेखक होना शायद मेरे परिवार के लिए कोई बड़ी समस्या नहीं रहा—होता तो वह जरूर मेरे लिए भी एक बड़ी समस्या बन जाता। शुरू-शुरू में जब घर के बड़ों को यह शक हुआ कि मैं शायद व्यापार छोड़कर गलत रास्ते पर जा रहा हूं तो घर मे शायद एक मामूली सी चिन्ता हुई जो फिर उतनी ही मामूली सी उपेक्षा में बदल गई—बकौल मेरे चाचा के मुझे परिवार का स्पेअर पार्ट मान कर लिखने पढ़ने के लिए स्पेयर कर दिया गया। आचार्य कृपलानी तथा आचार्य नरेंद्र देव से भी, जो हमारे घर के लोगों की तरह रहे है, मेरे पक्ष को पूरा सहारा मिला था। घर वाले अब शायद मुझे इतना बेकार नहीं समझते और न अब मुझे उनको यह विश्वास दिलाना बहुत जरूरी ही लगता है कि वे मुझे बिल्कुल बेकार न समझें।

एक कलाकार मित्र के प्रति कविता के पीछे एक निश्चित परिस्थिति और प्रतिक्रिया रही है। उमे न तो सभी समकालीन कला पर लागू किया जाना चाहिए, न मोटे तौर पर मेरी कला के प्रति रुचि पर ही। और यह तो आप भी मानेंगे कि आज सभी कला—नयी कविता भी—ऐसी नहीं है जिसके पीछे आवश्यक सूझ, जानकारी और शायद ईमानदारी भी हो। अमूर्त कला जहा एक कलाकार और उसकी दुनिया के बारे मे बहुत कुछ बताती है वहां बहुत कुछ ढंकती भी है—यह ढकना जितना अमूर्त कला में संभव है उतना शायद अन्य किसी कला मे नही। इसीलिए उसकी व्याख्या या समीक्षा भी इतनी स्वच्छंद हो जा सकती है कि उसका कला विशेष से कोई संबंध ही न बचे। दोनों ही स्थितियां दर्शक के मन में एक खास तरह का संदेह उपजा सकती हैं कि वह कला और कला समीक्षा दोनों के संदर्भ मे महत्वहीन है। अमेरिका तथा अन्य समृद्ध देशों मे इस स्थिति का एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि वहां कला और समीक्षा के व्यावसायिक गठबंधन से कला का कृत्रिम बाजार बनाया जाता है—ऐसी कला जिसके सारे संदर्भों में मनुष्य नही, एक तैयार माल का बिकाऊपन प्रमुख होता है।

लेकिन मैं कला मे अमूर्तन या किसी भी ऐसे प्रयोग के पक्ष मे हूं जो यकीन दिला सके कि उसके पीछे एक ईमानदार रचनात्मक कोशिश है—रचनात्मकता से पलायन नही। रंगों, रेखाओं, आकारों, सतहों आदि को यदि परिचित संदर्भों से ही जोड़ कर समझने का आग्रह न हो, तो निश्चय ही उन्हें संप्रेषणीयता के नये और निराले संकेतों की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है जैसे ध्वनियों का संगीत मे किया जाता है। इस दृष्टि से अमूर्त कला की निश्चित उपलब्धियां हैं। जहां तक मेरी अपनी पसंद का सवाल है, शायद आप आश्चर्य करें कि मुझे अमूर्त कला में भी एलीमेंटरिस्ट्स की अपेक्षा मुक्त अमूर्तन या फ्री ऐब्सट्रैक्शन वाले कलाकार ज्यादा पसंद हैं। कैन्डिंस्की, आर्प, जैक्सन पोलक, द कूनिंग आदि की अभिव्यक्ति शैलियों में लगभग एक धार्मिक और काव्यात्मक ढंग का दीवानापन और उद्दाम आवेग है। इसके प्रतिकूल मेरे अपने लेखन में आपको शायद इस तरह की अनगढ़ तेजी और 'पैशन' का अभाव लग सकता है। हो सकता है कि कला के इस अतिवादी रूप को पसंद करने के पीछे भी लगभग वे ही कारण हों जो अक्सर मुझे अपने स्वभाव और लेखन के प्रतिकूल जीवन और कलाओं की ओर खींचते हैं। अपने को जानते रहने की भी एक थकान होती है जो शायद अपने से बिल्कुल विपरीत को जानने की कोशिश से उतरती है…!

एक बार बातचीत में आपने कहा था कि आपके लिए लिखने से भी

अधिक महत्वपूर्ण रद्द करना है। मैं स्वयं इस बात से सहमत हूं कि आधुनिक लेखक के लिए रद्द करना सबसे प्रमुख काम है। पिछले एक दशक के नये लेखन में यह बात खास तरह से देखी गयी थी कि लिखना एक तेजी है और इसमें रद्द करने की प्रक्रिया दिमाग के स्तर पर भी की जा सकती है ? आप इस समस्या को किस तरह देखते हैं ?

लिखते समय दिमाग के स्तर पर रद्द करना, लिखे हुए को बाद मे रद्द करने से भिन्न है। बाद मे रद्द करना एक समीक्षक के तटस्थ विवेक से रद्द करना है : लिखते समय एक रचनाकार की जरूरतें, कृति के साथ उसका अपना लगाव प्रमुख होते हैं—उस समय वह संपूर्ण कृति को नही, (अधिकांश कृति को भी नहीं), केवल उन अंशों को रद्द कर रहा होता है जो उसे कृति मे अनावश्यक लगते हैं। वह कृति को आधार मान कर उसके कुछ हिस्से ही रद्द करता है; दूसरे आधारो से पूरी कृति को ही नही रद्द करता। एक कृति की पूरी योजना या परिकल्पना बिल्कुल मानसिक स्तर पर भी बनायी और रद्द की जा सकती है—लेकिन उसे मैं रचना-प्रक्रिया का हिस्सा मानता हूं, रचना के बाद की प्रक्रिया नही।

यह भी अच्छी तरह समझता हूं कि अपनी कृतियों की संतुलित समीक्षा सब से मुश्किल होती है, इसीलिए अक्सर मैंने मतभेद के बावजूद अपनी रचनाओं पर दूसरों की रायों का स्वागत किया है। अपनी रचनाओं पर दूसरो की रायों और विचारों को एक तरह का रचनात्मक सहयोग ही माना है अपनी रचनात्मक कोशिशों में हस्तक्षेप नहीं। मेरी क्या चीज छपे क्या नहीं, इसका निर्णय शायद मुझ से ज्यादा मेरे अनेक योग्य और घनिष्ठ मित्रों ने किया होगा···

एक पद्धति के रूप में 'रचनात्मक सहयोग' की बात से शायद कोई खास एतराज नहीं किया जा सकता। पर व्यक्तिगत रूप में मुझे यह लगता है कि इस पद्धति पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। यह पद्धति रचनाकार की नहीं, तो रचना की 'प्राइवेसी' को एक हद तक तोड़ती है। वैसे यह बात मै सिर्फ एक टिप्पणी (आब्जर्वेशन) के रूप में ही कह रहा हूं।

पात्र-अपात्र का विवेक रख कर ही रचनात्मक सहयोग की बात सोचता हूं। यों भी दूसरों के सुझाव संकेतों को अपनी रचना-प्रक्रिया के हाशिए मे ही रखता हूं—बाहरी अनेक प्रभावो की तरह। केन्द्र में उस प्राइवेसी को ही

रखता हूं जिसकी बात आप कह रहे है—जो रचनात्मकता के साथ घनिष्ठ साक्षात्कार और संवाद है। एक सीमा के बाद जरूर दूसरों का प्रभाव रचना के लिए एक अवांछित हस्तक्षेप बन जा सकता है—कभी-कभी बन भी जाता है—लेकिन इस स्थिति मे पड़ने से अपने को भरसक बचाता हूं।

अपने रचनात्मक विकास के दौरान किन लोगों और किन चीजों ने आपको सब से अधिक प्रभावित किया है ? क्या आपको लगता है कि आज की दुनिया में किसी एक व्यक्ति, विचारक या चीज पर केंद्रित होकर बहुत कुछ नहीं किया जा सकता है ? अपने विश्वविद्यालय के दिनों में मैंने कहीं पढ़ा था कि एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक वुंट के संपूर्ण लेखन को पढ़ने में उनके शिष्य बोरिंग ने अपने जीवन के दस वर्ष दे दिये। आज भी हम अपने मित्रों में इस प्रकार की बहसें सुनते हैं कि फलां ने मार्क्स को मूल में पढ़ा है और फलां ने उसकी व्याख्याएं पढ़ी हैं। क्या आपको नहीं लगता कि ये दोनों ही बातें आधुनिक संदर्भों में बहुत उपयोगी नहीं रह गयी हैं ?

वैसे तो अध्ययन का काम गहराई और विस्तार दोनों ही दृष्टियों से किया जा सकता है और सार्थक हो सकता है। लेकिन आज हर विषय में आवश्यक जानकारी ही इतनी ज्यादा बढ गयी है कि उस सबसे एक जीवनकाल में किसी भी व्यक्ति के लिए मूल में परिचित होना शायद संभव नही। लेकिन उस जानकारी से प्रामाणिक परिचय भी आज इतने विभिन्न माध्यमों द्वारा उपलब्ध है कि यदि कोई जानकारी प्राप्त करने की सही और वैज्ञानिक विधि अपनाए तो वह आसानी से अपने को विभिन्न तरह की जानकारियो के मुख्य तत्वों से परिचित रख सकता है।

कुछ पुस्तकें जरूर ऐसी होती हैं जिन्हे मूल में पढ़ना दिलचस्प भी हो सकता है तथा (रचनात्मक दृष्टि से मेरे लिए) जरूरी और प्रेरणादायक भी। यों अपने लिए मैं अध्ययन में ऐसा कोई नियम नही बनाता जो हर तरह के पढ़ने पर लागू किया जा सके। आपने बात उठाई है, तो कह दूं कि मैं उन लोगों मे से हूं जिन्होंने कभी मार्क्स की पूंजी को मूल मे (अंग्रेजी अनुवाद) भी पढ़ा था। लेकिन लेखन की शिल्प की दृष्टि से मैंने शायद दॉस्तोव्स्की, हेमिंग्वे, काफ्का तथा प्रतीकवादी कवियो से ज्यादा कुछ सीखा···। अपने पढ़ने तथा लिखने दोनों मे मैं विस्तृत मानसिक अनुभव को महत्त्व देता हूं।

हिंदी तथा अन्य क्षेत्रीय भारतीय भाषाओं में किन लेखकों ने आपको

प्रभावित किया ? अपने बाद के नये लेखकों में, आप जिन्हें पढ़ते हैं, उनमें जो बात पसंद-नापसंद करते हैं उसे भी बतायें।

क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्यों तक पहुंचने का एकमात्र साधन मेरे लिए अच्छे हिंदी या अंग्रेजी के अनुवाद ही रहे हैं। ये अनुवाद दुर्भाग्यवश इतने अच्छे नही रहे कि इनके द्वारा मूल साहित्य के परिचय से अधिक कुछ मिल सका है। जिस प्रकार आज अधिकाश योरपीय साहित्य उत्कृष्ट अंग्रेजी अनुवादों मे उपलब्ध है हिंदी मे उस तरह के अनुवाद नही हैं। उमर खैयाम, रिल्के, कवाफी, बोर्लेस आदि के अनुवाद, अनुवाद नही मूल की तरह पठनीय हैं। अनुवादों मे शरत बाबू के उपन्यास और जीवनानंद दास की कविताएं आत्मीय लगी थी। रवींद्रनाथ ठाकुर का साहित्य अनुवादों में पूरी तरह सुरक्षित नही रह पाता, मुझे ऐसा लगता है : हिंदी छायावाद पर रवि बाबू का जो भी प्रभाव पड़ा वह सीधे मूल बंगला का भाषाई प्रभाव पड़ा, वैसा प्रभाव अनुवादों से नही पड सकता था। अच्छे अनुवादों का न होना भी शायद एक कारण है कि सभी क्षेत्रीय भाषाओं के नये साहित्यों पर एक दूसरे का इतना गहरा असर नहीं पड़ा जितना कि शायद सब पर अंग्रेजी भाषा मे उपलब्ध साहित्यों का। इधर नाटक मे बादल सरकार, विजय तेंदुलकर, गिरीश करनाड की कृतिया अच्छी लगी लेकिन ऐसी नही लगी कि वे किसी सर्जनात्मक साहित्य को प्रेरित या प्रभावित कर सकें।

आज आदमी नही मामूली आदमी अधिकांश हिंदी साहित्य के केंद्र मे रखा जा रहा है। मामूली आदमी भी नही केवल मामूली को दृष्टि में रख कर पूरे आदमी को परिभाषित किया जा रहा है, जबकि सामान्यतः मामूली या आदमी को लेकर कोई स्पष्ट मूल्य या चिंतन की रूपरेखा हमारे दिमाग़ मे नही होती ! मनुष्य से मतलब केवल आर्थिक मनुष्य नही—और मुझे वह साहित्य पसंद है जो इस फर्क को महसूस करता और कराता हो उस वक्त भी जब वह आर्थिक या सामाजिक यथार्थ की बात कर रहा हो। किसी ने एक बार ई० एम० फॉर्स्टर से पूछा कि आप यथार्थ का सामना क्यों नही करते ? तो उन्होंने सहजता मे कहा था—"क्योंकि वह चारों ओर है !" यथार्थ को लेकर अति सरलीकरण की प्रवृत्ति मुझे गलत लगती है। मुझे वह साहित्य पसंद है जो इस मानसिक विस्तार का परिचायक हो (और नमूना भी) कि प्रगति का अर्थ केवल भौतिक या तकनीकी प्रगति नही—उसकी दिशा केवल जेट एज की ओर नही, बुद्ध के आत्मान्वेषण की ओर भी हो सकती है। जिंदगी के मामले में बिल्कुल व्यावहारिक दृष्टिकोण रख कर भी चला जा सकता है लेकिन साहित्य और कलाएं बिलकुल व्यावहारिक दृष्टिकोण का नतीजा नहीं होती। सार्त्र ने

दृढ़ता से कहा है," "the real is never beautiful. Beauty is a value applicable only to the imaginary and which means the negation of the world in its essential structure. This is why it is stupid to confuse the moral with the aesthetic." (The work of Art : J. P. SARTRE from *The Psychology of Imagination.*)

पहले से नतीजे निकाल कर उन्हें साहित्य पर थोपना ठीक नहीं, उन्हें एक कृति का स्वभाव लगना चाहिए उस पर प्रभाव नही। इधर एक दशक मे बहुत-सा ऐसा साहित्य लिखा गया—कविताए विशेष रूप से—जो जिन्दगी के विस्तृत दायरे में नही राजनैतिक पक्षो-विपक्षों के संकुचित दायरों मे काम करती लगती है। कविता की पहचान राजनीति से इतना सट कर या घिर कर बने यह साहित्य के हित मे नही है।

बचपन के कौन से अनुभव आपको आज भी ध्यान में आते हैं। यह सवाल मै, जाहिर है, किसी मनोविश्लेषण के संदर्भ में नहीं पूछ रहा हूं। बचपन में आपकी दुनिया में क्या खास बात थी जो आप बाद में लिखने और पढ़ने में बुरी तरह डूब गये। इस सवाल तक इस तरह से भी आया जा सकता है कि आपने आत्मकथा लिखने की क्या कभी जरूरत महसूस की ?

रचनात्मक साहित्य लिखना अपने-आप में अगर पूरी तरह आत्मकथात्मक नही, तो आत्मनिवेदनात्मक प्रक्रिया तो कहा ही जा सकता है। इसीलिए शायद बहुत उत्कृष्ट कोटि के रचनात्मक साहित्यकार उतनी ही उत्कृष्ट कोटि के आत्मकथा लेखक भी नही रहे हैं—वे अच्छे जीवन-चरितों का विषय रहे हैं। या फिर उनकी डायरी, पत्र आदि हैं जिन्हें शायद उनके साहित्य का ही हिस्सा मानना ज्यादा ठीक रहेगा, उनकी आत्मकथा नहीं। बहरहाल, मैं अभी तो ऐसा कुछ नहीं सोचता कि आत्मकथा लिखना मुझे वैसा संतोष दे सकेगा जो मुझे साहित्य-रचना में ही नहीं मिल जाता। बचपन के तथा बाद के भी अनेक अनुभव और उनकी यादें मेरे लेखन के साथ जुड़ी हैं जिन्हें कभी स्पष्ट, कभी बहुत स्पष्ट नहीं, आज भी पहचाना जा सकता है। इस बारे में शायद आप से पहले भी कभी बात हुई थी कि एक अनुभव को जिस तरह याद में अनुभव किया जाता है वह यथार्थ में अनुभव किये से भिन्न होता है, लेकिन उससे कम महत्वपूर्ण नही होता। बचपन के अनुभवों की जो छाप मन पर छूटी रह गई वह लेखन में मूल अनुभव का विनष्टीकरण नही उसके रचनात्मक कायाकल्प की तरह होता है।

अगर आपको अवसर मिले, तो क्या आप अभी भी खूब घूमना चाहेंगे ? अगर मैं भूल नहीं रहा, तो एक बार आपने बातचीत में ऐसा कुछ कहा था कि अब घूमने में आपको नया नहीं मिल पाता, उतना उत्साह नहीं होता।

घूमना अब भी बहुत पसंद है लेकिन आराम से। अपने को कष्ट देकर नहीं। कष्ट हो तो ध्यान कष्ट पर ज्यादा रहता है, घूमने पर कम। जब घूमने की धुन थी तब तो हर तरह की तकलीफ़-आराम मे घूमा हूं : अब इतना फर्क जरूर आया है कि तकलीफ़ मे घूमना हो तो टाल जाता हूं। आप मान सकते हैं कि उग्र सैलानी वृत्ति का आदमी नहीं हूं लेकिन नयी-पुरानी जगहो, चीज़ों, लोगों के बीच घूम कर उन्हें धीर मन से महसूस करना और सोचना पसंद करता हूं। घूमने में उतावलापन पसंद नही। इत्मिनान, पूरा इत्मिनान चाहता हूं और पूरी स्वतंत्रता भी कि कहां कितनी देर, कितने दिन किसके साथ रहूं या न रहूं। इतना सब, अब हमेशा नही मिल पाता इसलिए भी घूमने को लेकर बहुत उत्साहित नही हो पाता।
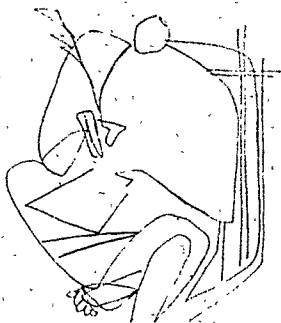
कविता कुछ बचा सकती है

रघुवीर सहाय से अशोक वाजपेयी और मंगलेश डबराल की बातचीत

रघुवीर सहाय उन कवियों में से हैं जिनकी कविता के बिना हिंदी की आधुनिक कविता संभव न होती। उनकी कविताओं में हमारे समय की तकलीफें हैं और फिर इसलिए मानवीय सहानुभूति, संवेदना और करुणा को एक ऐसे समय में पुनः उपस्थित करने की कोशिश है, जबकि ये चुक रही हैं।

सबसे पहले अज्ञेय ने दूसरा सप्तक में उनकी कविताओं को शामिल किया। और बाद में सीढ़ियों पर धूप में (कविताएं और कहानियां) भी अज्ञेय के संपादन में ही प्रकाशित हुआ। इसके अलावा आत्महत्या के विरुद्ध और हंसो, हंसो, जल्दी हंसो (कविता संकलन), लिखने का कारण, दिल्ली मेरा परदेस (निबंध संकलन), रास्ता इधर से है (कहानी संकलन) भी प्रकाशित हुए हैं। आपके कृतित्व पर केंद्रित पूर्वग्रह का एक पूरा अंक भी प्रकाशित हुआ है। इन दिनों आप चर्चित समाचार साप्ताहिक दिनमान का संपादन कर रहे हैं।

●

अशोक वाजपेयी : इस समय के सबसे विवादास्पद संस्कृतिकर्मी हैं। उनके पहले कविता संकलन शहर अब भी संभावना है और आलोचनात्मक अध्ययन के संकलन फिलहाल ने नयी बहस के सिलसिलों को शुरू किया। उनके द्वारा संपादित अनियतकालिक समवेत, पंद्रह युवा कवियों की रचनाओं के बिल्कुल पहले संकलनों की सीरीज—पहचान और साहित्य और कलाओं के आलोचना त्रैमासिक—पूर्वग्रह ने भी हिंदी साहित्य संसार का ध्यान अपनी ओर खींचा है। पूर्व में पूर्वग्रह में संगृहीत महत्वपूर्ण समीक्षाओं का एक चयन तीसरा साक्ष्य भी प्रकाशित हुआ है।

फिलहाल वे भोपाल रह रहे हैं और मध्यप्रदेश शासन संस्कृति तथा सूचना प्रकाशन विभाग के विशेष सचिव हैं। साथ ही मध्यप्रदेश कला परिषद् के सचिव और उस्ताद अलाउद्दीन खां संगीत अकादेमी के संचालक पद की जिम्मेदारी भी निभा रहे हैं।

मंगलेश डबराल : अग्रणी युवा कवि। कुछ समय पूर्वग्रह में बतौर सह-संपादक रहे। इन दिनों अमृत प्रभात के संपादकीय विभाग में।

□□

रघुवीरसहाय जब सितंबर १९७६ में म० प्र० कला परिषद् के 'एकत्र' मंच में कवितापाठ के लिए आये थे उस वक्त यह बातचीत हुई। उन्ही दिनो यहा आयोजित एक 'कलाकार शिविर' के बीच एक शाम उन्होंने अपने तीनो संग्रहों में क़रीब पचास कविताएं दो-ढाई सौ श्रोताओं को सुनायी · पहले बच्चों पर, फिर स्त्रियों पर, फिर पिता पर, फिर राजनीति और विविध विषयो पर। तीनों संग्रहों की कविताएं एक ख़ास तरह से संयोजित की गयी थी : सभी शीर्षक हटाकर और उन्हें अपने आप में एक पूरे और समग्र काव्य-अनुभव में तब्दील करते हुए। रघुवीरसहाय उन दिनों कविता और आवाज़ को लेकर कुछ प्रयोगों पर भी सोच रहे थे और अलग-अलग ढंग की कविताओं मे उनकी आवाज अलग-अलग ढंग से तेज़, मद्धिम, उभरती, टूटती, बिखरी, संकुचित, मीठी, मुलायम और ऊबड़-खाबड़ होती थी। आवाज़ का यह अभिनय नाटकीय बिलकुल नहीं था : वहां आवाज़ के दृश्य थे या आवाज़ की पारदर्शियां थीं।

बातचीत के लिए कोई छब्बीस प्रश्न रघुवीरसहाय को पहले भेज दिये गये थे और उनके उत्तर बहुत हद तक उनके भीतर बन भी गये होंगे। लेकिन जब बातचीत हुई तो उनमें से कुछ ही प्रश्न उनसे किये जा सके : बातचीत के वक्त ही बहुत से नये प्रश्न आये। कुछ निर्धारित प्रश्नो को अति-विस्तृत हो जाने की आशंका से रद्द भी किया गया। और इसके बावजूद कोई छह घंटे की बातचीत इतनी लंबी हो गयी कि वह एक अच्छी-खासी किताब बन सकती थी। उसमे रघुवीरसहाय का विशिष्ट 'शुद्ध' हास्य, उनकी तेज़ी और जागरूकता, सोचने का विवादास्पद ढंग, उनके निर्णय, असमंजस और विडंबना —यह सब हू-ब-हू होता। पूर्वग्रह के पृष्ठों में उसे प्रकाशित करने के लिए उसमे अनिवार्य काट-छांट करनी पडी और उसे संपादित करके लगभग आधा करने का काम भी स्वयं कवि ने किया। प्रकाशित आलेख में पूर्व-निर्धारित प्रश्नों को शुरू में 'प्रश्न' लिखकर अलग किया गया है जिससे इंटरव्यू और बातचीत दोनों बातें बनी रहें।

हमारे समय और हमारी हिंदी के शायद बहुत कम कवि रघुवीरसहाय की तरह अपनी कविता और अपने सरोकारों को इतनी बड़ी दुनिया और इतनी ज्यादा चीजों तक ले जा सके है और फिर उन्हें एक अकेले काव्य-अनुभव मे समेट सके है। इसे शायद अनुभवों की वैयक्तिकता और सार्वभौमिकता मे किसी भी विरोध का लोप करते जाना कहा जाये। इस वजह से भी इस बातचीत मे रघुवीरसहाय के पद्य और गद्य पर ही नहीं, उन ऐतिहासिक और समकालीन प्रश्नों पर भी बात हो पायी है जो रघुवीरसहाय को हमारे समय के सबसे सजग लेखकों के दर्जे मे बिठाते हैं।

□□

आपके तीन कविता-संग्रह 'सीढ़ियों पर धूप में', 'आत्महत्या के विरुद्ध' और 'हंसो-हंसो जल्दी हंसो' अब तक छपे हैं, और हर बार उनका छपना एक साहित्यिक घटना रही है। हर कविता-संग्रह पिछले संग्रह से बहुत अलग तो है ही, साथ ही ऐसा भी लगता है कि नये संग्रह की कविताओं के अनेक सूत्र, बल्कि उनके जन्म पिछले संग्रहों में छिपे थे। अपने इस रचनात्मक विकास के बारे में कुछ बतायें।

मैं भी मानता हूं कि नये संग्रह की कविताओं के अनेक सूत्र पिछले संग्रह मे छिपे रहे होंगे। पर यात्रा शब्द मे लगता है कि हम जानते हैं कि जहां जाना है, जबकि अगर कवि की कोई यात्रा हो सकती है तो वह अवश्य ही किसी ऐसी जगह जाने के लिए होगी जिसको वह जानता नहीं। बल्कि जाना ही जानना है। बहुत-सी ऐसी चीजें है जो कि एक दौर मे कवि को मिलती हैं और फिर वह उनको अपने पास रख लेता है और फिर किसी दूसरे दौर मे, जो कि बहुत बाद मे भी, कई दौरों के बाद भी आ सकता है, वह फिर उन रास्तों को पकड़ता है। और कुछ चीजें ऐसी हो सकती हैं जो कि लगातार उसके साथ रहती हों, पर वे चीजें फिर बहुत ज्यादा साथ दिखाई देने वाली नहीं होंगी, कुछ अधिक सूक्ष्म होंगी; वास्तव में वे यात्रा की दूरी की द्योतक नहीं होंगी बल्कि उसका संबल होंगी। ये भी हो सकता है कि कुछ कविताओं में दिखें। लेकिन जो चीजें पहले संग्रह की कविताओं मे ज्यादा दिखी है, वे दूसरे संग्रह की सब कविताओं मे नहीं ही दिखी होंगी। और जो चीजें दूसरे संग्रह मे दिखी है वे तीसरे संग्रह की सब कविताओं में नहीं दिखेंगी। लेकिन यह हो सकता है कि पहले संग्रह की कुछ चीजें तीसरे संग्रह की कविताओं में दिखी हों।

अगर कोई आदमी सचमुच जान सकता हो अपने विकास के बारे में,

और वह बहुत अधिक जान ले तो उसे विकास करने की जरूरत नहीं है। इतना तो मैं नही जानता, न जानना चाहता हूं । वैसे भी प्रत्येक रचना के बारे मे मैं यह मानता हूं कि एक बार जो रचना जिस तरह से हो जाती है उस तरह से दूसरी रचना हो ही नहीं सकती । समानताएं मिल सकती है । यह भी हो सकता है कि एक साथ कई कविताएं लिखी गयी हों : एक के बाद एक थोड़े-थोड़े अंतराल या कभी-कभी लंबे अंतरालों के बाद भी, और वे सब देखने मे एक-सी दिखती हों । अगर कभी ऐसा हो तो भी इसे ठीक-ठीक और बड़ी आसानी से न तो ठहराव कह कर बयान किया जा सकता है और न उपलब्धि कह कर, क्योंकि किस दौर में हम क्या कर रहे होते हैं अपने भीतर, यह महत्वपूर्ण है; उस दौर की लंबाई-छोटाई महत्वपूर्ण नहीं है । अकसर यह होता है कि एक दौर केवल एक दिन का या एक घंटे का होता है । यह भी हो सकता है कि वह साल का हो, दो साल का हो । इसके मानी यह नहीं हैं कि मैं लगातार दो साल तक एक कविता के लिए शब्द ढूंढ़ता भटकता फिर रहा था वियाबानों मे । इसका मतलब केवल यह है कि दो साल के भीतर ऐसे क्षण, जबकि मैं फिर उस कलात्मक अनुभव के क्षण को प्राप्त कर सका जो कि मैंने एक बार प्राप्त किया था लेकिन पूरा नहीं प्राप्त किया था, बार-बार आये है और उनके बीच मे बहुत लंबे अंतराल आये है जब मैं पता नहीं और क्या-क्या कुछ कर रहा था, कविता बिलकुल ही नहीं लिख रहा था । किसी भी तरह से मैं यह मानने को तैयार नहीं हूं कि एक आदमी दूसरे से ज्यादा रचनात्मक होता है और यह भी कि जो आदमी रचनात्मक होता है वह हर समय रचनात्मक होता है । असल में केवल वह औरों से अधिक सचेत है अपनी रचनात्मकता के बारे मे । इसलिए जब एक कलात्मक अनुभव के क्षण को वह पकड़ता है और पूरा नहीं पकड़ पाता तो उसके बाद उस विशिष्ट क्षण के बाद वह औरों की ही तरह हो जाये तो इसमें कवि की अप्रतिष्ठा नहीं है ।

> **अशोक वाजपेयी : आपने अभी कहा कि आप यह नहीं मानते कि एक आदमी दूसरे से ज्यादा सचेत है । आप सिर्फ़ यह मानते हैं कि जो लिखता है वह दूसरे से ज्यादा सचेत है । इसको थोड़ा आगे बढ़ायें तो जो व्यक्ति कविता लिखना तय करता है, यानी भाषा के एक ख़ास माध्यम का उपयोग करने का निर्णय लेता है वह ऐसा सिर्फ़ इसलिए करता है कि वह दूसरों से अधिक सचेत है ?**

अगर आपका मतलब यह हो कि सचेत होने के कारण वह यह जान सकता है कि उसको लिखना है तो सही कह रहे है आप । आप सचेत नहीं होंगे तो यह निर्णय आप नहीं करेंगे । और सचेत होने मात्र से ही आप वह निर्णय कर लेंगे,

यह भी नहीं कहा जा सकता है। शायद सचेत होने के अलावा, कम से कम कुछ समय के बाद, यह भी निर्णय करना होगा कि क्या सचमुच मैंने अपना माध्यम, जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम पा लिया है। और अगर वह भाषा ही है तब हम पायेंगे कि निर्णय वास्तव में हुआ। उसके पहले तो केवल सचेत होने के कारण वह भाषा के साथ बहुत से प्रयोग करके देख सकता है। खुद अपने लिए अंतिम निर्णय क्या होगा, यह जानने की कोशिश में वह भाषा को ही काफी लंबे समय तक अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर चल सकता है। अंत में एक जगह यह पा सकता है कि यह गलत था या बेकार था। या यह कि अब वह उतना सचेत नहीं रहा।

> अ० वा० : नहीं, मेरी जिज्ञासा यह इस बारे में भी थी कि जब आप एक माध्यम चुनते हैं—जैसे भाषा या कविता—तो इस माध्यम की अपनी जरूरतें, अपनी एक परंपरा, अपनी एक अंतर्निहित मूल्य-दृष्टि, अनुभव-संपदा भी है। यानी आप वह सब भी, चाहें तो जान-बूझकर, ज्यादातर शायद अनजाने चुनते हैं और उसके प्रति आप कितने सचेत हैं या नहीं हैं, यह बात भी कहीं-न-कहीं इस बात को तय करेगी कि आप उनके साथ क्या करने वाले हैं। और फिर उसके साथ जो आपका संबंध है उसमें अपने साथ क्या करने वाले हैं।

हां, पर यह सचेतता तो एक दूसरे स्तर की या दूसरे प्रकार की सचेतता है। इसको आप विद्वत्ता या जागरूकता कह सकते हैं। लेकिन मैंने जब 'सचेत' शब्द का इस्तेमाल किया था तो मेरा मतलब यह था कि वह इस बात के प्रति सचेत है या नहीं है कि जो उसे अनुभव हुआ है वह अनुभव एक कलात्मक अनुभव है। कलात्मक अनुभव, यानी ऐसा अनुभव जिसको कि वह स्वयं उसी समय उसी दौरान अपने से अलग खड़े होकर देख पाता है। अगर यह वह कर लेता है तो उसकी अभिव्यक्ति करने के लिए माध्यम ढूंढेगा। उसके संस्कार, उसके अनुभवों का पिछला संसार, उसका वातावरण और उसको जीवन में मिलनेवाली सुविधाएं—ये सब मिलकर के पहले अकस्मात उसको कोई न कोई माध्यम जुटायेंगी। फिर उस माध्यम को वह इस्तेमाल करेगा, जांचेगा-देखेगा। हो सकता है कि थोड़े समय बाद वह पाये कि इस माध्यम का—और अब यहां पर उस सचेतता का काम शुरू होगा जिसका आपने जिक्र किया—पूरी दुनिया के साथ क्या मेल बनता है, परिस्थितियों के वश या अपने प्रयत्नवश या दोनों के कारण। मान लीजिए कि मैं चित्र या वर्णों का इस्तेमाल शुरू करता तो हो सकता है कि मैं वर्णों की जो भारतीय परंपरा है या कि जो भी हमको लोक-

शैली में आसपास मिलती है, उसके पूरे संसार के साथ अपने-आपको पूरी तरह मे नहीं जुड़ा हुआ पाता था उसमें से बहुत समृद्धि हासिल नही कर पाता, तो हो सकता था कि मैं इस माध्यम को छोड़ ही देता। लेकिन जब भाषा का माध्यम अकस्मात् पाया तो फिर यह भी साथ-साथ पाने लगा—मै इसको संयोग ही कहूंगा—कि उस भाषा के इस्तेमाल के जो संस्कार और परंपराएं हैं, उसके साथ मेरा रिश्ता ज्यादा अच्छी तरह बन सकता है। यह बहुत हद तक मेरे वश में नही था। किसी भी कलाकार के नही होता। एक हद के बाद तो आप उसको बनाना शुरू करते हैं, खोजना शुरू करते है, पढना, लिखना, जानना, सुनना, सोचना शुरू करते हैं—लेकिन एक तो बिंदु ऐसा होता है जहा पर कि आपके जीवन मे उसके पहले हो चुका है वही निर्णय करने में बडी भूमिका अदा करता है।

सचेतता, जिसका आपने ज़िक्र किया, वह आती है—मैं उसे जागरूकता या जानकारी या ग्रहण करने की शक्ति कहूंगा—और वह प्रयत्न करने से भी आती है, लेकिन प्रयत्न करने के पहले यह आवश्यक है कि कलाकार यह देख चुका हो कि इस माध्यम का संसार उसके साथ, उसके अनुकूल है।

> **अ० वा० : ऐसे कवि कम हैं जो अपने माध्यम के साथ अपने संबंध के बारे में उतने संवेदनशील हों, जितने मसलन प्राय. आप लगते हैं। माध्यम का सक्षम उपयोग—यह एक बात हुई; लेकिन माध्यम के साथ व्यक्ति का जो एक संबध है, उसी तरह से जैसे व्यक्ति का उस अनुभव से कोई संबंध है। और वह संबंध जो माध्यम के साथ व्यक्ति का है वह भी अपने-आप में एक उत्तेजक और ऐसा संबंध है जिससे आदमी की दुनिया के बारे में दिलचस्प खोज की जा सकती है। क्या यह बात कभी आपके रचनात्मक दिमाग में रही है कि माध्यम के साथ व्यक्ति का जो संबंध है वह भी कविता की बुनियादी खोज का एक अंग है? जैसे भाषा या कविता या कि माध्यम। आप कविता लिखें या न लिखें, इसके बावजूद वह दुनिया में है।**

नही है, मेरे लिए नहीं है। अगर मैं कवि हूं तो मेरे लिए सिर्फ वह तब है जब मैं कवि हूं या कविता लिख रहा हूं। उस समय, जिस रूप मे यह बाकी जीवन में है उसमे मेरे ही लिए क्यों है, सबके लिए है। अगर सबके लिए वह उस रूप मे है तो भी मैं उससे चिंतित नहीं हूं। मैं उससे चिंतित हो सकता हूं अगर जिस रूप मे वह है—या जिन रूपो में वह है, क्योंकि भाषा कभी भी एक रूप मे नही होती—उनमे से किसी एक या दो रूप को मैं अपने व्यवहार में लाता होऊं, तब मैं जरूर उस समय के लिए और उस व्यवहार या प्रयोजन के लिए

भाषा के उन रूपों के बारे मे चिंतित होऊंगा। लेकिन अगर आप कवि के रूप में पूछ रहे हैं तो मैं भाषा के अनेक रूपों के बारे में—जैसे कि वे हैं—उस अर्थ मे संबद्ध या चिंतित अनुभव नही करता जिस अर्थ मे कि कवि होने पर करता हूं।

> मंगलेश डबराल : आपने कहा कि हर व्यक्ति रचनात्मक होता है लेकिन एक कवि या कि वह जो कि अभिव्यक्ति करता है, अपनी रचनात्मकता के बारे में सचेत होता है दूसरे के मुक़ाबले। और हो सकता है कि यह अपने एकांत में जाकर कुछ रच आये और फिर समूह का हिस्सा हो जाये। लेकिन मान लीजिए कि कोई आदमी घर के किसी कोने को रचनाशील ढंग से सजाता है या एक अच्छी बात कहता है या अच्छी तरह किसी को देखता है, तो वह भी रचनात्मक है?

हा, क्यों नहीं।

> मं० ड० : और सचेत भी वह हो सकता है?

नही सचेत नही। सचेत से मेरा मतलब यहां केवल इस बात से है कि अनुभव की वह कोटि भी मुझे प्राप्त है जहां पर कि मैं अनुभव के साथ-साथ उससे निस्संग हो सकता हूं। रचनात्मक कलाकार के लिए—मैं रचनात्मक व्यक्ति नही कह रहा हूं—यह एक प्राथमिक शर्त है कि वह अपने अनुभव से निस्संग हो सके और उसी समय हो सके जिस समय वह अनुभव कर रहा है। बहुत-सी कविताएं और कहानियां उसी समय लिखी गयी है जिस समय कि वह अनुभव हो रहा था। वे कागज पर न उतारी गयी हों, लेकिन वे हुई उसी समय और अगर बाद मे हुई है तो भी उनका भ्रूण उसी समय बन चुका था।

> मं० ड० : आपकी जो वह कविता है 'क्योंकि मेरा एक और जीवन है', उसमें भी एक तरह से···

लेकिन वह बहुत कविता नही है। काफी कुछ उसमें वक्तव्य हैं जो कि मैं स्वयं कविता के लिए अच्छा नही मानता। ऐसी मेरी बहुत-सी कविताएं हैं जिनको कि मैं अच्छी नहीं मानता। आप अनुभव करते समय पाते हैं—और हर समय नही पाते, कभी-कभी पाते होंगे; हर समय पाते हों तो आप शायद छिन्न-भिन्न हो जायेंगे—कि इस अनुभव में मैं हूं लेकिन मैं इससे अलग भी हूं। और यही कारण होता है कि आप उसे अभिव्यक्त करना चाहते हैं। ऐसी सचेतता का प्रमाण किसी को किसी समय मिले तो हो सकता है कि भाषा के अलावा भी उसके पास—कोई एकदम अमूर्त—माध्यम हो, एक ऐसा आध्या-

त्मिक माध्यम हो कि जिसके लिए न शब्द चाहिए न स्वरूप चाहिए। हो सकता है ऐसा हो, लेकिन फिर वह कलाकार नहीं होगा क्योंकि वह किसी प्रकार की नयी सृष्टि नहीं कर रहा होगा। वह अपने ही भीतर के किसी अपने निर्वैयक्तिक अनुभव को दुबारा अपने भीतर संजो कर रख लेगा। हो सकता है वह एक बेहतर इंसान बने, हो सकता है न भी बने, एक बेकार का इंसान भी बन जा सकता है, लेकिन वह कोटि हमारे विचारार्थ नहीं है। कोई आदमी किसी के प्रति केवल एक अच्छा व्यवहार करे, तो वह रचनात्मकता एक कलाकार की रचनात्मकता से भिन्न रचनात्मकता है। और अगर आप यह सोच रहे हों कि मैं यह कहना चाहता हूं कि अच्छा व्यक्ति होना भी रचनात्मक होना है, तो मैं यह नहीं कह रहा हूं कि जिस समय आप किसी तरह के भी मानव-संबंध को अपनी तरफ से बनाते हैं, तो उसमें आप रचनात्मक ही होते हैं। आप अच्छे आदमी बनें, इसके लिए पहले से प्रतिमान निश्चित करके अगर आप ऐसा करते हैं तो आप रचनात्मक आदमी शायद नहीं भी होंगे। मेरे खयाल से तो नहीं ही होंगे। क्योंकि फिर तो आप एक बने-बनाये प्रतिमान के अनुसार कुछ कर रहे होंगे। जिस समय आप सहसा अपने अंदर पाते हैं कि यह आदमी मेरे लिए यह माने रखता है तो उस समय आप रचनात्मक होते हैं, लेकिन जरूरी नहीं है कि आप कलाकार हों।

अ० वा० : बहुत दिनों तक कविता के बारे में या कि आम तौर से कलाओं के बारे में एक धारणा रही थी कि वे बेहतर इंसान बनाने में मददगार होती हैं। जॉर्ज स्टाइनर ने जर्मनी का उदाहरण दिया है जहां संगीत के और कलाओं के बहुत प्रेमी थे हिटलर और उनके जनरल, लेकिन उन्होंने जाहिर है जो किया वह बहुत मानव-विरोधी था। यूरोप में इसको लेकर बहुत अधिक प्रश्न उठे कि बेहतर इंसान बनाने या कम-से-कम इंसान को बर्बर होने से बचाने की जो कलाओं की शक्ति थी वह शायद अतिरंजित करके हमने देखी थी। ...फिर भी कविता बेहतर इंसान एक तो कवि को ही बना सकती है। संभवतः। यानी एक ऐसी पर्सनल इंटिग्रिटी दे सकती है जो उसे एक बेहतर इंसान बनाये। बने-बनाये सांचों-ढांचों के हिसाब से नहीं, बल्कि खुद उन मूल्यों के हिसाब से जो वह अपने अनुभव से अर्जित करता है; एक दूसरी बात यह भी हो सकती है कि वह दूसरों को भी किसी हद तक इस तरह का इंटिग्रेशन अपने में लाने में मदद करें।

यह असंभव तो नहीं है कि वह दूसरों को भी बनाये—और इसके मानी यह

हुए कि मैं आपकी पहली बात को मान रहा हूं और आपने न कही होती तो मैं ही शायद कहता कि अगर बेहतर इंसान के कोई एक कम ग़ैर-किताबी, ग़ैर पारिभाषिक मायने कर सकते हैं तो ज़रूर कविता, उस आदमी को जिसने उसे लिखा है, एक बेहतर इंसान बनाती है। और नहीं बनाती है तो वह कविता नहीं है। कविता क्या, कोई भी रचना नहीं है। हर रचना उसे हमेशा एक बेहतर व्यक्ति बनाती है जिसने उसको किया है। *क्योंकि मैंने यह समझा* है कि रचना के लिए क्रोध या हिंसा या प्रतिहिंसा हो सकते हैं कि बाधक न हों, लेकिन द्वेष, घृणा या अन्याय उसके साथ कोई मेल नहीं खाते। जिस व्यक्तित्व मे रचना के क्षण में ये गुण या दुर्गुण मौजूद हों, उसके लिए मैं नहीं समझ पाता हू कि कोई भी रचना करना कैसे संभव है। रचना कम-से-कम उस व्यक्ति को जो कि उसे कर रहा है एक बेहतर इंसान ज़रूर बनाती है, क्योंकि पहले तो वह इन शर्तों का अनजाने पालन करता है कि उसके मन मे द्वेष नहीं है। क्रोध हो सकता है, एक तरह की छटपटाहट हो सकती है, मजबूरी हो सकती है लेकिन हताशा नहीं है और अन्याय भी नहीं है। दूसरे कदम पर वह एक बेहतर इंसान इसीलिए बनता है कि हर रचना अपने व्यक्तित्व को बिखरने से बचाने का प्रयत्न है।

अ० वा० · रचनाकार के लिए?

हां, और पागल हो जाने से या फट जाने से या अपने-आप को धोखा देने से बचाने का प्रयत्न है। हर रचना एक बार एक अपने ही ढंग मे एक तरह का आत्मालोचन है, एक सिंहावलोकन है—और कई स्तरो पर है। *चूंकि कई* स्तरों पर है और एक साथ होता है इसलिए वह माध्यम के स्तर पर भी होता है, जिस माध्यम को वह इस्तेमाल कर रहा है उसमें उसने क्या किया है, यह सब भी हर कलाकार हर रचना के साथ उसी समय देखता है। दूसरों को वह बेहतर इंसान बनाती है या नहीं इसके बारे में हम लोग सिर्फ़ इतना मान लें कि जो इसके बारे मे कोई फ़ैसला करते है, हमे उनके बारे में हमेशा यह शक रहेगा कि वे दूसरों को बेहतर इंसान किस स्वार्थ के कारण बना रहे हैं। उनकी दूसरों को बेहतर इंसान बनाने की कोशिश संदिग्ध है क्योंकि अगर वे बना सकते हैं तो खुद उनके पास ऐसा करने के लिए वे साधन होने चाहिए जिनमे कि वे समर्थ हैं। उन्हें कवि के पास इस काम के लिए नहीं आना चाहिए, और न उन्हे कला से इसकी आशा करनी चाहिए कि वह उनके लिए दूसरों को बेहतर इंसान बनायेगी। आपने जो नात्सी समाज का उदाहरण दिया तो मैं ठीक-ठीक नहीं कह पाऊंगा कि उन लोगों ने किस तरह से साहित्य का इस्तेमाल किया, लेकिन अपने यहां तो हम बराबर देखते रहे हैं कि एक

वर्ग ऐसा रहा है जिसने कि साहित्य के द्वारा लोककल्याण, लोकमंगल ऐसे शब्दों से लेकर के क्रांति तक के शब्दों का इस्तेमाल किया है और इस प्रकार संगठित होकर साहित्य के द्वारा आदमियों को अपने हिसाब से बदलने के लिए प्रयत्न किया है, बेहतर इंसान बनाने के लिए नहीं। बेहतर इंसान तो अगर सच्चे अर्थ में कोई हो सकता है तो वह उसी अर्थ में होगा या उस अर्थ के बहुत निकट होगा जिस अर्थ में हमने अभी-अभी कवि के लिए बेहतर इंसान बनने की कल्पना की है, अर्थात संपृक्त होना और अपने कृतित्व के द्वारा संपृक्त होना। यह काम और लोग अपने-अपने कृतित्व से करेंगे—कविता पढ़ कर नहीं कर सकते। कविता पढ़कर उनके संस्कार में जो कुछ भी आये, वह सहायक हो सकता है। इसीलिए मैंने कहा था कि इसको अनिर्णीत और अघोषित रखना ही कविता के लिए और उन लोगों के लिए जिन्हें बेहतर इंसान बनाने की ज़रूरत महसूस की जा रही है, अच्छा होगा।

अ० वा० : लेकिन आपके पहले वक्तव्य में एक बात यह थी कि वह व्यक्ति जो रचना करता है, रचनाकार हर समय नहीं है।

र स : वह व्यक्ति जो रचना करता है वह हर वक्त रचना नहीं करता है। लेकिन वह हर वक्त पलट करके किसी दूसरे खाने में भी जाकर नहीं बैठ जाया करता है। व्यक्ति जो आज जो हो चुका, कल जो कुछ भी होगा, वह वह आज *धन कल होगा। यह नहीं है कि आज मैंने कविता कर ली फिर मैं चला गया* उस खाने मे। इस तरह का आत्म-विभाजन अगर वह बार-बार करता रहे तो फिर रचना से उसके बेहतर इंसान बनने का मतलब ही क्या रहा?

अ० वा० : जिस इंटिग्रिटी का जिक्र पहले या उसके रहते यह नहीं हो सकता। मसलन, अगर सच्चा कवि अन्यायी नहीं हो सकता है यानी न्याय का प्रतिकार नहीं करेगा, तो न केवल वह उन क्षणों में जब वह रचना-सक्रिय है ऐसा नहीं करेगा, बल्कि अपनी पूरी नागरिकता में भी नहीं करेगा।

नहीं करेगा, अगर उसको उन रचना-सक्रिय क्षणों के लिए कोई भी ममत्व है जो कि उसके जीवन में फिर कभी आयेंगे, बार-बार आयेंगे। आप याद करेंगे, 'आत्महत्या के विरुद्ध' की भूमिका में मैंने लिखा है कि या तो मैं रचना करता हूं *या जब नहीं कर पाता हूं तो केवल अपने को करने योग्य बनाये रखता हूं।* अपने को उस अंतराल मे रचना करने योग्य बनाये रखना जिसमें आपके वे रचना-सक्रिय क्षण नहीं हैं, उस व्यक्ति के लिए उतना ही अनिवार्य हो जाता है जितना कि किसी दूसरे आदमी को जीवन के उन सूत्रों या अभिव्यक्ति की

उन प्रणालियों में कुछ भी करना अनिवार्य है जो उसे मिली हैं। आपको यह देखना पड़ेगा कि आप हर क्षण, उस अंतराल में जबकि आप रचना-सक्रिय नहीं हैं, क्या कर रहे हैं; क्या सोच रहे हैं, कैसे व्यक्ति हैं और आपके मानव-संबंध किस कोटि के हैं। पुरानी एक मान्यता चली आ रही थी कि शायर में क़िस्म-क़िस्म के ऐब होने चाहिए तब जाके वह अच्छा शायर होगा। एक धुर पर यह और दूसरे धुर पर यह कि मैं कुछ भी करूं, चूंकि मैं शायर हूं, मैं फिर शायर हो जाऊंगा। ये दोनों ही बातें गलत हैं। समय-समय पर अपना मूल्यांकन करना मैं समझता हूं कि बहुत सहज है, बहुत जरूरी है, पर इसकी कोई पाठ्य-पुस्तक तो है नहीं कि बताया जाये कि इस तरह से करिए। मैं सोचता हूं कि सभी अच्छे कवि या रचनाकार यह करते होंगे, क्योंकि यह उनके अपने माध्यम और अपनी रचनाओं के पुनर्मूल्यांकन से बहुत भिन्न नहीं है। 'अब काम हमारे आती हैं ये अपनी पिछली कविताएं।' मैं यह पंक्ति याद दिलाना चाहता हूं।

> **शुरू के प्रश्न की द्वन्द्वात्मकता आपके यहां दरअसल हर चीज़ में दिखती है। 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' की अक्सर कविताएं बिलकुल व्यक्तिगत और कभी-कभी घरेलू-सी हैं, तो कि वे सारी व्यापक अर्थ में राजनैतिक या समसंबंधी कविताएं हैं। कुछ समय पहले 'पूर्वग्रह' में छपे अपने एक वक्तव्य में आपने जब यह कहा कि कविता-मय जीवन उसकी खोज है तो यह भी कहा कि कविता इस जीवन में शायद सबसे अधिक मर्त्य है, वह हुई नहीं कि मरी। 'अपनी ही रची हुई भाषा का जादू नष्ट करके' कविता को देर तक जादू-हीन बनाने से उपजी कविता की बात भी इसी टिप्पणी में है। कविता के होने और समाप्त होने की यह द्वंद्वात्मकता अनेक जगह अंतर्विरोध भी लगती है। इसे कुछ स्पष्ट करें।**

कविता हुई नहीं कि मरी का मतलब तो सिर्फ यह है कि जिस क्षण आप एक कविता को पूरा लिख लेते हैं, अर्थात आप किसी एक जगह से शुरू करके यह जान लेते हैं, कि आपने क्या लिखा, उसके बाद कवि के लिए उसका वह महत्व नहीं रह जाता जो कि दूसरों के लिए होता है। इसके साथ यह भी होता है कि जिस सामग्री से आपने वह रचना की थी, वह खत्म हो जाती है। साथ ही और भी एक बात होती है कि जिस कलात्मक अनुभव को आपने दुबारा से अनुभव और अभिव्यक्त किया वह अनुभव खत्म हो जाता है। कभी-कभी यह भी संभव है कि वह पूरी तरह से खत्म न हो। तब यह भी मानना पड़ेगा कि वह कविता जो आपने उस समय लिखी है वह भी पूरी तरह से पूरी नहीं हुई। और यह कोई बुरी बात नहीं है। ऐसा होता है। कविता हुई नहीं

कि मरी का मतलव केवल यह है कि जैसे ही वह कविता पूरी होती है, उस कविता में जो कुछ भी आपने इस्तेमाल किया है या उसमें भाषा के जरिये जो कुछ भी ऐसी चीज उस समय पैदा हुई है जो कि आपके लिए नयी थी, उसके वाद वह आपके लिए नयी रहती। कविता तो वह रहती है, मेरे लिए भी एक बिल्कुल प्रचलित अर्थ मे कविता है। मैं अपनी पुरानी कविताओं को अगर पढता हूं तो मैं उनसे एक दूसरे क़िस्म का रस लेता हू। मुझे उनको दुवारा पढने मे एक हल्की-सी प्रतिध्वनि सुनाई देती है और एक वार यह भी आभास होता है कि जिस तरह जिन चीजों का मैंने इस्तेमाल किया था उनके नतीजे क्या निकले थे—यह एक बार देख आने का जो लाभ है, वह मिलता है। बहुत करके एक शिल्पगत लाभ मिलता है और एक अपनी आत्मा या मन के लिए भी मिलता है, लेकिन ऐसा वहुत दुर्लभ है कि वहुत दिन बाद कोई अपनी बहुत पुरानी कविता पढ़ के एकाएक यह मालूम हो कि यह बिलकुल किसी दूसरे की कविता थी जो मैंने पढी। चूकि मैं उन सबसे गुज़र चुका हूं इसलिए आत्मा और मन को वे चीजें दुबारा ठीक-ठीक वह नही दे सकती जो कि वे एक बार दे चुकी है। इस अर्थ मे मेरे लिए उस कविता के होते ही मेरा उससे रिश्ता टूट जाता है। मैं उसे करके अलग रख देता हूं—दुबारा देखने के लिए, दुबारा समझाने के लिए, दुबारा जानने के लिए; लेकिन एक बिल्कुल दूसरे अर्थ मे : 'फिर कभी फ़ोटो निकालकर देखूगा अपना बेगानापन पहचानने के लिए।'

अपनी ही रची हुई भाषा का जादू नष्ट करके कविता को देर तक जादूहीन वनाये रखने की वात। यह सतर्कता इसलिए जरूरी है कि अगर मैं अपनी कविता के प्रति वह मोह नही छोड़ता तो यह वहुत संभव है—क्योंकि शिल्प वड़ी भारी ताक़त है और वह और उसकी पूरी दुनिया जिसको कि बहुत से ऐसे तत्वो ने बनाया है जो कि मेरे लिए शत्रुवत् हैं, मिल कर आदमी के मन और संस्कार को कभी-कभी बुरी तरह दबोच लेते है—कि अगर मै सतर्क न रहूं तो मैं इस मोह में वड़ी आसानी से पड़ सकता हूं कि जिस तरह का शिल्प इस रचना मे प्रस्तुत हुआ है उसको मैं अगली किसी रचना में एक जादू वनाने के लिए या चमत्कार के लिए इस्तेमाल करूं। इसलिए मैं हर रचना मे यह शर्त रखना चाहता हूं कि किसी भी रचना मे मैं शिल्प को वह स्थान नही पाने दूगा कि जिससे कि वह रचना मे एक तरह का जादू, एक तरह का ऐसा आकर्षण पैदा करे जो कि दूसरों को मुग्ध या स्तंभित या स्तब्ध कर दे। बजाय इसके कि मैं यह करूं, मैं यह बेहतर समझूगा कि मैं अपनी कविता को, जिस समय मैंने उसे लिख लिया है उसी समय अपने पास से हटाकर अलग रख दू, दुबारा पढने के लिए, देखने के लिए, और किसी भी हालत में उससे इनकार करने के लिए नही। मुझे तरस आता है उन पर जो यह कहते है कि

किसी समय मैंने यह कविता लिखी थी लेकिन अब मैं इसको 'डिसओन' करता हूं। आप परित्याग नहीं कर सकते किसी भी कविता का। इस अर्थ में मैंने नहीं कहा कि उसको अलग रख दूंगा, बल्कि इस अर्थ में कहा कि यह काम हो चुका, अब इस काम की नकल करने का मतलब होगा कि अपने साथ धोखा करना।

अ० वा० : हां, पर जो काम हो चुका और जो काम अब आप करना चाहते हैं उसके बीच कोई-न-कोई तो संबंध होगा। यानी कविता ने एक बार जो जादू प्राप्त किया और अब उस जादू को तोड़कर जो नया जादू या दूसरा जादू वह पा रही है—इस और उस जादू में क्या कोई संबंध नहीं? पहले वाला जादू नहीं, शायद दूसरा जादू है।

इसको एक दूसरे ढंग से कहा जाये कि रचनाकार एक कविता में एक शिल्प अर्जित या उपलब्ध करता है तो जरूरी नहीं है कि वह पूरी तौर पर उसे स्वायत्त भी उसी रचना में कर लेता हो—हो भी सकता है कर ले—और उसके बाद जो शिल्पगत परिवर्तन उसकी कविता में होते हैं, उनकी तर्कसंगति क्या है। यानी उनके बीच में जो सिलसिला बनता है वह बाहर से देखने वालों को तो एक दूसरे ढंग से दिखाई देगा कि मसलन पहले इसका इस्तेमाल, उसका इस्तेमाल करते थे, या इस तरह की भाषा, इस तरह की शैली का, छंद का छंद के किसी तोड़ का वग़ैरा-वग़ैरा; लेकिन ख़ुद जो उसे करता है उसके लिए यह किस तरह का अनुभव है?

सिलसिला शिल्प का सिलसिला नहीं है। अनुभव का सेतु है। आत्महत्या के विरुद्ध की कविताओं में और हंसो हंसो जल्दी हंसो की कविताओं में अगर कोई सेतु आपको दिखाई देता है, तो एक अंश में तो वह सेतु आपको इसलिए भी दिखता है कि एक में कुछ चीजें छोड़ दी गयी थीं और दुबारा यहां पकड़ी गयी हैं। एक मानी में यह सेतु इसलिए भी है कि आपको कवि का जो चरित्र उसमें था और जैसा इसमें है उन दोनों के बीच में एक रिश्ता लगता है तो वास्तव में दो कविताओं के शिल्पों का सेतु कवि के चरित्र में से होकर है और वह कवि के चरित्र के विकास का ही रास्ता है जिससे कि एक शिल्प दूसरे शिल्प से जुड़ता है। स्वयं शिल्प की अपनी कोई सत्ता नहीं है जिससे कि वह एक क़दम के बाद दूसरा कदम उठा सके—और है सत्ता, लेकिन उससे कवि का विरोध है। मैं शिल्प को बहुत बड़ा प्रतिद्वंद्वी मानता हूं, क्योंकि काफी

नुकसान पहुंचानेवाली ताक़त उसके पास है । तो इसलिए उसकी अपनी सत्ता, अगर वह है भी तो, कवि बराबर उसका प्रतिरोध करता है । आपने इस दौर में जो कविताएं लिखी और अगले दौर में जो लिखी, उनके बीच में आप क्या बने, यही निश्चित करेगा कि जब आप दुबारा कविता लिखेंगे तो उस कविता में जो शिल्प इस्तेमाल होगा उसका, आपने पहले जो शिल्प इस्तेमाल किया था उससे क्या संबंध है । पर वह संबंध शिल्प स्वयं अपने द्वारा तय नहीं करेगा ।

मं० ड० : इसमें द्वंद्वात्मक्ता का प्रश्न भी है । शुरू में आपने कहा कि जब मैं अनुभव कर रहा हूं तो उसमें निस्संग भी हो रहा होता हूं । या 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' में खास तौर से कविताए व्यक्तिगत हैं और साथ-साथ राजनैतिक भी हैं ।

मुझे आप यह समझाइए कि व्यक्तिगत और राजनैतिक में क्या विरोध है ? क्या द्वंद्व है ? एक कविता व्यक्तिगत है और साथ में राजनैतिक है, इस में विचित्र बात क्या है ? व्यक्तिगत कविता क्या राजनैतिक नहीं हो सकती ?

मं० ड० : बिलकुल हो सकती है, होनी चाहिए । पर आम तौर पर राजनैतिक कविता की जो धारणा है वह ऐसी नहीं है । इसे काव्यात्मक नहीं बल्कि समाजशास्त्रीय स्तर पर लिया जाय, तो मसलन सारी दुनिया में जो वामपंथ है—जैसे एक खास तरह के सामाजिक-राजनैतिक समय में यह बहुत मुश्किल हो गया है कि कोई दक्षिणपंथी रहते हुए कोई सार्थक बात कह सके या कर सके ।

मैंने शुरू में ही कहा कि आप अगर अन्याय के पक्षधर है, अगर आप द्वेष करते हैं, अगर आप आदमी को नष्ट करना चाहते है तो आप रचना नहीं कर सकते, अगर आपका मतलब हो कि जो इन सब चीजो के खिलाफ नहीं साथ हों, वह दक्षिणपंथी है, जो नहीं हो वह वामपंथी है···

मं० ड० : हां, अगर उसकी अवधारणाएं तैयार की जायें तो—

अवधारणाएं कौन बनाता है, सब कुछ इस पर निर्भर होगा । एक अवधारित वामपंथी या दक्षिणपंथी दोनों कल जाकर हाथ मिला लेंगे, फिर आप क्या करेंगे ? मिला ही रहे हैं । हम ऐसी सूरत में इन विशेषणों का इस्तेमाल करके—वामपंथी और दक्षिणपंथी—कवि को अकेला कर देने का कितना बड़ा इंतजाम कर रहे होते हैं । आपने वह ग्यारहवीं कहानी पढ़ी होगी जो रास्ता इधर से है मे है । उसमें जब रूस और अमेरिका ने हाथ मिला लिया तो भारत के दक्षिणपंथियों की भी और वामपंथियो की भी बड़ी मुसीबत हुई । तो मैं इन

को आरोपित कर रहा है। वह इसके योग्य नहीं है कि वह कविता को कविता की तरह से जांच सके। कविता के निकट ही वह आया है उसमे यह देखने के लिए कि वह उसके दल या उसके विचार या उद्देश्य के लिए कितनी उपयोगी है। हो सकता है कि संयोगवश उसने ठीक वही चीज पा ली हो जो कि उसमे हो, लेकिन उस संयोग के पीछे हम सारी धारणा को बरबाद नही करेंगे। इसलिए हम चाहेंगे कि उस आदमी का या उस दल का या उस समूह का या उस संपादक का या उस पत्रिका का निर्णय कि यह कविता राजनैतिक है, जिस पर हुआ है, उस कविता को मेरी राजनैतिक समझ जानने के लिए इस्तेमाल न किया जाये क्योंकि उसमे विकृत अर्थ निकलेंगे।

मं० ड० : कवि की क्या कोई प्रति-राजनीति होती है या ··

क्या यह आप मानकर चल रहे है कि राजनीति संगठित ही होती है या यह कि राजनीति संगठित दलों के ही द्वारा होती है ?

अ० वा० : संयोग है कि दुर्योग, हमारे यहां अकसर राजनैतिक दल ऐसे कोई नतीजे नहीं निकालते।

निकालते है। बराबर निकालते है।

अ० वा० : मान लीजिए, निकलते भी हों। छोड़ दें, हम उनकी बात नहीं कर रहें हैं। हम उन लोगों की बात कर रहे हैं जो मसलन जरूरी नहीं है कि किसी संगठित राजनैतिक माध्यम का उपयोग करते ही हों, लेकिन जो एक राजनैतिक दर्शन से प्रभावित और प्रेरित लोग हैं और जो साहित्य-विमर्श करते हैं। ऐसे लोग अपने उस राजनैतिक दर्शन के अधीन, जो उन्हें मुक्त भी करता होगा और संसार को समझने की दृष्टि भी देता है, कुछ औज़ार भी देता है और कुछ सीमाएं भी बांधता होगा, वे लोग जिस ढंग के निर्णय जिन कविताओं के बारे में करेंगे, उनके बारे में आप क्या कहेंगे ?

आदमी को गुलाम बनाने वाली राजनैतिक विचारधारा, पद्धति या सिद्धात जिन ठोस तथ्यों और डेटा के आधार पर बनायी जाती है उनको वह सीमित कर चुकी होती है और किसी भी आदमी को उनमे वृद्धि करने की इजाज़त नही देती। किसी भी आदमी को नही देती—कवि को तो दूर, जब कि कवि का हर समय काम यही है कि वह इंसान की राजनैतिक जिंदगी के तथ्यों मे वृद्धि करे। तथ्य का मतलब यहा अनुभव भी है, क्योंकि एक अनुभव जो कविता से होता है, वह भी एक तथ्य बनता है। लेकिन अगर एक राजनैतिक

परिभाषाओं को चाहता हूं कि आप साफ़ करके रखें। यह मैं मान सकता हूं कि अगर इंसान और इंसान के बीच एक ग़ैर-बराबरी का रिश्ता है और उस रिश्ते को कोई आदमी मानता है कि ऐसे ही रहना चाहिए, तो वह कोई रचना नहीं कर सकता। वह एक भी कविता नहीं लिख सकता—ऐसी जिसको पढ़कर मैं खुश होऊं कि यह कविता है। इसके उलट अगर आप यह मानें कि जो आदमी इस ग़ैरबराबरी को हटाना चाहता है—अब वह कैसे भी हटाना चाहता हो, वह अवधारणाओं के द्वारा हटाना चाहता हो, किसी संगठित कार्रवाई के द्वारा हटाना चाहता हो या केवल इसी के द्वारा हटाना चाहता हो कि मैं कम से कम नहीं करूंगा और इसकी निस्सारता को भी पहचानता हो कि मेरे अकेले यह न कर देने से होगा नहीं, लेकिन मैं करूंगा नहीं—तो मैं समझता हूं कि तीनों-चारों प्रकारों से वह रचना करने में समर्थ और योग्य बना रहता है। लेकिन वामपंथी और दक्षिणपंथी शब्दों का आप इस्तेमाल करेंगे तो यह बहुत ही सम्भव है कि बहुत जल्दी किसी भी समय आगे जाकर के आपको दुबारा अपनी मूल मान्यताओं को या तो बदलना पड़ जायेगा ताकि इन शब्दों का अर्थ ठीक-ठीक बना रहे, या फिर इन शब्दों को छोड़ देना पड़ेगा।

अ० वा० : यह तो ठीक है, पर इसके अलावा खास तौर से पिछले पांच-सात वर्ष में कवि की राजनैतिक दृष्टि को—यानी एक कोई ऐसी दृष्टि उसकी जो और दृष्टियां हैं उनसे 'रिड्यूस' करके निकाल ली जाती है और यह माना गया है कि निकाली जा सकती है, उसको लेकर बहुत वावेला मचता रहा है। अकसर यह दृष्टि ज़रूरी नहीं है कि रचना से निकाली गयी हो, और बहुत सारी चीज़ों से निकाल ली गयी है और यह मान लिया गया है कि रचना में भी ऐसी ही दृष्टि होती होगी। इस बारे में आप क्या सोचते हैं? आपने कहा भी था कि हर कविता राजनैतिक है क्योंकि उसका आदमी की दुनिया से संबंध है।

कवि की राजनीतिक दृष्टि क्या है यह केवल उसकी उन कविताओं से जाना जा सकता है कि जिन कविताओं को राजनैतिक माध्यम से काम करने वाले लोग राजनैतिक नहीं मानेंगे। मतलब मेरी जिस कविता को किसी भी पार्टी के लोग यह कहेंगे कि यह राजनैतिक कविता है, उस कविता को अलग रख दीजिए। बाकी कविताओं में देखिए कि क्या राजनीति है। क्योंकि जिस कविता में एक संगठित राजनैतिक माध्यम से काम करने वाला व्यक्ति या दल राजनैतिकता देख रहा है, उसमें निश्चित रूप से वह अपनी राजनैतिक इच्छाओं

को आरोपित कर रहा है। वह इसके योग्य नहीं है कि वह कविता को कविता की तरह से जांच सके। कविता के निकट ही वह आया है उसमें यह देखने के लिए कि वह उसके दल या उसके विचार या उद्देश्य के लिए कितनी उपयोगी है। हो सकता है कि संयोगवश उसने ठीक वही चीज़ पा ली हो जो कि उसमें हो, लेकिन उस संयोग के पीछे हम सारी धारणा को बरबाद नहीं करेंगे। इसलिए हम चाहेंगे कि उस आदमी का या उस दल का या उस समूह का या उस संपादक का या उस पत्रिका का निर्णय कि यह कविता राजनैतिक है, जिस पर हुआ है, उस कविता को मेरी राजनैतिक समझ जानने के लिए इस्तेमाल न किया जाये क्योंकि उसमें विकृत अर्थ निकलेंगे।

मं० ड० : कवि की क्या कोई प्रति-राजनीति होती है या…

क्या यह आप मानकर चल रहे हैं कि राजनीति संगठित ही होती है या यह कि राजनीति संगठित दलों के ही द्वारा होती है?

अ० वा० : संयोग है कि दुर्योग, हमारे यहां अकसर राजनैतिक दल ऐसे कोई नतीजे नहीं निकालते।

निकालते हैं। बराबर निकालते है।

अ० वा० : मान लीजिए, निकलते भी हों। छोड़ दें, हम उनकी बात नहीं कर रहें हैं। हम उन लोगों की बात कर रहे हैं जो मसलन जरूरी नहीं है कि किसी संगठित राजनैतिक माध्यम का उपयोग करते ही हों, लेकिन जो एक राजनैतिक दर्शन से प्रभावित और प्रेरित लोग हैं और जो साहित्य-विमर्श करते हैं। ऐसे लोग अपने उस राजनैतिक दर्शन के अधीन, जो उन्हें मुक्त भी करता होगा और संसार को समझने की दृष्टि भी देता है, कुछ औजार भी देता है और कुछ सीमाएं भी बांधता होगा, वे लोग जिस ढंग के निर्णय जिन कविताओं के बारे में करेंगे, उनके बारे में आप क्या कहेंगे?

आदमी को गुलाम बनाने वाली राजनैतिक विचारधारा, पद्धति या सिद्धांत जिन ठोस तथ्यों और डेटा के आधार पर बनायी जाती है उनको वह सीमित कर चुकी होती है और किसी भी आदमी को उनमें वृद्धि करने की इजाज़त नही देती। किसी भी आदमी को नही देती—कवि को तो दूर, जब कि कवि का हर समय काम यही है कि वह इंसान की राजनैतिक ज़िंदगी के तथ्यों मे वृद्धि करे। तथ्य का मतलब यहा अनुभव भी है, क्योंकि एक अनुभव जो कविता से होता है, वह भी एक तथ्य बनता है। लेकिन अगर एक राजनैतिक

सिद्धांत या पद्धति या विचारधारा के मानने वाले लोग किसी भी कविता के बारे में कोई राजनैतिक विचार रखते हों तो कवि को उनके बारे में कोई लगाव नहीं होना चाहिए।

> अ० वा० . मानो आप जो कह रहे हैं उसके पीछे कहीं न कहीं एक पूर्वग्रह है कि यह इजाफ़ा करने की इजाज़त उसमें नहीं होगी, इसलिए जो बुनियादी रचना-कर्म है उसके यह विरुद्ध ही होगा। स्वयं रचना करते हुए भी जो कवि है वह अपना एक दर्शन या दृष्टि विकसित करता है या अर्जित करता है। जिस तरह की दृष्टि विकसित करने की इजाज़त उसको एक राजनैतिक दर्शन नहीं देता, उस तरह की इजाजत हो सकता है उसका खुद का अर्जित किया हुआ अनुभव-दर्शन भी न दे।

यह सभव है और बहुधा होता है। पर किसी भी आदमी को कविता की जांच के लिए कविता मे दी गयी शर्तों के अलावा किन्ही शर्तों की इजाज़त नहीं दी जा सकती।

> अ० वा० : पर ये जो कविता की शर्तें हैं ये क्या इतनी निरपेक्ष शर्तें हैं ? कविता को कविता की शर्तों पर जांचना—पर कविता की शर्तें बनें तो कैसे बनेंगी ? क्या वे सिर्फ़ कविता द्वारा निर्धारित होंगी या कि कोई और तत्व भी इसमें शामिल होगे ? मसलन, एलियट की एक प्रसिद्ध स्थापना थी कि कोई कृति साहित्य है या नहीं इसका निर्णय तो शुद्ध साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर हो सकता है, पर कोई कृति महान है या नहीं इसका निर्णय सिर्फ़ साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर नहीं हो सकता। मतलब उसमें उसका नैतिक-सामाजिक प्रभाव, नैतिक मूल्य वगैरा तत्व भी होगे।

कौन से नैतिक मूल्य ? किसने बनाये हैं वे ? अतत. आप यही कहते हुए पाये जायेंगे कि मै बहुत अधिक सतर्क हूं कि कहो कविताएं उन नैतिक मूल्यों के द्वारा न जांची जाने लगें जो भ्रष्ट नैतिक मूल्य है। फिर आपको यह बताना पड़ेगा कि आखिर कौन से ऐसे नैतिक मूल्य है जिनके कि भ्रष्ट होने की संभावना सबसे कम है, क्योकि आखिर आप सब नैतिक मूल्यों की सूची बनाकर उसमे भ्रष्ट और पवित्र तो नहीं लिख सकते। तो जिनकी संभावना सब से कम होगी वे अततः वही नैतिक मूल्य होगे जो कि कवि निश्चित करता है। इसलिए यह सही है कि आप किसी भी रचना को केवल उसकी अपनी शर्तों के आधार पर नही जांच सकते, लेकिन यह इसी अर्थ मे सही है कि कविता

की शर्तों की परिभाषा में अभी तक आपने यह नहीं जोड़ा है कि उस कवि का नैतिक योगदान क्या है। हम जब कविता की शर्तें कहते हैं तो आम तौर से भाषा, शब्द, शिल्प के इस्तेमाल आदि की ही बात सोचकर रह जाते है, हमारे लिए यह ज्यादा उचित होगा कि हम इस शर्त को भी उस कवि के ही कृतित्व में ढूंढ़ने की कोशिश करें जिसको हम एक नैतिक शर्त कहते हैं।

> **अ० वा० : तो बजाय यह कहने के कि हम यह कहे कि हर कविता अंततः राजनैतिक है, शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि हर कविता अंततः एक नैतिक कर्म है।**

राजनैतिक होना क्या एक नैतिक कर्म नहीं है ? असल में दिक़्क़त यों हो रही है कि राजनैतिक शब्द का आप जब भी इस्तेमाल करते हैं तो आप अभिप्राय लेते हैं संगठित राजनीति से। मैं कविता के संदर्भ मे नही लेता।

> **मं० ड० : आपने जब कहा कि आपकी कविता इस अर्थ में राजनैतिक है तो किस अर्थ में उसका एक खास दूसरी राजनीति और समाज में व्यापक रूप से स्वीकृत और समाज को बनाने और उजाड़ने वाली राजनीति—संगठित राजनीति से अलगाव है ?**

समाज में व्यापक रूप से स्वीकृत या समाज को बनाने या उजाडने वाली राजनीति मे और कवि की राजनीति मे अंतर नही है। अंतर है संगठित राजनीति मे और राजनीति मे। आप जिस समय पैदा होते है, आप समाज मे पैदा कर दिये जाते हैं और आपका हक हवा-पानी, ज़मीन और ज़मीन के नीचे जो है, और दुनिया मे जो चीज़ें अभी खोजी जायेंगी, उनके ऊपर और दुनिया से बाहर जो चीजें खोजी जायेंगी, जिन्हे इंसान खोजेंगे, उनके ऊपर है—इसलिए कि आप इंसान है। वह आपका राजनैतिक अधिकार है। इस राजनैतिक अधिकार के अनेक उपयोग है और उन उपयोगों को आप ही कर सकते हैं। करते है, अपने हर रचनात्मक काम के द्वारा। इस अर्थ में राजनैतिक हैं आप, क्योंकि आप राजनैतिक नही होगे तो आप अपने इन अधिकारों के बारे में सचेत नही होगे। आप इन अधिकारों को शोषकों के लिए छोड़ देने को तैयार होगे। आप या तो उस हालत में बहुत ही मुर्दा किस्म की ज़िंदगी जी रहे होगे या अगर आप ऊपर से ज़िंदा दिखने वाली ज़िंदगी जी रहे होगे तो आप उन राजनैतिक संगठनों द्वारा इस्तेमाल किये जाने के लिए सुरक्षित रखे गये होगे जो कि आपके इस अधिकार को छोड देने के पक्ष में है। ऐसे तमाम बोदों को, मूर्खों को, अधकचरो को एक खास तरह की राजनैतिक बुद्धि के लोग प्रश्रय देते है, उनको समाज मे बढ़ाते है आगे। यह खाली संसार

के भ्रष्ट नियमों में से एक नियम नहीं है कि संसार में घटिया लोग ही आगे बढ़ते हैं। वे बढ़ाये जाते है, क्योंकि वे अपने राजनीतिक अधिकारों को छोड़ कर चलने को तैयार रहते है, क्योंकि ये लोग जो कि दुनिया में आगे बढ़ाये जाते हैं, वे अच्छी कविता नहीं पढ़ते।

इसलिए मैं राजनीति के अर्थ के बारे में बहुत साफ रहना चाहता हूं। अगर आपका बार-बार यह अर्थ है कि दलों की राजनीति या सत्ता की राजनीति, तो मेरा वह अर्थ नहीं है क्योंकि सत्ता की राजनीति और रचना का तो बिल्कुल छत्तीस का संबंध है। प्रत्येक रचना सत्ता के खिलाफ होती है। इसलिए होती है कि सत्ता का सारा अभिप्राय—किसी एक सरकार की सत्ता की बात नहीं कर रहा हूं—आदमी के पास, उसका हक़ जितनी आजादी का है उससे कम आजादी रखना होता है। वरना सत्ता नहीं होगी। वरना तो सबकी बराबर सत्ता होगी। जिस हद तक हम स्वेच्छा से अपनी आजादी सौंपते हैं—किसी दूसरे ही प्रतिरूप को स्वेच्छा से और सीमित समय के लिए (वह समय कैसे सीमित होता है, यह सिर्फ एक सामाजिक प्रथा है कि वह पांच साल में चुनाव से सीमित होगा या कोई और कानून होगा जिससे कि वह जब चाहें तब सीमित किया जा सके) हम अपनी आजादी का एक हिस्सा इसलिए देते हैं कि वह समाज का और राज्य का प्रबंध करे, तो सत्ता के और हमारे बीच में एक रिश्ता बनता है। वह रिश्ता हमेशा तनाव का रिश्ता होगा। रचना इस तनाव का प्रतिनिधित्व करती है। और इसलिए रचना का पक्षपात हमेशा उस स्वेच्छा को बनाये रखने के और उस सीमा को बनाये रखने के प्रति होता है। वह उन दोनों को कभी हमेशा के लिए नष्ट नहीं होने देना चाहती। रचना न जाने किस वक्त सत्ता को इस स्वेच्छा से प्राप्त हुई शक्ति को किसी न किसी रूप में वापस देने के लिए कहने लगे, यह सत्ता नहीं जानती—इस अंतर्निहित डर के कारण वह रिश्ता हमेशा तनाव का बना रहता है। यह तो बिलकुल अनिवार्य शर्त है—हर रचना के लिए। यह बात और है कि किसी एक दिये हुए समय में, किसी दिये हुए समाज में जिन लोगों के हाथ में सत्ता है वे इस बात को स्वीकार करते हो कि रचना का यह कार्य है कि वह सत्ता की इन प्रवृत्तियों पर अपने ढंग से अंकुश रखे और यह स्वीकार करके ही वे सत्ता हाथ में लेते हो। यह संभव है। सत्ता जिनके हाथ में है वे हमेशा रचना के विरुद्ध होंगे—यह सिद्ध नहीं हो गया। लेकिन यह खतरा भी दूर नहीं हुआ। तो इसलिए जब आप दलीय और संगठित राजनीति की बात करते हैं तब यह मानते हुए भी कि सत्ता भी मनुष्य को आज़ाद करने का एक साधन है मैं यह याद दिलाये रखना चाहता हूं कि सत्ता हमेशा स्वेच्छा से और सीमित समय के लिए दी जाने पर मनुष्य को आज़ाद करने का एक साधन बन सकती है।

इसलिए दलीय संगठित राजनीति की आवश्यकता के साथ-साथ रचना की भी आवश्यकता बनी रहती है। और फिर इन दोनों मे भी वही विरोध बना रहता है जो कि सत्ता और रचना मे पहले था। इसलिए किसी भी प्रकार की संगठित राजनीति को मैं कभी यह पूरा अधिकार नहीं दे सकता कि वह रचना की जांच करे या उस पर निर्णय दे। और निर्णय देगी तो उस निर्णय को मैं पक्षपात का निर्णय मानूगा, भले ही वह संयोगवश सही निर्णय हो। इस बात की संभावनाएं बहुत अधिक हैं कि जिन कविताओ में किसी राजनैतिक दल ने राजनीति का इस्तेमाल नही देखा है उन्हीं में सब से ज्यादा आदमी के लिए न्याय के पक्ष की राजनीति हो।

अ० वा० : इससे एक बात यह निकलती है कि—जहां तक मेरी जानकारी है—पहले कविता पर या कविता की अर्थवत्ता पर विचार करते समय सत्ता या सत्ता से रिश्ता या राजनीति कोई प्रतिमान या कि विचारणीय मुद्दा नहीं होता था।

पहले माने कब ?

अ० वा० : मसलन छायावाद के ज़माने में। अब होने लगा। यह और बात है कि जैसे ज्यादातर रचना फूहड़ होती है तो ज्यादातर आलोचना भी फूहड़ होती है—इसलिए वन मैचेज द अदर। लेकिन क्या यह आप कहेंगे कि पिछले बीस-पचीस सालों में सत्ता के प्रति, राजनीति के प्रति—उस अर्थ में जिस अर्थ में आपने राजनीति कहा—और संगठित राजनीति के प्रति यह जो रुख है, यह साहित्य में विचार का एक प्रमुख केंद्र रहा है। यह जो शिफ्ट है, इसका आप कैसे विश्लेषण करेंगे ?

मुझे खेद है कि यह विचार का प्रमुख केंद्र नहीं बना। बल्कि संगठित राजनीति मे सतर्क रहने की इच्छा बहुत बिखरी और बहुत अनमने भाव से साहित्य मे दिखायी दी। और जब दिखायी दी तो जिन व्यक्तियों मे दिखायी दी, जिन्होने उसको प्रकट किया उन पर एक दूसरे किस्म की संगठित राजनीति से जुड़े होने का संदेह प्रकट किया गया। और साथ मे मैं यह कहना चाहूंगा कि यह हुआ भी है। ऐसे व्यक्ति भी हुए हैं जिन्होंने व्यक्ति-स्वातंत्र्य की बात कही है—इसलिए कि वह एक प्रकार की संगठित राजनीति के हित में थी, इसलिए नहीं कि वे व्यक्ति-स्वातंत्र्य के पक्ष में थे। यह सारी स्थिति का एक अनिवार्य हिस्सा है जिसको छिपाकर हम केवल यह दो-टूक बात नही कर सकते कि जिसने भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य की बात की उस पर संगठित राज-

नीति ने जवाबी आरोप लगा दिया। किंतु मोटे तौर पर यह बात सही है कि जिन लोगों ने ईमानदारी से रचनाकार की राजनैतिक स्वतंत्रता की बात की है, जो कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य का दूसरा नाम है, वे खुद कम रहे हैं। उनमें अनमनापन रहा है, उदासीनता रही है। लेकिन यह बात जरूरी है कि संगठित राजनीति और रचना में तनाव का रिश्ता होना चाहिए और सत्ता और रचना में भी तनाव का रिश्ता होना चाहिए। रिश्ता होना चाहिए, मैं रिश्ते से इनकार नहीं करता—मैं इस बात को बिलकुल नहीं कह रहा हूं, और यह बड़ी बेवकूफी की बात होगी अगर कही जाये तो, कि रचनाकार हमेशा विरोध करता रहता है। रचनाकार हमेशा रचना करता रहता है, वह रचना बहुधा विरोध हुआ करती है। क्योंकि अगर आप यह मान लें कि रचनाकार विरोध किया करता है तब तो फिर आप इतने विरोध करेंगे कि रचना बिल्कुल नहीं करेंगे। तो बहरहाल बीस-पच्चीस बरस में कुछ—आपने स्थापना की कि—इस बात को प्रमुखता मिली है कि रचनाकार और सत्ता के बीच क्या रिश्ता है।

> अ० वा० . जो आप कह रहे हैं उसमें मैं सहमत हूं। इस तरह का दिखावा तो हुआ है, पर बहरहाल मैं ऐसा कोई भी विश्लेषण याद नहीं कर सकता जिसमें सचमुच किसी लेखन की किसी कृति को इस बात को लेकर सचमुच पड़ताल की गयी हो कि इन दो-तीन चीजों से उसका संबंध है या नहीं और उनका कलात्मक औचित्य या अनौचित्य क्या है।

अगर आप ऐसा कुछ नहीं पाते हैं तो बहुत करके उसका कारण क्या यह नहीं है कि हम लोगों ने आजाद होते ही सबसे पहला ध्यान इस ओर लगाया कि—और उचित ही किया—हम अपनी आजादी स्वेच्छा से और सीमित समय के लिए ही सौंप रहे हैं, क्योंकि गुलामी के जमाने में इस बात के ही लिए तो सारी लड़ाई थी और जब यह अधिकार प्राप्त कर लिया गया तब सारा ज़ोर इस अधिकार के भोग-उपयोग पर और उसकी आवृत्ति पर हुआ। यह संगठित राजनीति के ही माध्यम से सुरक्षित रह सकता था। इसके साथ संगठित राजनीति की कमजोरियों को दूर करने का, उसमें नये प्रयोग करने का जरूरी प्रश्न था और उस प्रश्न में चूंकि बहुत जल्दी किसी नतीजे पर नहीं पहुंच सकते थे, इसलिए उसके साथ जूझने में बहुत वक्त लगाना बर्दाश्त किया गया। इसलिए और भी लंबा वक्त संगठित राजनीति को मिला कि जिससे वह लोगों को भ्रष्ट दलीय राजनीति और वोट-संग्रह के प्रमुख प्रश्न पर अटकाये रही जिससे कि उसके खिलाफ खड़ी होने वाली रचना की शक्ति को

बहुत अधिक उत्तेजन नहीं मिलने पाया। जैसे-जैसे हम संगठित राजनीति की अकर्मण्यता या अकुशलता या असफलता को प्रकट पाते गये, बहुत से लोग केवल इस बात पर जोर देने लगे कि संगठित राजनीति असफल रह गयी। जो ऐसा कहते है वे इसका कही ज़िक्र नहीं करते कि संगठित राजनीति को सफल बनाने के लिए क्या प्रयत्न किये गये, जैसे कि इससे उनका कोई लगाव नही था। ऐसे लोगों से मुझे बहुत भय मालूम होता है, क्योंकि हो सकता है कि ये लोग शुरू से ही संगठित राजनीति के एक प्रकार के भ्रष्ट रूप की कामना किये हुए हो--ऐसे रूप की जिसमें कि स्वेच्छा से और सीमित समय के लिए अपनी आज़ादी सौंपी जाती है।

यह अब संभव हुआ है, जबकि हम उन प्रयोगों मे असफल रहे है कि हम पायें कि कौन सी वह ताक़त है जो कि संगठित राजनीति के दबावों को और उससे होने वाले नुकसानों से इंसान को बचा सके और उसकी अच्छाइयो को बनाये रख सके, क्योंकि संगठित राजनीति की अच्छाइयो को बनाये रखना मनुष्य की आज़ादी के लिए उतना ही अनिवार्य है जितना कि उसकी बुराइयो के खिलाफ़ खडे रहना। अगर आप यह मान लेते है कि संगठित राजनीति नही होनी चाहिए तो वहीं आप यह भी मान लेंगे कि स्वेच्छा और सीमित समय का भी प्रश्न नही होना चाहिए। आप मान लेंगे तो आप आदमी की आज़ादी भी कहा से बचायेंगे ? तो इसलिए यह बराबर मानते रहना पडेगा कि संगठित राजनीति अत्यंत आवश्यक है, लेकिन उसके खिलाफ रहना भी आवश्यक है और इसके मानने का सबसे अधिक उत्तेजन अब पैदा हो सकता है, क्योंकि अब हम उन तमाम प्रयोगों को, जो कि संगठित राजनीति की दुश्चरित्रता को दूर करने के लिए किये गये, विफल पा चुके है।

> **आपके नये संग्रह 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' की अधिकतर कविताओं में एक विशेष दहशत या आतंक है या फिर एक असमर्थ करुणा। 'सीढ़ियों पर धूप में' में भी करुणा थी, पर एक मानवीय शक्ति और सुंदरता होकर के थी। फिर 'आत्महत्या के विरुद्ध' में अपना रूप खोती हुई दुनिया में व्यापती फूहड़ता और बेहूदगी थी। नये संग्रह में फूहड़ दुनिया नहीं, उसके नीचे चीज़ों के खत्म होने की आवाज़ें हैं। शायद कवि के रूप में जिन चीज़ों को आप बचा रखना चाहते रहे होंगे उन्हें बचा न पाने की विकलता उनमें है। आप क्या बचाना चाहते थे ? दूसरे शब्दों में, कविता क्या कुछ बचा सकती है ?**

कविता क्या चीजें बचा सकती है ? बहुत सोच करके देखू तो भी मैं उसको

कुछ पहचानी जाने वाली शक्लों में नहीं देख पाता —सिवा इसके कि कुछ चीजें हैं जो कि रोज हम अपनी ज़िंदगी में करते हैं, पाते हैं और हर वक्त एक तरह की भावना से आक्रांत रहते हैं कि ये हमे रियायतों के रूप में मिली हैं, जबकि वे हमारे अधिकार हैं। उन चीज़ों को अगर बचा रखा जा सके तो हम सोच सकते है कि कभी-न-कभी हम इनको अपने अधिकार की तरह से बरतेंगे। आप यह कह सकते हैं कि मैं चाहता हूं कि इस बात को बचा रखा जाय कि बच्चा अपनी मां और अपने बाप के साथ एक रिश्ता रखता है। आप कह सकते हैं कि इस बात को बचा रखा जाये कि मैं जब कोई बहुत ज़ायकेदार चीज खाता हूं तो मेरे शरीर में एक संवेदन होता है। वह बचा रखने वाली चीज है। ये दोनों बहुत दो क़िस्म की चीज़ें हैं। इनके बीच में एक बहुत बड़ी, एक पूरी शृंखला के अंदर जो चीजें इंसान को, उसके शरीर के द्वारा उसकी अनुभूति और आत्मा मे खुशी देती हैं (और बाइज़्ज़त खुशी और दूसरे के लिए इज्जत रखते हुए खुशी—वह खुशी नहीं जो कि किसी को मार के मिलती है, वह खुशी नही जो एक चिड़िया का शिकार करके मिलती है) उन्हें जो चीज बचा सकती है वह कविता ही है। कविता जिन चीज़ों को बचा रख सकती है उनको पहचानने के लिए आप मुक्त हैं, पर वे अंततः वही होंगी जो कि आदमी को कहीं-न-कहीं आज़ाद करती हैं। मसलन, चिड़िया को मारने की खुशी आज़ाद नहीं करती। वह खुशी थोड़ी देर बाद जाके एक बंधन मे आदमी को बांध देती है। लेकिन और ऐसी बहुत सी खुशिया हो सकती हैं और उन खुशियों के साथ जुड़े हुए संदेह हो सकते हैं। 'काला नंगा बच्चा पैदल बीच सड़क पर जाता था'—उसको जब मैंने खींच लिया तो 'मेरे मन ने मुझसे कहा कि यह तो तुमने बिलकुल ठीक किया।' लेकिन उसके बाद जब मैंने अपने अनुभव और करुणा के दायरे को बढ़ाने की कोशिश की तो मैं घबरा गया, वहां से भागा, क्योंकि जब उस आदमी ने कहना शुरू किया कि हां इसकी मां भी मर गयी है और इसके भाई भी मर गये हैं, तो अगली बात वह यह कहता कि इसलिए साहब मुझे एक रुपया दीजिए या मैं और भी कुछ आपसे हकदार हूं। तो मेरा सारा जो करुणा का विस्तार था वह जटिल होने जा रहा था। पता नही वह झूठ बोल रहा था या वह सच बोल रहा था, लेकिन मैं डर गया थोड़ा कि अब ज़िम्मेदारियां बढ़ जायेंगी। तो यह मेरा कायरपन था। मैंने बड़ा अच्छा नहीं किया कि मैं भागा, लेकिन भागा। तो वह खींच लेने का जो मैंने काम किया था वहां, जो कि मुझे आज़ाद करता था, उसके साथ एक यह विकृति भी जुड़ी हुई थी कि मैं अपने को पूरी तरह से आज़ाद नहीं कर सका। मैं समझता हूं कि इस तरह की खुशियों को या ऐसी आज़ादी की इच्छाओं को और उनके साथ जुड़ी हुई

इन स्थितियों को जिनमें आपको अपनी अपूर्णता का अनुभव होता है या जिनमें आप अपने से प्रश्न करते है, दोनों को एक दूसरे के समेत, अगर कविता बचाये रख सकती है तो बहुत बड़ी बात होती है और अगर कविता बचा सकती है तो अंत में यही चीज़ बचा सकती है।

अ० वा० : हां। पर क्या यह बात आप मानेंगे कि आपके नये संग्रह की कविताओं में एक विशेष दहशत या आतंक है या असमर्थ करुणा है ?

दहशत या आतंक, हां शायद। असमर्थ करुणा मैं नही मानता। यह मानता हूं कि करुणा के द्वारा निष्कृत न हो जाने का एहसास पहले की अपेक्षा ज्यादा पूरा, ज्यादा स्पष्ट है और यह एहसास मैं समझता हूं कि जिंदगी को ज्यादा समझने के साथ पैदा होता है। शुरू जिंदगी मे हम समझते रहते हैं कि हम अपनी हिम्मत और इच्छा से बहुत-सी चीज़ें कर लेंगे। इसके समझने की वजह सिर्फ़ यह होती है कि उन चीजों को हमने किया नही है, क्योकि इतना वक्त ही नहीं गुज़रा होता है ज़िदगी मे कि हमने वे चीज़ें की हो। जब उनको हम करने लगते हैं तो धीरे-धीरे एक वक्त आता है जब हमको कभी-कभी मालूम होता है कि (और यहां ज़िंदगी से मतलब आप यह न समझें कि ज़िंदगी के बरस, अनुभव के भी बरस हो सकते है) जिन चीज़ो के बारे मे पहले आपने हिम्मत की थी—चाहे वे शारीरिक हों या मानसिक—उनको लेकर तमाम ऐसी ताकतें काम कर रही है जो कि आपकी कोशिशो को खत्म कर देती हैं। एक जगह ऐसी आती है जहां पर कि दहशत ज़िंदगी का एक अनिवार्य अनुभव बन जाती है। न आप मूढ बने रह सकते हैं ज़िंदगी-भर, और वृथा-साहसी भी आप ज़िंदगी भर नही बने रह सकते हैं। दोनों मिलाइएगा तो कही एक ऐसी जगह आयेगी जहां पर यह तनाव मिलेगा कि हम कुछ करना चाह रहे हैं, और कुछ लोग उसको नही होने देना चाह रहे है और वे लोग इतने ताकतवर है कि वे किसी भी तरह का तरीका अपना सकते हैं हमे रोकने के लिए। यहा तक कि शारीरिक तरीका भी अपना सकते है। बल्कि शारीरिक ही वे पहले अपनाते है, क्योंकि वैचारिक स्तर पर हमारा-उनका कोई मुकाबला हो नही सकता। इसलिए दहशत होना ज़रूरी है। अगर आपको नही होती तो या तो आप बहुत ताकतवर आदमी हैं, या बहुत उम्मीदें आपकी ज़िंदगी में अभी बाकी हैं या आप बहुत नातजुर्बेकार आदमी हैं। यह मैं मान सकता हूं कि बहुत उम्मीदें हमेशा रहनी चाहिए। मैं निजी तौर पर मानता हूं कि उम्मीद बहुत जरूरी चीज है। लेकिन मैं नही मानता हूं कि उम्मीद आराम के साथ की जा सकती है : उम्मीद करने में बहुत तकलीफ छिपी हुई

है। उम्मीद आप करते हैं लेकिन इस जानकारी के साथ करते हैं कि यह उम्मीद पूरी नहीं होगी। और अगर होती है तो फिर आप खुश होते हैं एक और उम्मीद करने के लिए जिसके बारे में फिर आपको यह खयाल होता है कि यह पूरी नहीं होगी। जो यह मानके चलते हैं कि सारी दुनिया सुधारी जा सकती है, अच्छे-अच्छे कामों से, अच्छी-अच्छी बातों से और सब कुछ अंत में भला होगा और कर भला तो होगा भला और आप भला तो जग भला वगैरा, उनकी ये सब भला संबंधी जितनी भी कहावतें हैं वे सब गलीज़ कहावतें हैं।

> अ० वा० . आप जो कह रहे हैं, दहशत के अलावा एक तरह का उदास विवेक कि चीज़ें ऐसी हैं, चीज़ें ऐसी हो सकती थीं, हालांकि नहीं हो सकीं।

लेकिन उसमें यह और जोड़िए कि ऐसी होनी चाहिए। मैं यह मानता नहीं कि आप निराशा को एक जीवनदर्शन बनाकर कोई भी रचना कर सकते हैं या कोई भी ऐसा काम कर सकते हैं जो रचना के तुल्य हो। लेकिन आप संशय को और कर्म को अपना जीवनदर्शन बनाकर चल सकते हैं, जो कि निराशा के ही जैसा दिखता है, लेकिन निराशा नहीं है।

दहशत तो एक ऐसी अनुभूति है जो कि आपको जरूर किसी वक्त ज़िंदगी में समझनी पड़ेगी, लेकिन यह मानकर कि चीज़ें वह नहीं हैं जो कि होनी चाहिए, आप यह बात फैलाना शुरू करें कि वह दहशत ही असल ज़िंदगी है तो यह गलत बात है। ऐसे बहुत से कवि हुए हैं हमारे यहां जिन्होंने कि यह लिख कर बहुत नाम कमाया. ज़िंदगी जो है वह मिट चुकी है, लाश है, उसमें कुछ नहीं रहा। मुझे लगता है कि १९६७ के आसपास ऐसे कवियों का उदय होना एक सामाजिक घटना है। उस वक्त संगठित राजनीति के दायरे में कुछ परिवर्तन होते दिखायी दे रहे थे। वे परिवर्तन अंत में बेकार साबित हुए, वह अलग बात है। लेकिन दिखायी दे रहे थे। और उस वक्त किसी को नहीं मालूम था कि वे बेकार साबित होंगे। उस वक्त जो यथास्थितिवादी लोग थे, बहुत घबराये हुए थे। यद्यपि उनको बिल्कुल घबराने की जरूरत नहीं थी क्योंकि वास्तव में परिवर्तन उन्हीं के पक्ष में हुआ। लेकिन वे घबराये हुए थे। और यह जो तमाम अकविता वाला संसार है यह उसी यथास्थितिवादी मध्य-वर्गीय बुद्धिजीवी का संसार है जो कि यह देखकर कि कहीं दलों के इस बने-बनाये राजनैतिक नेतृत्व को बदल देनेवाली शक्तियां सफल न हो जायें, बहुत परेशान था। उन्हीं को सारी दुनिया टूटती हुई, बिखरती हुई, जलती हुई लाश, धुआं वगैरा दिखाई दे रही थी। हमारे आलोचकों ने इस तरह से साहित्य को क्रांति और परिवर्तन का साहित्य कहा, जबकि यह यथास्थितिवादियों का

विलाप था और उस साहित्य ने यह कोशिश की कि निराशा और कुंठा को एक खास तरह की गरिमा दे—छायावाद ने उसको गरिमा दी थी—इसी परंपरा में एक नयी गरिमा। लेकिन वह हुआ नही। इसलिए कि यो तो छायावाद हिंदी साहित्य पर अब भी हावी है, लेकिन उसके वजन पर विश्व-साहित्य भी हावी है और यह हिंदी के लिए बहुत बडी एक देन है कि विश्व-साहित्य मे हिंदी का संबंध अन्य कई भारतीय भाषाओं की अपेक्षा कही ज्यादा अच्छा है।

अ० वा० : हां, अकविता का तो करुण क्या दयनीय अंत हुआ। इस मानी में कि शायद भौतिक रूप से तो वह लिखी जाती रही, लेकिन एक आंदोलन या एक प्रवाह के रूप में उस पर विचार बंद हो गया। उसके बाद एक और दूसरी कविता आयी जो मसलन उस तरह की दकियानूसी से अपने को मुक्त करती थी, सामाजिक एहसास, ज़िम्मेदारी वग़ैरह जिसमें थी। मसलन धूमिल, लीलाधर जगूड़ी और विनोदकुमार शुक्ल आदि की कविता, जो कि लगभग उसी दौर में लिख रहे थे।

चाहे कुछ भी ये अपने बारे मे कहें और चाहे कुछ भी हमारे आलोचक उनके बारे मे कहें, असलियत यह है कि इन लोगों मे एक-एक अश में सच्चा कवि काम कर रहा था। और उसी अंश तक इनकी कविता महत्त्व रखती है। इसलिए यह कविता अकविता की कविता से बहुत भिन्न अगर है तो इस अर्थ मे नही है कि यह आशावादी कविता है और वह निराशावादी कविता थी या कि यह समाज को बदलनेवाली कविता है और वह समाज को वैसा ही रखने वाली, बल्कि इस अर्थ मे कि यह ज्यादा अधिक—संख्या मे ही नही गहराई में भी, काल में और देश में—दोनों प्रकार से अनुभवों का विस्तार करने वाली कविता है। खेद की बात तो यही है कि इन कविताओं में अनुभवों का जो विस्तार हुआ है, उनको स्वयं कवि और आलोचक भी महत्त्व नही देता है। महत्त्व इस बात को देता है कि ये कविताएं तत्काल उसके किस वक्तव्य के अनुकूल होती हैं या किस तरह से वह उनमे क्या देख सकता है।

अ० वा० : कविता के बारे में जो धारणा या कि जानकारी या प्रतिक्रिया हम लोगों में होती है वह जरूरी नहीं है कि सब वक़्त आलोचक द्वारा दिये गये वक्तव्य के अनुसार होती हो।

यह सौभाग्य की बात है कि नही होती। पर आप एक बडे क्षेत्र को लें जहा कविता पढ़नेवाली नयी पीढी आयेगी आगे, उनके ऊपर तो सब आलोचक विश्वविद्यालयो के माध्यम से हावी हैं।

ख़ैर, इसको छोड़िए। प्रश्न यह था कि धूमिल वगैरा की कविता में बहुत कुछ ऐसा है जो कविता के भीतर भाषा और अनुभव के संसार की वृद्धि करता है और वह रक्षणीय है और आगे भी वह बहुत-कुछ दूसरों को देगा और उसमें अकविता से निश्चित रूप से अंतर है। यह तो नहीं कि ये लोग समाज में क्रांति और परिवर्तन के बड़े भारी पक्षधर हैं—मैं नहीं मानता। मुझे हमेशा संदेह रहता है अपने सहित हर कवि की सामाजिक समझ पर। कवि की समाज की समझ के बारे में कोई भी कवि हो मैं यह बेहतर समझता हूं कि आप एक संदेह ही लेकर चलें। क्योंकि समाज कोई ऐसी बनी-बनायी और गढ़ी-गढ़ायी इमारत तो है नहीं कि जिसके नक्शे को कवि ने समझ लिया और देख आया, जाकर वहां रह आया छह दिन और उसको मालूम हो गया कि समाज इस तरह का है। समाज को समझने का मतलब यह है कि समाज के मनुष्य और मनुष्य के बीच के जितने ग़ैरइंसानी रिश्ते हैं उनकी समझ और कहां से वे पैदा होते हैं उनकी समझ और उनकी जड़ों तक पहुंच, इतिहास की समझ। पर एक तो पक्षधरता रहे ही कि इन रिश्तों को ऐसे नहीं रहने देना है। नहीं तो आप कितना ही समाज को समझते रहिए, हमारी बला से। दिल्ली में इतना बड़ा इंस्टीट्यूट ऑव् सोशल स्टडीज है, उसके एक बड़े भारी विद्वान ने बहुत देर तक मुझे बताया कि समाज में कितनी तरह के स्तर होते हैं। मैंने पूछा कि होना क्या चाहिए, तो उन्होंने कहा कि हमारा काम यह बताना नहीं है। तो अगर बताना आपका काम नहीं है तो आप यह जानकर करेंगे क्या कि समाज किस तरह का होता है। प्रश्न यह है कि समाज की समझ के बारे में संदेह इसलिए रहना जरूरी है कि समाज को आप कभी पूरा और अंतिम रूप से नहीं समझ सकते—बस इतना ही काफ़ी है कि आपकी पक्षधरता साफ़ रहे। आप समाज को बदलना चाहते हैं, यह साफ़ रहे। और बदलना चाहते हैं उस को बराबरी के पक्ष में, यह भी साफ़ रहे। लेकिन बाकी बातें संदिग्ध हैं और बार-बार जानने की है।

धूमिल और अन्य कवियों की कविताओं में कहीं-कहीं लगता है कि इन्होंने बहुत ग़लत तरीके से समाज को समझा है और अपनी उस समझ को अनजाने छिपा लिया है—छिपाने की जरूरत उनको नहीं महसूस हुई, क्योंकि वे तो समझते हैं कि हमने सही तरह से समझा है—इस आवरण में कि उन्होंने एक ऐसी बात कह दी है कि जो सुनने और देखने में लगती है कि यह कोई बड़ी बदल देनेवाली बात है या गुस्सा दिलानेवाली बात है। ऐसे स्थलों को हम छोड़ दें तो कुल मिलाके यह पायेंगे कि इन कवियों ने अकविता के संसार की अपेक्षा, बल्कि उसके विपरीत, आधुनिक कविता में वृद्धि की है। अफ़सोस तो यह है कि इस वृद्धि का आलोचक लोग ठीक से मूल्यांकन नहीं कर पाये हैं।

अ० वा० : मुझे याद आता है कि सीधो में धूमिल ने एक बात कही थी अन्य कविताओं के साथ आपका उल्लेख करते हुए कि ये लोग संसदीय भाषा के कवि हैं। इससे मुराद शायद यह थी कि जो एक दी हुई व्यवस्था है, सामाजिक और राजनैतिक, उसमें एक सुरक्षित किस्म की असहमति व्यक्त करने वाले लोग हैं। व्यवस्था का प्रश्न उठाने वाले लोग हैं संसद में। इस बारे में आप क्या कहेंगे ?

मैं उन लोगों के बारे में बहुत आश्वस्त नहीं हूं जो कि कहते है कि आप असहमति इस धमाके से करिये कि आप मर जायें—बिना कोई बात कहे और वही तमाशा सब देखें।

अ० वा० : कहा गया है कि ऐसी असहमति जो उसे व्यक्त करने या व्यवहार में लाने वाले व्यक्ति को किसी जोखिम में नहीं डालती, सच्ची या खरी नहीं हो सकती। तो कविता में जो असहमति व्यक्त होती है, अगर तर्क के लिए फ़िलहाल मान लिया जाये कि इस तरह की असहमति व्यक्त करना आज के कवि का एक चारित्रिक गुण है, तो वह किस तरह के जोखिम में उसको डालेगी ? किस तरह के जोखिम की कल्पना उसके दिमाग़ में है ?

ऐतराज किस बात से है ? इस बात से है कि आप ऐसी असहमति प्रकट कर रहे हैं जानबूझ कर कि जो आपको सुरक्षित रख सके और असहमति भी दिखाई दे और असहमति प्रकट करनेवालों में शामिल होने के जो फायदे होते हैं, वे भी आपको मिलें ?

मं० ड० : इसके पीछे यह रहा शायद कि एक चालाक असहमति।

आत्महत्या के विरुद्ध नाम की कविता में इस तरह का एक प्रसंग है : नक़ली दरवाजे पीटते हैं हाथ / सर को आराम हाथों को काम मिलता है।' इसी तरह की चालाक असहमति व्यक्त करने वालों पर। पर यह बड़ा आसान है हम सबके लिए एक-दूसरे पर यह आरोप लगा देना कि आप चालाक असहमति प्रकट कर रहे है। क्यों ? इसलिए भी आसान है कि वास्तव में हम सब लोग कभी न-कभी किसी-न-किसी समय, थोड़े समय के लिए सही, यह कहते भी हैं और इसलिए भी आसान है कि जब हम नही भी करते होते हैं तब भी हमारी असहमति का बहुधा चालाक इस्तेमाल होता है। चालाक असहमति की परिभाषा तो यही बनायी गयी न कि उससे आपको कोई जोखिम नहीं है ? मैं समझता हूं कि यह परिभाषा अपूर्ण है। इसलिए अपूर्ण है कि हम पर जोखिम

न आना केवल हमारे हाथ मे नही है। क्यों नही हम इस तरह से सोचते कि हर आदमी जो कि एक सचाई को कहता है (वह सचाई चाहे यह हो कि दर-असल कोई रंग कोई रंग नही है बल्कि शरीर के रंग पर एक रंग है, और चाहे यह हो कि समाज मे इंसानी रिश्ते दूषित, गैरबराबरी के आधार पर बने हुए हैं) तो उस अभिव्यक्ति की ईमानदारी सिर्फ इस कसौटी पर जाची जा सकती है कि जो पारंपरिक इसानी रिश्ते इसके द्वारा अत मे पुष्ट होते हैं, वे वाकई बराबरी के, न्याय के, इज्जत के हैं या नही। सिर्फ इस आधार पर कि वर्तमान मे इसने जो कहा है उससे इस पर जोखिम आया कि नही, किसी आदमी की ईमानदारी को नही जाच सकते। जांचेंगे तो वह ज़बर्दस्ती होगी। साथ ही अगर सचमुच असहमति करनी है तो मैं इस बात मे बिल्कुल विश्वास करता हू कि असहमति प्रकट करके और खत्म हो जाने का कोई मतलब नही। संभव है कि ऐसा क्षण ज़िदगी मे आये जहा पर कि लगे कि इसके आगे जीना बेकार है। वह क्षण वही हो सकता है जबकि आप पूरी तरह से पायें कि आप कोई भी रचना नही कर सकते। तब आप पायेंगे कि इसके आगे की आपकी सारी ज़िदगी संपूर्ण गुलामी की होगी, और हम सब हमेशा गुलामी के अनुभवों मे आज़ादी के बहुत-से अनुभवो की स्मृतिया या आशाएं जो साथ रखते हैं, वे न रख पायेंगे। तो जोखिम उठाने या असहमति प्रकट करने के लिए सुरक्षित रहना जरूरी है और साथ मे यह मानकर चलना भी ज़रूरी है कि किसी समय आपके पास असहमति प्रकट करने और सुरक्षित रहने का साधन बिल्कुल नही रह जायेगा।

> मं० इ० : अच्छा, 'सीढ़ियों पर धूप में' में जो एक मानवीय करुणा थी, जो ताक़त और सुंदरता होकर के थी उसको आप 'हंसो हंसो जल्दी हसो' की एक जो आतंकित करुणा है उससे कैसे अलगा पायेंगे? मसलन, 'निरखता रह उसे कवि/न हस/न रो/कि वह अपनी व्यथा इस वर्ष भी नहीं जानती।' यहां एक ताक़त के रूप में करुणा आयी है, जो 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' में नहीं है।

मैं अपनी वकालत तो नही कर सकता। लेकिन मुझे लगता है कि शायद यह बिलकुल सही आरोप नही है कि मेरी कविताओं मे वह करुणा जो कि किसी समय शक्ति दे सकती थी, हंसो हंसो' की कविताओं मे शक्ति नही देती है। हालांकि यह सही है शायद कि वह उसी तरह की शक्ति नहीं देती है जैसी कि तब देती थी। लेकिन अगर शक्ति नही देती है तो फिर क्या करती है? क्या वह आपको हताश, कुंठित करती है?

मं० ड० : वह यह बताती है कि आखिरकार वह सब नहीं सुरक्षित रखा जा सका जो कि रखा जाना चाहिए था, जिसे आपकी कविता अपने लिए या दूसरों के लिए सुरक्षित रखती।

तो ऐसा कह के क्या मै उन कविताओ मे मृत्यु की घोषणा कर रहा हूं कि सब कुछ मर गया है ?

मं० ड० : एक विनाश की खबर तो उनमें है ही।

विनाश की खबर है या क्षति की खबर है ? मैं दावा तो नही कर सकता पर शायद विनाश की नही है। 'मैंने कहा डपटकर ये सब दागी है / नही नही साहब जी / उसने कहा होता / आप निश्चित रहें / तभी उसे खासी का दौरा पड़ गया / *उसका सीना थामे खासी यही कहने लगी।*' इस रिश्ते मे, जो कि मैंने इस व्यक्ति से पाया, क्या मैं उसकी असमर्थता का एलान करके यह कह रहा हूं कि वह व्यक्ति मर गया है या कि यह कह रहा हू कि मैंने उस पर जुल्म किया था और वह इस जुल्म से अपने को बचाना चाह रहा था। बचा नही पा रहा था, लेकिन बचा रहा था। या, 'देखो शाम घर जाते बाप के कंधे पर बच्चे की ऊब देखो / उसको तुम्हारी अंग्रेजी कह नही सकती / और मेरी हिंदी कह नही पायेगी अगले साल।' क्या मैं अपने को सचेत नही कर रहा हूं कि मेरी हिंदी अगले साल कह नही पायेगी ? इन कविताओ को लिखते वक़्त यह अनुभव हुआ था कि सिर्फ एक बहुत हल्की-सी कही कोई चीज़ है जो कि इस वक़्त भाषा कर सकती है। पर कितनी भी हल्की हो अगर वह की जा सकती है और भाषा ने उसको किया है तो उसने विनाश का समर्थन नहीं किया है। आप यह कहे कि अब 'तोडो तोडो तोडो ये पत्थर ये चट्टानें' की तरह का उसमें आदेशात्मक आशावाद नही है तो माना जा सकता है।

मं० ड० : नहीं, जैसे 'बड़ी हो रही है लड़की' यह 'बड़ा हो रहा है लड़का' या जो दो कविताएं स्त्रियों को लेकर हैं कि 'वह हाथ रोक कर देखती है हाथ' और दूसरी कविता है कि 'वह दिन भर जोड़ कर रखती है यह सब जो महामंत्री ने दिन भर तोड़ा है देश में'—इस तरह की अनेक उसमें कविताएं है।

मैं खुद जानना चाहूंगा कि क्या इन कविताओं को पढकर पाठक एक तरह के पीड़ा के विलास मे डूब जाते है जिसमें कि *आत्म-पीडन का या परपीड़न का* सुख मिलने लगता है। या कि यह होता है कि उनमे जो भी चरित्र है उनकी खोज करना चाहते हैं, उनके पास जाना चाहते हैं, उनको छूना-समझना-

सामर्थ्य जगाती है।

आपने वह कविता पढ़ी होगी : 'कई कोठरियां थीं कतार में / उसमें किसी एक में एक औरत ले जायी गयी / थोड़ी देर बाद उसका रोना सुनाई दिया / उसी रोने में हमें जाननी थी उसकी कथा / उसके बचपन से जवानी तक की उसकी कथा।' मैं बहुत आग्रहपूर्वक स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि यह कविता कोई प्रतीकात्मक कविता नहीं है। सचमुच एक कोठरी, एक औरत और उस पर हुए अत्याचार और उसके रोने की आवाज और उस आवाज से हमारा यह जानना कि हमें इसी रोने से उसकी पूरी कथा जाननी होगी, इस कविता में है। क्यों आखिर जरूरत महसूस हुई कवि को कि वह यह कहे कि हमें उसकी पूरी कथा जाननी होगी। अगर उसकी पूरी कथा जानने की इच्छा पैदा होती है तो क्या यह काफ़ी नहीं है?

मं० ड० : लेकिन जानने की जरूरत नहीं है, क्योंकि पूरी कथा तो उस कविता में ही है।

मैंने यह नहीं कहा। मैं तो एक तर्क दे रहा हूं कि जब कवि यह कहता है कि उसी रोने से हमें जाननी थी एक पूरी कथा, तो कवि एक पूरी कथा जानने की आवश्यकता पर ज़ोर दे रहा है। वह कैसे दे रहा है, यही बताता है कि इस कविता में जो करुणा जगी है उसकी दिशा क्या है।

मं० ड० : एक जगह यह भी लगता है कि 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' में आपकी कविता बहुत भावुकता-भरी है, हालांकि इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें कोई गिरावट आयी है। ऐसा बिल्कुल नहीं : वह एक दूसरी उच्चता हो सकती है और है। लेकिन उसमें काफ़ी सेंटिमेंटलिज़्म है जो कि आपकी पिछली कविताओं में नहीं है। जैसे 'उसी रोने से हमें जाननी थी उसके बचपन से जवानी तक की उसकी कथा'—इसमें एक ख़ास तरह की 'फ़ाइनेलिटी' है कि जैसे उसके बाद आप उस औरत को जान जाते हैं सिर्फ़ और, जानने की कोई इच्छा आप में नहीं होती। क्योंकि आप जान सकते हैं कि उसकी और कोई कथा नहीं हो सकती।

'जाननी थी' का मतलब यह है कि हमने सुना और वही हमारे पास एकमात्र डेटा था उसका। रोने की आवाज से आप उसकी ज़िंदगी को देखने लगेंगे और साथ में यह भी संभव है—मैं मानता हूं—कि आप बहुत भावुक हो जायेंगे। पर आप क्या हो जायेंगे इसको करके, यह प्रश्न नहीं है। प्रश्न यह है कि

देखना चाहते हैं, ये उनके लिए वास्तविक हो जाते हैं।

अ० वा० : मुझे लगता है कि इस तरह के चरित्रों या पात्रों के बारे में इन कविताओं में पढ़कर एक ओर एक तरह की सामाजिक स्थिति के बारे में बोध होता है, दूसरी ओर भाषा की, कविता की एक नयी सामर्थ्य का पता भी चलता है कि वह एक ऐसी नैतिक संवेदनशीलता जो कि शायद समाज में मर रही है, धीरे-धीरे ग़ायब या अंतःसलिल हो रही है, उसे कविता कम-से-कम उन लोगों के लिए, जो उससे प्रतिकृत होते हैं, उस नैतिक संवेदनशीलता को जैसे पुनर्प्राप्त करती है। कम-से-कम उनके लिए जिन्हें इन कविताओं के माध्यम से समाज में ग़ायब होते हम देख पा रहे हैं। वह देख पाते कि ये नष्ट हो रही हैं, भाषा के माध्यम से उस संवेदना को फिर से प्राप्त करना है। और इसलिए उसे असमर्थ कहना ठीक नहीं है। वह आत्यंतिक रूप से न तो समर्थ है, न असमर्थ है, लेकिन यह जिन्हें प्रतिकृत करती है उन्हें उस नैतिक संवेदन के लिए समर्थ ज़रूर बनाती है।

यह प्रतीति महत्वपूर्ण है कि वह आत्यंतिक रूप से समर्थ या असमर्थ नहीं है। अगर वह आत्यंतिक रूप से समर्थ होती या आत्यंतिक रूप से असमर्थ होती तो भी और संवेदनाओं की कोई ज़रूरत नहीं मानती। लेकिन आपको आधे रास्ते ला करके खड़ा कर देना और यह तय करने के लिए कि वापस लौटेंगे या आगे जायेंगे—इधर जायेंगे या उधर जायेंगे; आपको छोड़ देना, यह अगर कविता कर सकती है तो बहुत है। मैं नहीं जानता कि इन कविताओं में वह हुआ है या नहीं।

अ० वा० : एक बात यह है कि कवि जो कि एक इंसान है, एक माध्यम से जो कि भाषा है, इस क्षति को या कि इस घटाव और पतन को, नैतिक अवमूल्यन को देख पाता है और मैं उसे ऐसा करते देख पाता हूं—मैं जो कवि नहीं हूं। मैं जब यह देख पाता हूं तो न केवल मैं यह पहचान पाता हूं कि मेरे आसपास ऐसा हो रहा है, मैं यह भी पहचानता हूं कि एक दूसरा व्यक्ति जो कवि है, इस देखे हुए को कह कर किसी हद तक मेरे लिए बचा रहा है। यानी इन कविताओं को पढ़ने के बाद मैं इसलिए अपने को एक अधिक नैतिक इंसान पाता हूं कि मैं उस सामर्थ्य को देख पाता हूं जो कवि की है। उसके करने की सामर्थ्य बदलकर, रूपांतरित होकर मुझमें एक नैतिक

सामर्थ्य जगाती है।

आपने वह कविता पढ़ी होगी : 'कई कोठरियां थीं कतार में / उसमें किसी एक में एक औरत ले जायी गयी / थोड़ी देर बाद उसका रोना सुनाई दिया / उसी रोने में हमें जाननी थी उसकी कथा / उसके बचपन से जवानी तक की उसकी कथा।' मैं बहुत आग्रहपूर्वक स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि यह कविता कोई प्रतीकात्मक कविता नहीं है। सचमुच एक कोठरी, एक औरत और उस पर हुए अत्याचार और उसके रोने की आवाज़ और उस आवाज़ में हमारा यह जानना कि हमें इसी रोने से उसकी पूरी कथा जाननी होगी, इस कविता में है। क्यों आखिर ज़रूरत महसूस हुई कवि को कि वह यह कहे कि हमें उसकी पूरी कथा जाननी होगी। अगर उसकी पूरी कथा जानने की इच्छा पैदा होती है तो क्या यह काफ़ी नहीं है?

> मं० ड० : लेकिन जानने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि पूरी कथा तो उस कविता में ही है।

मैंने यह नहीं कहा। मैं तो एक तर्क दे रहा हूं कि जब कवि यह कहता है कि उसी रोने से हमें जाननी थी एक पूरी कथा, तो कवि एक पूरी कथा जानने की आवश्यकता पर ज़ोर दे रहा है। वह कैसे दे रहा है, यही बताता है कि इस कविता में जो करुणा जगी है उसकी दिशा क्या है।

> मं० ड० : एक जगह यह भी लगता है कि 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' में आपकी कविता बहुत भावुकता-भरी है, हालांकि इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें कोई गिरावट आयी है। ऐसा बिल्कुल नहीं : वह एक दूसरी उच्चता हो सकती है और है। लेकिन उसमें काफ़ी सेंटिमेंटलिज़्म है जो कि आपकी पिछली कविताओं में नहीं है। जैसे 'उसी रोने से हमें जाननी थी उसके बचपन से जवानी तक की उसकी कथा'—इसमें एक ख़ास तरह की 'फ़ाइनेलिटी' है कि जैसे उसके बाद आप उस औरत को जान जाते हैं सिर्फ़ और, जानने की कोई इच्छा आप में नहीं होती। क्योंकि आप जान सकते हैं कि उसकी और कोई कथा नहीं हो सकती।

'जाननी थी' का मतलब यह है कि हमने सुना और वही हमारे पास एकमात्र डेटा था उसका। रोने की आवाज से आप उसकी जिंदगी को देखने लगेंगे और साथ में यह भी संभव है—मैं मानता हूं—कि आप बहुत भावुक हो जायेंगे। पर आप क्या हो जायेंगे इसको करके, यह प्रश्न नहीं है। प्रश्न यह है कि

कवि ने जो कविता लिखी उसमें उसका इंसान की तरफ़ भावात्मक रिश्ता क्या है। मैं जानता हूं कि आत्महत्या के विरुद्ध की कविताएं लिखते समय बहुत बार मेरे सामने यह परेशानी आयी थी कि मैं अति-भावुकता में तो नहीं, पर आत्मदया मे बहुत कुछ कह रहा हूं और उसको मैंने सुधारने की कोशिश की। अब इन चीज़ो को आप शब्द-कोश में से या मुहावरों मे से या बोलियों में से शब्द लाके तो नही सुधारते। इनको तो आप अपने अंदर सुधारते हैं। तो इसलिए बहुत-सी उन कविताओं को मैंने फाड़ के फेंक दिया और दुबारा लिखा, सोचा और समझा और मेरी कोशिश बराबर यह रही कि उसमे आत्मदया जैसी चीज़ नही होनी चाहिए, क्योंकि वह हुई नहीं कि झट से आप वहां पहुंच जायेंगे—उस कविता के संसार मे, जो बिल्कुल आपका नही है। ज़रा-सी ग़लती से आप फिसल कर सांप-सीढ़ी के खेल की तरह एकदम उग्र प्रतिभा के खाने मे पहुंच जायेंगे जो कि छायावाद की वृथा भावुकता की है—उसकी एक खास शब्दावली है, एक खास आधुनिक दिखावा है, उसमे डर है ही नहीं, प्रेम ही प्रेम है और प्रेम भी ऐसा है कि उसमे आनंद ही है केवल। जो हो, मैं इसके प्रति सचेत रहता हूं। वृथा भावुकता के प्रति इतना सचेत नही रहा हूं, इसी से शायद मुझे कभी उसका हमला होते हुए दिखाई नही दिया, जैसा कि आत्महत्या के विरुद्ध मे आत्मदया के बारे मे दिखाई दिया था। हो सकता है कि हुआ हो। लेकिन अगर हुआ है तो इसका मतलब यह है कि वह कविता ज़रूर कमज़ोर होगी। यह भी है कि एक किस्म का सादापन ज़िंदगी मे भ्रमवश कभी-कभी एक-एक तरह की वृथा भावुकता का आभास पैदा कर सकता है। एक बहुत ज्यादा पेचीदा और उलझा हुआ इंसानी अनुभव जहा नही है वहा हमेशा वृथा भावुकता होगी, यह बात नही है, न इसका उलट ही सही है।

'हंसो हंसो जल्दी हंसो' की ज्यादातर कविताएं औरतों और बच्चों पर हैं या उनमें औरतों-बच्चों का कोई-न-कोई उल्लेख है। आपको अपनी काव्य-यात्रा मे यह कोई नया मोड़ लगता है?

मोड नही है, लेकिन यह ज़रूर है कि तजुर्बे आखिर कभी-कभी आदमी को वहा ले जाते हैं जहा पर कि किसी चीज़ का प्राधान्य होता है। तो कुछ ऐसा ही हो सकता है हुआ हो। क्योंकि मैं बहुत ज्यादा कामों और किस्म-किस्म के लोगों का साझेदार या उनका कर्ता नही रहा हूं। कुल मिलाके तो सभी हिंदी लेखकों की यह नियति है कि वे खाली लेखक है और कुछ नही। बहुत से लोग पत्रकार हो गये या अध्यापक हो गये, और नही तो अनुवादक हो गये। और कुछ नही। कोई विद्या नही जानते, कोई कर्म नही जानते, [illegible] नही जानते। तो उनके तजुर्बे बहुत सीमित होते [illegible]

हूं एक मानी में, हालांकि उससे भागना चाहिए। यह संभव है कि इन कविताओं में औरतें और बच्चे ज्यादा इसलिए आते हों कि ये मेरे सबसे नजदीक हैं। और इसलिए भी हो सकता है कि जिस तरह के मानसिक-आध्यात्मिक जुल्म का दर्द मैं देखता हूं वह सबसे ज्यादा औरतों और बच्चों पर ही होता है; कम से कम उनके जीवन मे प्रकट दिखाई देता है। तो इसलिए कोई सिद्धांत बनाना कि औरतों और बच्चों को ढूढ़ूं और कविता लिखूं—यह मैंने नही किया, लेकिन यह एक संयोग है कि इन दोनों कारणों से औरतें और बच्चे मेरी कविता में आये हैं।

लोग अपकी कविताओं में जब भी आये हैं—मुसद्दी, मंकू, दिग्विजयनारायण सिंह, भोलारामदास, रामलाल आदि—वे समाज की बजाय व्यक्ति होकर आये हैं। आपकी कविता के शब्द लें तो 'स्वाधीन व्यक्ति'। लेकिन ये मामूली लोग उस समाज के सदस्य नहीं लगते जहां से कि उनका मामूलीपन आया है। यहां तक कि समाज आपकी कविताओं में कभी-कभी एक अमानवीकृत घटना है जिसमें अगर कहीं कोई आस्था है तो व्यक्ति की संभावित स्वाधीनता और मानवीयता पर है। इसके पीछे कोई निश्चित वैचारिकता रही होगी ?

क्या आप मुझे अमानवीकृत घटना का मतलब समझायेंगे।

अ० वा० : मतलब यह है कि व्यक्ति की जो बुनियादी मानवीयता है, वह समाज में सुरक्षित नहीं है। एक तो यह बात, और दूसरी बात कि समाज उसके ऊपर लगातार हमले करता चलता है। इस हालत में जो संभावना है वह यही है कि व्यक्ति स्वाधीन और अक्षत बना रहे, अपनी जिजीविषा और स्वाधीनता के साथ।

समाज हमेशा हमले करता है, यह बात सही नही है। समाज मे कुछ शक्तिया हैं जो यह कोशिश करती हैं कि यह हमला बना रहे या असंतुलन बना रहे। किसी भी चीज का समान बंटवारा नहीं होने पाये। चाहे खुशी हो चाहे जिम्मेदारी हो। समाज आदमी को हमेशा आतंकित करता है, इसको ऐसा सरलीकृत नही किया जाना चाहिए। समाज तो आदमी को ताक़त देता रहता है।

और, वे जो नाम हैं वे लोगों के नाम नही हैं। वे शब्द हैं। मुझे यह गलत या सही एहसास है कि शायद पहली बार मैंने नामों का शब्दों के रूप में इस्तेमाल किया है। मुझसे पहले या बाद और लोगो ने किया होगा जरूर, लेकिन

पात्रों के रूप में, सुनिश्चित चरित्रों के रूप मे किया है। मोचीराम किसी आदमी का नाम नही है, यह तो उपाधि है। लेकिन नाम, जिसके कि मायने हो जाते है, एक शब्द बन जाता है। थोडा-सा बन चुका था, उसकी ध्वनि से बन चुका था, मेरे दिमाग़ मे बन चुका था या एक सामूहिक या पारिवारिक स्तर पर बन चुका था कही। तो उसे वहा से उठाकर भाषा मे एक शब्द बनाकर रख दिया, क्योंकि एक शब्द की, मुसद्दीलाल शब्द की कमी थी—पहले मेरी कविता मे, फिर हिंदी मे। वह शब्द व्यक्तियों के एक प्रकार का भी अर्थ देता है : एक व्यक्ति विशेष का भी और साथ में मान्यताओं के एक पूरे संसार का भी। तो इस तरह का एक कैप्सूल कहिए बनाकर मैंने इस्तेमाल किया। कहीं-कही यह जरूर है कि दूसरे तरीकों से भी इस्तेमाल किया गया है नामों को —नेकराम नेहरू—यह तो खाली अनुप्रास के लिए है, और कही-कही किया है बिल्कुल एक ऐसे व्यक्ति के लिए, जो कि कोई भी व्यक्ति हो सकता है, यद्यपि इतना सार्वजनिक नहीं कि एक शब्द का महत्व प्राप्त कर ले। मुसद्दीलाल उदाहरण के लिए शब्द है। लेकिन 'गया वाजपेयी जी से पूस आया देश का हाल' मे वाजपेयी जी शब्द नही बन पाया। वह वाजपेयी जी बन के रह गये। एक संभ्रात, ऊंचे वर्ण के ताकतवर आदमी।

'आत्महत्या के विरुद्ध' में आपकी एक प्रसिद्ध कविता की पंक्तियां हैं: 'प्रिय पाठक ये मेरे बच्चे हैं/कोई प्रतीक नहीं/और यह मैं हूं/कोई रूपक नहीं।' इसमें कविता समझने के पारंपरिक संस्कारों का जवाब भी एक तरह से है। लेकिन 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' की 'ग़ुलाम स्वप्न', 'काबुल स्वप्न' जैसी कविताएं फ़ॅटेसी के बहुत करीब हैं : उनमें प्रतीक और रूपक भी बांधे गये लगते हैं। इस परिवर्तन का कोई अर्थ होगा।

अतिकल्पना और प्रतीक कहा से हो सकते हैं ? अतिकल्पना है, प्रतीक नही है। अतिकल्पना में तो एक यथार्थ होता है, अतिकाल्पनिक यथार्थ होता है। एक यथार्थ जो यथार्थ जीवन मे यथार्थ नही है। प्रतीक तो वह चीज है जिसका कि यथार्थ जीवन मे अस्तित्व है, लेकिन जो आपके लिए अपने वस्तुगत रूप मे अस्तित्व नहीं रखती। आपके लिए वह सिर्फ़ एक किसी दूसरे यथार्थ के प्रतीक के रूप मे है। और फॅटेसी मे जो कुछ भी आता है सब [illegible] । है।

रूप से असंबद्ध यथार्थों के संबद्ध हो जाने का ज्ञान देते हैं। ये चीज़ें कैसे जुड़ गयीं एक-दूसरे से ? काबुल स्वप्न में उदाहरण के लिए जो कुछ शुरू से आखिर तक, सब एक-दूसरे से तार्किक संबंध नहीं रखता। लेकिन कहीं पर तो कोई संबंध वह रखता है। मेरे अंदर कहीं कोई एक बात है जिसके तमाम यथार्थ के खंडों का कोई रिश्ता जुड़ जाता है। वह चीज़ कहीं न कहीं उस कविता में मुझे पोह, बींध या गूंथ देनी पड़ती है, क्योंकि अगर मैं उन्हें ठीक-ठीक वैसा असंबद्ध जैसा मैंने उन्हें देखा है, वैसा ही रखूं तो वह एक खबर होगी। कविता नहीं होगी। कविता में मैं भी कुछ करता हूं। मसलन मैं अंत में जहां अपने मृत पुरखों को फिर जीवित देखता हूं वहीं यह जोड़ देता हूं कि वे चकित थे, शायद मैंने जब उनको देखा था अपनी कल्पना में या स्वप्न में, तो वे चकित नहीं थे।

गुलाम स्वप्न कविता में इसकी अपेक्षा अधिक बनावट है। उसे ज्यादा चीज़ों से जोड़ा गया है। उसमें छाता, मरता हुआ आदमी, गोलमेज, खंडहर, दो लड़कियां—ये सब यथार्थ हैं, प्रतीक नहीं है—बिल्कुल यही चीज़ें, लोग, वास्तविक लोग हैं। लेकिन एक-दूसरे से इतने असंबद्ध हैं कि मैं सोचता हूं कि कौन-सी चीज़ इनको जोड़ रही है, क्यों ये मेरे मन में या मेरे स्वप्न में एक के बाद एक आये हैं, इनकी कविता क्यों बनती है ? इसलिए बनती है कि उन सबको एक के बाद दूसरे को देखने के बाद जानता हूं कि कहीं से वह कोई संबंध इसमें ढूंढना है जिससे ये रच कर एक रचनात्मक चीज़ बन जायें। उस संबंध में इस कविता में ज़रा ज्यादा ज़ोर से, ज़रा अधिक हस्तक्षेप करके—जरूरत से ज्यादा नहीं—पाता हूं। मैं पाता हूं वह तसवीर जो कि छोटी लड़की के खंडहर से भागने की है वही शायद सबको जोड़ने का साधन बन सकती है। इसलिए अंत में आप पाते हैं कि मैं यह कह रहा हूं कि मेरा कोई निर्णय नहीं हो सका। इससे कोई परेशान नहीं था, यद्यपि मैंने नहीं देखा था कि कोई परेशान है या नहीं है; मैंने केवल यह देखा था कि कोई निर्णय नहीं हुआ। और इससे तो मैं ही परेशान था, लेकिन मैंने उस अपनी तकलीफ़ को बयान नहीं किया। मैंने कहा कि किसी और को कोई चिंता नहीं थी कि मेरा कोई निर्णय नहीं हुआ और उसका कारण भी सोचकर बताया—वह आरोपित है—कि उन्होंने जब अमानत या रेहन के तौर पर मेरी दो संतानें क़ैद कर रखी थीं—और यह तो मैं जानता हूं कि उसमें से एक भाग कर मर चुकी है, पर एक व्यंग्य यह है कि वे नहीं जानते। दूसरा व्यंग्य यह है कि मुक्त होने वाली लड़की को मरना पड़ा।

मं० ड० : उसमें जो होता है वह किसी प्रतीकात्मक इस्तेमाल में लगता है।

काहे का प्रतीक उसमें है ?

अ० वा० : यों तो कविता में जो भी आप देखें—यानी कोई भी चीज, अगर कवि उसको बहुत एकाग्र और रचनात्मक दृष्टि से देखता है तो उसका यह देखना ही उस चीज को किसी और चीज में बदलेगा, लेकिन वह चीज वही रह कर दूसरी चीज में बदलती है। यानी कविता का छाता पहले छाता होगा फिर हो सकता है कुछ और भी हो जाये, लेकिन बिना छाता हुए वह कुछ और नहीं हो सकता। तो इस अर्थ में हो सकता है छाता किसी और चीज का भी प्रतीक हो।

नहीं। जब मैं यह कहता हूं कि 'देखो वृक्ष को देखो वह कुछ कर रहा है', तो मैं दरअसल वृक्ष के ही बारे मे कह रहा हूं पर यह मैं जानता हूं कि इस कविता को—खास तौर से इस वृक्ष वाली कविता को, और यह इस कविता की कमज़ोरी है—पढ़कर आप बरबस यह सोचेंगे कि इसका अर्थ प्रतीकात्मक है। फिर अलग से आपकी भी यह कमज़ोरी है कि आप यह सोचें। हिंदी कविता के सारे पाठक इस कमजोरी से पूरी तरह से ग्रस्त है। और आजिज़ आ करके—इस आजिज़ी का यह स्तर था कि कविता पर पहुंचा—मैंने उस कविता में यह कहा कि 'प्रिय पाठक ये मेरे बच्चे है कोई प्रतीक नहीं' और 'प्रिय पाठक' कहा तो आप समझ सकते हैं कि कुछ स्नेह से कहा, कुछ व्यंग्य से।

अ० वा० : जैसे वृक्ष वाली कविता में—आप यह कह रहे हैं कि मैं यह सोचूंगा कि वह किसी का प्रतीक वग़ैरा है। मैं यह भी सोचता हूं कि कवि जो है वह भी एक वृक्ष है—

आप वृक्ष समझें कवि को या जड समझें—मेरी बला से। मेरी तो केवल इस बात में दिलचस्पी है कि क्या मैंने जानबूझ करके किसी वस्तु को वस्तु रहने से वंचित किया है। अगर मैं करता हूं तो मैं बहुत घटिया कवि हूं। मैं नहीं मानता इन बात को। मैं भाषा के साथ यह बर्ताव चाहता हूं कि बंद हो, हमेशा के लिए बंद हो। इसीलिए सपने में जब मैं देखता हूं, एक छाता, एक कमरा, दरवाज़ा खुला, एक आदमी गिरा, मैं था वहा, मैं भागा वहां से घबराया हुआ, देखता हुआ, एक छाता भी मेरे हाथ में कहीं से आ गया। आपने देखा होगा कि ऐसा होता है जीवन मे। कोई भी चीज़ आ जाती है कहीं से भी एकाएक, आके चली गयी। आपने इसको जीवन मे भी देखा होगा और

फिल्म में भी देखा होगा, क्योंकि फिल्म का माध्यम यह बहुत आसानी से कर सकता है कि किसी भी चीज को लाये और फिर ले जाये। फिर थोडी देर के लिए लाये, फिर थोडी देर के लिए ले जाये। ये सब हमारी प्रतीतियां जो है, वे हमारे जीवन में जमा होती हैं। जीवन की भी, फिल्म की भी, किताब की भी आदि, और ये फिर हमारे अनुभवों में वास्तविकताओं की सृष्टि दुवारा से करती हैं। तो कही-कही मुझे इस तमाम दुनिया में, जहां फ़िल्म भी है और मांसवाला, जीवित आदमी भी है, इस सारी दुनिया में से कही-न-कहीं से एक छाता आकर के मेरी आंखों के सामने टंग गया थोड़ी देर के लिए। यह असंभव तो नहीं है। क्या जरूरी है कि उस छाते की कोई प्रासंगिकता हो, कि पहले यह सिद्ध हो कि छाता कहा से आया, किसका था, क्यों आया और उसमे खून क्यो लगा हुआ था। यह तो बिलकुल एक असंभव स्थिति है कि दस आदमी यह कह रहे हों कि छाता जो है उसी मे सब सुराग मिलेगा और मैं समझ रहा हूं कि अगर मैं यह कह दूंगा कि यह छाता मेरा है तो मैं बच जाऊंगा, लेकिन जैसे ही मैंने कहा कि यह मेरा है, उन्होंने कहा कि हां, बिलकुल ठीक है, इसमे खून लगा हुआ है। तो, इस तरह की स्थितियां आती है, बिना कारण आती हैं। इसलिए छाता भी होता है, आदमी भी होता है, खंडहर भी होता है, कुछ भी हो सकता है उसमें बशर्ते कि वह आपने सचमुच देखा हो। अगर आपने उसको सोच-सोच कर जोड़-जोड़ कर रचा है तो मैं नही जानता उसके बारे मे। मैं तो सचमुच देखी हुई बात की बात करता हूं। और यह मैंने देखा है। कहां देखा है, यह छोड़ दीजिए। इसलिए मैं नही मानता कि ये प्रतीक हैं। प्रतीक का इस्तेमाल मैं नही करना चाहता हूं। मैं सख्त खिलाफ हूं उसके, क्योंकि वह मुझे बहुत दयनीय बना देता है।

मं० ड० : कुछ लोग इसे अगर 'एब्सर्डिटी' का प्रतीक समझें, और उसकी एक संगति भी बैठती है कविता में।

तो समझें न। इसमें क्या दिक्कत है कि आप एक कविता को जिस तरह से चाहे उस तरह से समझें। इसमें मैं कर क्या सकता हूं? पर चूकि आप मुझसे पूछ रहे हैं इसलिए मैं कह सकता हूं कि मेरे निकट तो किसी चीज का प्रतीक नही है वह। छाता छाता ही है। एक सज्जन ने मुझसे कुछ प्रश्न पूछे थे। उन्होंने कहा था कि उस घर में बीस औरतें थी, उनमे से एक बुढिया; सिर्फ एक बुढिया क्यो थी? और बुढिया क्यों थी वह? तो मुझे इस प्रश्न से बहुत दुख हुआ। इस-लिए हुआ कि क्या हमारे नौजवान साथियो को संवेदना इतनी कुंठित हो चुकी है कि वे बीस औरतों वाला घर कभी देख नही सकते अपनी आख से? कल्पना नही कर सकते कि ऐसा होगा, और घर न सही, सिर्फ एक बनायी हुई स्थिति

नहीं—मान लीजिए मैं मंच पर बीस औरतों को बिठा देता हूं एक नाटक में। लेकिन इस तरह के प्रश्न के पीछे कि जब वे बीस औरतें कोई माने रखेंगी तभी एक साथ हो सकती हैं वरना बीस क्यों होनी चाहिए—और उसमें बुढ़िया एक क्यों है, दस-बारह क्यों नहीं हैं, एक असमर्थता या असहायता दिखाई देती है। यह यथार्थ के कितने नये रूप हो सकते हैं, इस बात से घबराने का प्रमाण है। क्योंकि जो आपका रोज का देखा हुआ नहीं है, उससे जरा भी कुछ अलग हो तो आप फ़ौरन चाहते हैं कि आप प्रतीक की गुफा में शरण ले लें। आप कहते हैं यह जरूर प्रतीक होना चाहिए, यह यथार्थ कैसे हो गया। यह छायावाद ने किया है कि उसके पहले की कविता ने किया है, यह तो विद्वान लोग बतायेंगे लेकिन मैं समझता हूं कि जिसने भी किया हो आधुनिक कविता को इससे मुक्त होना चाहिए। आधुनिक पाठकों को—उनके साथ थोड़ी जबर्दस्ती करके—इससे मुक्त कराना चाहिए।

> अ० वा० : अकसर पिछले दिनों पीढ़ियों के बीच के अंतर और तथाकथित संघर्ष को लेकर बहुत घमासान हुआ। आपने कल जो कविता सुनायी थी 'सीढ़ियों पर धूप में' से : 'शक्ति दो पिता', जिसमें पिता से यानी अपने से पहले की पीढ़ी के साथ एक बिलकुल दूसरे संबंध की बात है। और जो संबंध हो सकता है आपकी पीढ़ी देख पाती रही हो, कम से कम बाद की पीढ़ियों में यह संबंध समाप्त हो गया, कविता में उसका कोई साक्ष्य नहीं है कि ऐसा संबंध बचा रहा। तो एक तो यह कि अपने से पहले की पीढ़ी या कि पिछली पीढ़ियों से आपका सृजनात्मक संबंध क्या हो पाया था और दूसरा यह कि जो एक तरह का मानवीय प्रभाव पिछली पीढ़ी ने शायद आप पर डाला था, जैसा कि उस कविता से लगता है, यह क्यों हुआ कि आपकी पीढ़ी वैसा ही प्रभाव उसमें आगे आने वाली पीढ़ी पर नहीं डाल पायी।

देखिए, इसमें एक बात पहले मुझे साफ करनी है। जब आप कहते हैं कि मुझसे पहले की पीढ़ी ने जो मानवीय प्रभाव हम लोगों पर डाला था, क्या आपका मतलब मुझसे पहले की पीढ़ी से है या मुझसे पहले की पीढ़ी के साहित्यकारों से है? बहुत अंतर है उसमें। मुझसे पिछली पीढ़ी के साहित्यका[illegible] पर ऐसा प्रभाव उतना नहीं डाला जितना कि [illegible] कई पीढ़ी पह[illegible] कारों ने डाला होगा।

अगर आप मुझसे पिछली की पि[illegible] की [illegible] जरूर मेरे ऊपर एक जबर्दस्त मानवीय [illegible] ने

करके एक बड़े मानवीय अभियान में लगे हुए थे, आजादी के पहले। वे जो कुछ भी करते थे, जितना कुछ भी मानवीय होता था, वह हमारी पीढ़ी पर असर डालता था। हम उसके लिए भूखे थे। लेकिन मुझसे ठीक पिछली पीढ़ी के कवियों या साहित्यकारों ने ऐसा कुछ मानवीय प्रभाव नही डाला। वह आया —साहित्य के द्वारा नही—तमाम और क्षेत्रों से। राजनीति के द्वारा, राजनैतिक कार्यों के द्वारा आया, समाजशास्त्रीय जनों के द्वारा आया।

अ० वा० : आपके कहने का अर्थ क्या यह है कि जिस पीढ़ी में मानवीय संस्कार था, वह उस पीढ़ी के साहित्यराकों में नहीं था ?

नही, यह तो मैंने नही कहा। मैंने कहा कि प्रभाव नहीं डाला हमारे ऊपर। जो भी सहृदय प्रभाव रहा हो उन साहित्यकारों का, हम तक पहुंच नही रहा था। कवियों को ले लीजिए—माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', और सुभद्राकुमारी चौहान और पंतजी और दो-चार को भी ले लीजिए। इनकी रचनाओं के प्रभाव से ज़्यादा असर हमारे ऊपर आचार्य-नरेंद्रदेव और लोहिया और नेहरू और गांधी का हुआ।

अ० वा० : हां, पर मसलन जो 'तार-सप्तक' वाली पीढ़ी थी।

तार-सप्तक वाली पीढ़ी से एक गुणात्मक परिवर्तन आरंभ होता है। वह परिवर्तन कम-से-कम मेरे जैसे व्यक्ति के जीवन मे, अनुभव के क्षेत्र में इसलिए गुणात्मक कहा जायेगा कि वह आजादी के बाद आया। वह उस वक़्त आरभ होता है जब मुझे आज़ादी मिल गयी। मै यह बार-बार कहना चाहता हूं कि बहुत बड़े-बडे लेखकों और इतिहासकारो और समाजशास्त्रियो ने आज़ादी मिलने की घटना को हिंदुस्तान के लोगो के जीवन में एक परिवर्तन की घटना कह करके वर्णन किया है। लेकिन उसकी तीव्रता ठीक-ठीक सिर्फ हम ही लोग समझ सकते हैं, जो कि उस वक्त अपने रचनात्मक जीवन मे प्रवेश करने वाले थे। जो ऊर्जा, जो आशा-निराशाभरी मानसिक ताकत हमें मिली थी उसका अंदाज़ा न-तो हमारे बाद की पीढ़ी को लग सकता है और न उन तटस्थ इतिहासकारों को जिन्होने कुल जमा तौर पर बताया है कि हिंदुस्तान में आजादी आ गयी है। हम पर, जो इस लायक़ हो गये थे कि कुछ करें, लिखें, पढ़ें, सोचें, बोलें, तार-सप्तक वाली पीढी का बहुत गहरा असर पडा क्योंकि तार-सप्तक वाली पीढ़ी में इन्होंने वे प्रयत्न पाये जो कि इससे पिछली पीढी में नही मिलते थे। उदाहरण के लिए, मैथिलीशरण के यहां। पर यदि इस पीढी में भी इन्होंने सब कुछ नहीं पाया और एक प्रश्न जैसा रह गया मन में, तो उन्होंने यह भी पाया कि हमारे यहां भी प्रश्न रह गये हैं और दोनो में यह समानता

बहुत बड़ी चीज थी। वात्स्यायन की पीढ़ी में और मेरी पीढी में यद्यपि उम्र के लिहाज से अठारह बरस का अंतर है लेकिन भारतभूषण में और मेरी उमर मे दस बरस का ही है—बहुत बड़ा अंतर नही, उस तरह का नही जैसा कि नवीन जी, माखनलाल जी मे और हम लोगो मे था। जो हो, उम्र की बात इतनी महत्वपूर्ण नही है। लेकिन उन लोगों के साथ एक तरह का नाता बनता था—इसलिए कि उनके यहां भी सवाल हैं। पहले वाले लोगों के यहां तो कोई सवाल ही नही थे, थे तो जो थे हमारे लिए अप्रासंगिक हो चुके थे।

अब अगर आप यह खोज करने चलें कि हमारा रिश्ता हमारे बाद की पीढ़ियों से कैसा बना तो आज़ादी और हिंदी के राजभाषा-पद-प्राप्ति की घटना से शुरू करना होगा। आज़ादी मिलने के बाद कृतित्व और रचनाशीलता के जो साधन देश मे थे, उनका बड़ा हिस्सा हासिल करने में तार-सप्तक की पीढ़ी के लोग नहीं, बल्कि वे लोग समर्थ हुए जिनके यहां कोई सवाल नही थे। और जब साधन बढे या हक़दार लोगों में ताकतवरों का एकाधिकार बढ़ा तब तार-सप्तक की पीढी को जरूर मिले। लेकिन लगभग उसी समय हमारी पीढ़ी के लोग भी साधन पाने लगे थे। बहुत थोड़ा-सा अंतर वहां भी था। बहुत दूर तक यह स्थिति चलती आयी। लेकिन ऐसा रिश्ता हमारा और हमारे से बाद की पीढी का नही बना। उसकी वजहें बहुत विविध होंगी पर इसके पीछे बहुत बड़ा कारण हमारी राष्ट्रभाषा हिंदी है। हिंदी के राष्ट्रभाषा घोषित होने के बाद भाषा से क्या काम हो रहा है, उस भाषा के लोग क्या कर रहे हैं, ये सब बातें गौण हो गयी। और उस भाषा के जितने बोलनेवाले हैं, लिखने वाले है उनमे से कुछ लोगों को राष्ट्रभाषा के क्षेत्र के होने के लाभ मिलना प्रमुख हो गया। जबकि राष्ट्रभाषा होने का एकमात्र लाभ जो हो सकता था वह यह था कि हिंदी बोलने वाला प्रत्येक आदमी अपने सारे व्यवहार में भाषा का इस्तेमाल अधिक कामो के लिए करता। उससे सारी हिंदी बदल जाती। पर इसकी जगह हिंदी के कुछ विशेषज्ञों को, पंडितों को —चाहे वे साहित्यकार ही क्यों न रहे हों—लाभ देने की एक नीति बनायी गयी। उसी नीति के अंतर्गत यह तय हुआ कि हिंदी का इस्तेमाल जल्दी नही करें। पहले हिंदी का अनुवाद होगा अंग्रेजी से। और जिन लोगों को मौलिक कुछ नही करना था उन्होंने इस नीति का समर्थन किया। भाषा संबंधी शोध कार्य विस्तृत होने लगे। लेकिन काम का विस्तार न हो तो एक समय ऐसा आता ही है, जब यह भाषा का विस्तार अनुत्पादक हो जाता है। आप अगर दूसरे काम-धंधे नही करेंगे तो भाषा के काम-धंधे बढ नही सकते। हिंदी क्षेत्रो में काम कम था क्योंकि दूसरे विषयों में काम हुआ नही था। एक दुश्चक्र बना। उसका परिणाम नयी पीढी को यह भुगतना पड़ा कि एक तरह के उखड़ेपन का, धोखा खाने का अनुभव उसे हुआ। एक तरह

की जिद भी उसके अंदर पैदा हुई और उसके साथ बहुत-सी ऐसी चीजें पैदा हुईं जिनको कि बड़े-बूढ़ों के लिए ऐब कह के वर्णन करना आसान होता है। तो भी मैं नही मानता कि उसमें कतरब्योंत या तिकड़म मैथिलीशरणजी की पीढी से ज्यादा हुई है। लेकिन यह मैं मानता हूं कि परेशानी ज्यादा रही है, घबराहट ज्यादा रही है, हाथ-पैर मारने की जरूरत ज्यादा महसूस हुई है, और बहुत स्वाभाविक था कि उसका सबसे पहला जो टकराव या कि मनमुटाव होता वह हमारी पीढी से होता। अब मैं समझता हूं कि स्थिति थोडी बदल रही है। यानी हमारी पीढ़ी अब बूढी हो गयी है और अब संतुष्ट भी है और निश्चित भी है। इसलिए उसने जवाबी हमला कम कर दिया है। एक हद तक चीजें इसलिए भी जरा मधुर हैं। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि बिलकुल नये जो लेखक लोग हैं, आ रहे है वे शायद अपने ठीक पहले के लेखकों से और हम लोगों से—साहित्यिक, व्यक्तिगत और रचनात्मक रिश्ते की बात नही, रचना के रिश्ते की बात हो रही है—शायद ज्यादा ठोस रिश्ता रखते हैं। जो तमाम साहित्य लिखा जा रहा है उसमे बहुत कुछ ऐसा है जो दिखता है कि उसके लिखने वाले अगर लिखते रहे तो बहुत नया होगा।

अ० वा० : किस अर्थ में ? इसे थोड़ा और स्पष्ट करें। कुछ नाम या रचनाओं का उल्लेख—प्रवृत्ति के रूप में, चारित्रिक विशेषताओं के रूप में।

यह तत्काल संभव नही है। सबसे बडी बात यह है कि इस दौर मे जो लोग कविता लिख रहे हैं उन लोगों ने हमारी पीढी और हमसे बाद की भी पीढी की अपेक्षा छायावाद से सचमुच नाता तोड लिया है और असली तौर पर तोड़ा है। यह अपने में एक बड़ी भारी ऊर्जा देनेवाली शक्ति है। ये लोग शब्दो के इस्तेमाल मे ज्यादा सीधा सामना करते है। काव्य-अनुभव की पकड़ जहां है बहुत सूक्ष्म है। इतनी सूक्ष्म पकड़ हमारी पीढी मे नही थी। हम मे से तो जो सबसे अच्छे थे वे भी शुरू में अधिक-से-अधिक यही कर पा रहे थे कि छायावाद ने जिन तमाम शब्दो का अर्थ बिगाड़ रखा था, उनको फिर से जोड़-जोड करके कुछ हद तक तो खाली नये अभिप्राय बना रहे थे। कुल मिलाकर हमारी पीढी ने अपना एक तिहाई समय तो खोज मे बिताया, बाक़ी दो तिहाई मे से एक तिहाई कुछ करने मे बिताया और अंतिम एक तिहाई उस किये के ऊपर बैठ कर आराम करने में बिताया। कुल मिलाके साहित्य का योगदान कितना है ? शायद आप कहेंगे कि अगर काम थोडा है तो भी क्या ? अगर उसने कोई गुणात्मक परिवर्तन किया है तो उसे महत्त्व देना चाहिए। ठीक है। लेकिन मैं नही जानता कि हिंदी साहित्य के किसी और दौर में इतना कम लिख करके

इतना ज्यादा इतिहास का पात्र बना गया है जितना हमारे दौर में।

> अ० वा० यह हमें एक दूसरे सवाल की ओर ले जाता है। बहुत अर्से से और तरह-तरह की पीढ़ियों के कवियों-साहित्यकारों के द्वारा बहुत कुछ कहा जाता है कि आलोचना ने उनके साथ न्याय नहीं किया या साथ नहीं दिया या कि यह कोई मददगार साबित नहीं हुई। आप इस बारे में क्या सोचते हैं ? एक तो व्यक्तिगत रूप से अपने बारे में और दूसरे, आम तौर पर आपकी पीढ़ी के संदर्भ में।

मुझे कोई शिकायत नहीं, मैं बल्कि कृतज्ञ हूं। इसलिए कि मेरी बहुत स्वल्प साहित्यिक संपत्ति—संपत्ति तो नहीं बल्कि कृति—है। उसको बहुत समझदार लोगों ने पढ़ा है और उस पर लिखा भी है। पर उन्होंने मेरे कृतिकार की गलतियां बतायी नहीं। इसलिए मैं उतना ही आलोचना के बारे में सतर्क रह सकता हूं जितना कि मैं अपने तई खुद हमेशा रहना चाहता हूं। यह तो मुझे जरूर एक कमी लगी जिसका असंतोष रहा। लेकिन उन आलोचनाओं को पढ़कर के अक्सर बहुत बड़ी एक ताकत मिली।

आम तौर पर जो मुझे आलोचना से शिकायत है, वह यह है किआलोचक अपने आपको जब कविता समझने का वक्त आता है तो एक साधारण पाठक की हैसियत से ऊपर नहीं उठाना चाहता। साधारण पाठक जब मैं कहता हूं तो उसका मतलब होता है ऐसा पाठक जिसको कि इस बात की जरूरत नहीं महसूस हो रही है कि वह उसको समझ कर फिर उसको समझने के आनंद या अनुभव को बताये। हां, ऐसी किताबें जरूर मिलेंगी जिनमें धाराओं का मूल्यांकन किया गया है और कवि एक उदाहरण के रूप में रख दिया गया है या दस-बीस कवियों को एक साथ लपेट कर बता दिया गया है कि ये इस विभाग के हैं या इस काल के हैं, इस खंड के हैं।

> अ० वा० : कविता के बारे में आपने जो लिखा है या कहा है—पढ़ने पर अकसर लगता है कि जैसे ज्यादातर आपने अपनी ही कविता के बारे में लिखा है। वह आपकी कविता पर ज्यादा ठीक लागू भी होता है। और हालांकि आपके जो बहुत सारे समकालीन हैं वे अपने समकालीन या बाद वाले लोगों पर लिखने का कुछ-न-कुछ यत्न करते रहे हैं, आपने ऐसा नहीं किया। यानी हममें से ज्यादातर को यह नहीं मालूम है कि आपकी अपने समकालीनों या बाद वालों के बारे में क्या राय है। यह परिस्थितिवश हुआ या जान-बूझकर ?

नहीं, जानबूझकर तो बिलकुल ही नहीं हुआ। बल्कि जानबूझकर तो मैं यह

करना चाहता था। लेकिन यह कई कारणों से हो नहीं पाया। मैं लिखना चाहता था। मैंने कई बार यह योजना बनायी कि छह-सात कवियों को चुनूं और उनकी सबसे अच्छी कविताएं, जो मुझे पसंद हैं, उनको एक संग्रह में रखूं और प्रत्येक कवि पर अपनी एक टिप्पणी, और वे सब कवि मेरे समकालीन हों। यह मेरे लिए एक बहुत आतरिक ताक़त देने वाला काम होता। अभी भी मुझे एक तरह का शारीरिक और मानसिक अवकाश मिले— जैसा कि इस बातचीत के समय है—अगर मिले तो मैं यह करना चाहूंगा। आपको याद होगा, मौका मिलते ही मैंने यह किया है। शमशेरजी की एक कविता पर मैंने एक टिप्पणी लिखी। अगर मैं लिखूंगा तो उसी तरह। मैं कोई विद्वानों की तरह लिख नहीं सकता। पहले तो यह भी हिचक रही मन में कि अगर लिखा और वह उस तरह का नहीं हुआ जो कि आलोचना के मैदान में ठहर सके, पर अंत में साहस कर लिया कि लिखूंगा तो उसी तरह—कविता के आनंद के स्तर पर लिखूंगा। हम लोगों को शायद यह भ्रम ही है कि हम कुछ ऐसा लिखेंगे तो उससे कोई गड़बड़ हो जायेगी।

> अ० वा० : वह बड़ी लाभप्रद गड़बड़ होगी। उसी तरह की गड़बड़ होनी चाहिए।

हमको सबसे पहले कवियों के शिल्प का अध्ययन करना चाहिए। इसलिए नहीं कि हम सिद्ध कर देंगे कि ऐसा शिल्प है, इसलिए यह ऐसा कवि है। सिर्फ इसलिए कि शिल्प है वह। कल मैंने शांति दवे से पूछा कि तेलों और रंगों के मेल का क्या तरीक़ा है और रंग पकाये कैसे जाते हैं। बहुत-सी बातें उन्होंने बतायी। भाषा में भी इस तरह की बातें बहुत महत्वपूर्ण हैं, हालांकि इसमें शब्दों को पकाने और जोड़ने-घटाने की प्रक्रिया नहीं है, अर्थों के मेल और बेमेल की प्रक्रिया है। उसको जानना हम लोग बिल्कुल भूले जा रहे हैं। शायद इस भ्रांति के कारण कि कुछ लोगों ने बता दिया था कि शिल्प कोई बहुत कुंठित मध्यवर्गीय प्रवृत्ति है और इसके न होने से कविता महान हो जाती है। बाद में पता चला कि उसके न होने से भी कविता तब तक महान नहीं हो जाती, जब तक कि हर कविता में एक नारा न हो। फिर उसके कुछ दिन बाद पता चला कि जिस कविता में नारा है वह बेकार है, असल कविता वह है जिसमें कि फूल और प्रेम और ऐसा कुछ आता हो। शिल्प से उदास रहकर आप भटकते ही रहेंगे। शिल्प को समझना बहुत जरूरी है और एक कवि अगर एक दूसरे कवि के शिल्प की व्याख्या करे तो यह उस कवि के लिए भी सुखद अभ्यास होगा। मैं नहीं मानता हूं कि उसमें पाठकों को कोई लेना-देना होगा—शायद नहीं है, लेकिन आलोचना के संसार में एक नयी चीज आयेगी।

अ० वा० : जैसा माहौल है उसमें शिल्प पर विचार लगभग असंभव हो गया है। आप ज्यादातर वक़्त कविता को उसकी तथाकथित दृष्टि में 'रिड्यूस' कर देते हैं और उस दृष्टि को जांचते-परखते हैं। लेकिन वह दृष्टि कैसी है—अगर वह ठीक भी है और वह 'रिड्यूस' करना ठीक भी है—तो वह कैसे किसी कविता में रूप धरती है, चरितार्थ होती है, उसका रक्त-मांस क्या है, उसका आपस में संबंध क्या है, इस पर कोई विचार नहीं होता।

यह विचार तो होना ही चाहिए। पर इससे पहले और विश्वविद्यालय से कम स्तर के विद्यार्थियों—मेरा मतलब जिज्ञासुओं—में भी यह बहस क्यों नहीं होनी चाहिए, जो हम लोग किया करते थे सन ४७-४८ में। यूनिवर्सिटी में था मैं, और ऐसे दो-तीन मित्रों के साथ जो कि सीनियर थे, रिसर्च कर रहे थे, बैठकर हम लोग उदाहरण के लिए 'हरी घास पर क्षण भर' (छपी ही थी उस जमाने में) की कविता को लेकर बहस का विषय यह था कि इसमें छंद कैसे तोड़ा गया है बीच में, कहां पर इसमें इतना लंबा पॉज है, क्यों है, कैसे पढ़ेंगे—मतलब कैसे समझेंगे, और क्यों है ऐसा और दो कविताओं में कितना अंतर है—क्योंकि पारंपरिक कविता से तो बिल्कुल भिन्न है वह।

अ० वा० : यानी यह कि कविता एक बनायी हुई चीज भी है।

बिल्कुल सही कहा आपने। मैं इसी बात की देर से उधेड़-बुन कर रहा था—कह नहीं पा रहा था। कविता एक बनायी हुई चीज है, इस बात को बिलकुल खुले दिल से और सारा गंवारपन छोड़ करके मानना चाहिए। क्योंकि हिंदी में यह गंवारपन बहुत भरा हुआ है जहां ऊपर से माना जाता है कि कविता आधुनिक है, लेकिन भीतर से माना जाता है कि कविता कोई दैवी वस्तु है और वह शायद मतलब आपके ऊंची जात के होने के कारण आपके ऊपर फट पड़ी है। कविता एक बनायी हुई चीज़ है, इसलिए उसके बनाने की प्रक्रिया को भी समझना चाहिए—पहले तो इस स्तर पर कि वह बनायी कैसे जाती है, फिर इस स्तर पर कि उसको इस तरह से बनाने से उसके अर्थ का क्या होता है। यानी उसके संबंध का—फॉर्म और कंटेंट जिसे आम तौर पर कहा जाता है उसके संबंध को समझना दूसरी स्टेज है, पहली स्टेज यह है कि आप फ़ॉर्म को समझें।

आपके गद्य का जिक्र किये बिना आपकी कविता पर पूरी बात शायद नहीं हो सकती—इसलिए भी कि आपकी कविता जहां सशक्त

है वहां यह सशक्त गद्य का भी उदाहरण है। 'रास्ता इधर से है' में जितना जीवंत और पारदर्शी गद्य है वैसा हिंदी में शायद कम ही लिखा गया है। प्रेमिका' और 'कोर्लेन' जैसी कहानियों या उससे पहले 'सीढ़ियों पर धूप में' की कुछ कहानियों में भाषा का एक अजब खेल-खिलवाड़ नहीं मिलता है। जैसे कि वे यह बताने के लिए लिखी गयी हों कि किस तरह भाषा ही समूचा यथार्थ हो सकती है। 'रास्ता इधर से है' की भूमिका में आपने यह भी लिखा है कि गद्य लिखना भाषा को सार्वजनिक करते जाना है। तो क्या आप कविता लिखने को भाषा को व्यक्तिगत करते जाना कहेंगे? आपका गद्य पढ़ते हुए प्रायः गोगोल और चेख़ोव जैसे रूसी कथाकारों की याद भी आती है कि उनका गद्य आगे बढ़ता तो इस तरह बढ़ता। आप रूसी गद्यकारों से प्रभावित रहे होंगे।

जी हा, पर रूसी तो मैंने पढी नही और रूसी गद्य का अनुवाद पढा है, पहले बचपन मे हिंदी और बाद में अंग्रेजी में। पर अनुवादों में भी एक चीज ने बहुत प्रभावित किया है शुरू से, जिसकी कि पुष्टि मेरे ही मन मे थोड़ी-बहुत प्रेमचंद को पढकर हुई। प्रेमचद को एक हद तक मैंने इसलिए पसद किया कि वह लंबे-लंबे वर्णन करते हैं, जो कि स्थानों के है। भावनाओ के वे जब वर्णन करते हैं तब अकसर अच्छे नहीं लगते। रूसी लेखकों मे दोनों विशेषताएं है। इसके साथ-ही-साथ प्रेमचंद में यह भी विशेषता है कि जब उन्होंने चाहा है—और ऐसा उनकी कहानियों मे बहुत हुआ है— तो उन्होने संक्षेप मे, सूक्ष्मता मे वही कमाल दिखाया है जो कि आज हम अपने लिए बड़ा महत्वपूर्ण मानते है। जब उन्होने चाहा तब। तो इसलिए रूसी गद्य और प्रेमचंद के प्रभाव को मैं साथ-साथ इसलिए रख रहा हूं कि दोनों मे समानताएं है जो रूसी साहित्य में मिलती है—उन लेखकों मे जिनके यहा बडे विराट, फैलाव, विस्तार है परंतु उनमें भी आप पायेंगे कि एक जगह कही पर इतना सूक्ष्म वर्णन है।

गद्य लिखना भाषा को सार्वजनिक बनाते जाना है, यह तो मैंने इस संदर्भ मे लिखा था कि गद्य के बहुत-से इस्तेमाल है और उन इस्तेमालो में केवल कहानी या रचनात्मक साहित्य ही एक ऐसा इस्तेमाल है जिसमें आप अकेले सारी शर्तें तय करने की स्थिति मे होते है। बाकी में बहुत बड़े-बड़े प्रतिष्ठान है, जो उनको तय करते है। वे सत्य को किस वक़्त बतायेंगे यह वे तय करते हैं, जबकि हम रचनात्मक साहित्य में सत्य को जिस वक़्त देखते हैं उसी वक़्त बताना जरूरी समझते है। वे देख लेते हैं उसको, लेकिन उसको रोक कर रखे रखते हैं कि किस समय बताया जायेगा। राजनीति भी यही करती है।

शायद मुद्राराक्षस या किसी और लेखक ने 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं को पत्रकारिता कहा था। शायद आपके पत्रकार होने की वजह से ऐसा कहा गया हो। फिर भी, पत्रकारिता का इस्तेमाल तो उनमें है। जिस पत्रकारिता में आप कई वर्ष से महत्व-पूर्ण योगदान कर रहे हैं वह आपकी रचनात्मकता में किस तरह मददगार रही है? पत्रकारिता और कविता में कोई रिश्ता आप देखते हैं?

देखिए, पत्रकारिता के बारे मे यह एक भ्रांति फैली हुई है कि वह जानबूझकर नियोजित तरीक़े से रचनात्मकता को भ्रष्ट करने के लिए होती है। तमाम लोग मानते हैं—खास तौर से हिंदी के लेखक। जिन लोगो ने आत्महत्या के विरुद्ध की कविताएं पढ़ कर के कहा था कि यह सिर्फ पत्रकारिता है उनसे मैं पूछना चाहूंगा कि क्या असल मे कविता में पत्रकारिता वह नही है जो तमाम प्रेम की कविता है जो कवि सम्मेलनों के लिए या बंबइया सिनेमा के लिए लिखी जाती है—या जो कि क्रांति के लिए लिखी जाती है। इस अर्थ में पत्रकारिता है वह कि उसमें आपका अपना जो अनुभव है वह किसी चीज से असहमति नहीं करता। यह एक प्रतिष्ठान की जरूरत है कि इसी तरह से सत्य को रखना होगा। इसी अर्थ मे वह पत्रकारिता है—वह प्रेम का वर्णन। मैं इतना ही कह सकता हूं कि कुछ लोगो को शायद इस बात से भ्रम हो रहा है कि मेरी कविता में बहुत-सी ऐसी चीजों का जिक्र आया है कि जिनका आम तौर से कविता मे जिक्र नही आता। शायद अखबारों में आता है—क्योंकि वे चीजें भी दुनिया मे है।

पत्रकार और साहित्यकार में कोई अंतर है क्या? मै मानता हूं कि नहीं है। इसलिए नही कि साहित्यकार रोजी के लिए अखबार मे नौकरी करते हैं, बल्कि इसलिए कि पत्रकार और साहित्यकार दोनों नये मानव-संबंध की तलाश करते है। दोनों ही दिखाना चाहते हैं कि दो मनुष्यों के बीच नया संबंध क्या बना। दोनों के उद्देश्य में पूर्ण समानता है। कृतित्व में समानता कमोबेश है। पत्रकार जिन तथ्यों को एकत्र करता है उनको क्रमबद्ध करते हुए उन्हें उग परस्पर संबंध से विच्छिन्न नही करता जिससे कि वे जुड़े हुए और क्रमबद्ध है।

क

f

तो यह लाजमी होता है कि वह आपको तर्क से विश्वस्त करे इसका कारण है, ये तथ्य हैं, और यह समय, देश, काल, के कारण ये तथ्य पूरे होते हैं। साहित्यकार इससे भिन्न के लिए तथ्यों की जानकारी उतनी ही अनिवार्य है, परंतु उन तथ्यों का गतानुगत क्रम उसके लिए

वाणिज्य भी यही करता है। विज्ञापन के जरिये उसका समय निश्चित करता है। इसलिए गद्य के इस्तेमाल साहित्य के अलावा और भी हैं। इसी अर्थ मे मैंने कहा था कि गद्य लिखना भाषा को सार्वजनिक बनाते जाना है कि जब आप साहित्य मे, गद्य में कुछ रच लेते हैं तब यह जो आपने रचा है वह अंत में जाकर पूरे गद्य के संसार मे योग दे देता है। यह अलग बात है कि उसको वाणिज्य भी इस्तेमाल करता है। जब वह सार्वजनिक वस्तु हो गयी तो व्यावसायिक प्रतिष्ठान ने उसका इस्तेमाल कर लिया, यह खतरा है। पर इसके बावजूद इस अर्थ में गद्य सार्वजनिक बनता जाता है, इस अर्थ में नही कि एक अनुभव था जिसको कि हमने गोपन या व्यक्तिगत न रहने देकर सार्वजनिक कर दिया। तो इसलिए मैं दोनों बातों को इस तरह से नही रखना चाहूंगा कि कविता व्यक्तिगत है और गद्य सार्वजनिक।

मं० ड० : गद्य और पद्य के अंतस्संबंध को लेकर आप क्या सोचते हैं ? इधर की कविता में खास तौर से गद्य का प्रवेश हुआ है—आपके यहां तो यह और भी मिलता है। कवियों की कविता और गद्य में भी समानता मिल जाती है। आपकी कुछ कविताओं के वाक्य गद्य में, कहानियों में भी हैं। मुक्तिबोध में भी यह मिलता है।

रचनात्मक लेखन के लिए दोनों में फ़र्क ही क्या है ? यह तो सिर्फ इसलिए कि गद्य का एक पैमाना बना हुआ है। तमाम तरह के इस्तेमालों में वह आता है इसलिए जब लेखक उसके सामने पड़ता है तब वह चुनने लगता है या उस का एक खास तरह का ही इस्तेमाल करना चाहता है—एक शैलीकृत इस्तेमाल करना। भाषा तो उसके सामने पहले भाषा की शक्ल में होती है। मेरे साथ तो कम-से-कम यही होता है। मुझे जब भी कुछ लिखने की जरूरत होती है तो मैं उस वक्त यह नही जानता हूं कि यह पद्य है या गद्य है, और यह भी बहुत हुआ है कि मैंने कविता लिखनी शुरू की और साथ में एक कहानी लिखनी भी शुरू की। दोनो एक साथ। थोड़ी देर वह लिखा, थोड़ी देर वह लिखा। फिर एक फाड़कर फेंक दिया, दूसरा रह गया। दोनो शायद ही कभी पूरी हो पायी हों। यह भी बहुत हुआ है कि कहानी लिखना शुरू किया लेकिन वह अंत मे जा करके कविता लिखी।

असल में सही केवल एक चीज है। वह यह है कि आप लिखेंगे जब, तब आप खुद जान नही पायेंगे कि यह गद्य है कि पद्य है। वही आदर्श स्थिति है, जहा पर यह निश्चय करना आपके लिए कठिन हो। जहां यह निश्चित करना बहुत आसान हो कि यह पद्य है, वह कविता काफी घटिया होगी।

शायद मुद्राराक्षस या किसी और लेखक ने 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं को पत्रकारिता कहा था। शायद आपके पत्रकार होने की वजह से ऐसा कहा गया हो। फिर भी, पत्रकारिता का इस्तेमाल तो उनमें है। जिस पत्रकारिता में आप कई वर्ष से महत्व-पूर्ण योगदान कर रहे हैं वह आपकी रचनात्मकता में किस तरह मददगार रही है? पत्रकारिता और कविता में कोई रिश्ता आप देखते हैं?

देखिए, पत्रकारिता के बारे में यह एक भ्रांति फैली हुई है कि वह जानबूझकर नियोजित तरीक़े से रचनात्मकता को भ्रष्ट करने के लिए होती है। तमाम लोग मानते हैं—खास तौर से हिंदी के लेखक। जिन लोगों ने आत्महत्या के विरुद्ध की कविताएं पढ़ कर के कहा था कि यह सिर्फ पत्रकारिता है उनसे मैं पूछना चाहूंगा कि क्या असल में कविता मे पत्रकारिता वह नही है जो तमाम प्रेम की कविता है जो कवि सम्मेलनों के लिए या बंबइया सिनेमा के लिए लिखी जाती है—या जो कि क्रांति के लिए लिखी जाती है। इस अर्थ मे पत्रकारिता है वह कि उसमें आपका अपना जो अनुभव है वह किसी चीज से असहमति नही करता। यह एक प्रतिष्ठान की जरूरत है कि इसी तरह से सत्य को रखना होगा। इसी अर्थ मे वह पत्रकारिता है—वह प्रेम का वर्णन। मैं इतना ही कह सकता हूं कि कुछ लोगों को शायद इस बात से भ्रम हो रहा है कि मेरी कविता मे बहुत-सी ऐसी चीजों का जिक्र आया है कि जिनका आम तौर से कविता मे जिक्र नही आता। शायद अखबारों मे आता है—क्योंकि वे चीजें भी दुनिया मे हैं।

पत्रकार और साहित्यकार में कोई अंतर है क्या? मै मानता हूं कि नहीं है। इसलिए नही कि साहित्यकार रोजी के लिए अखबार में नौकरी करते हैं, बल्कि इसलिए कि पत्रकार और साहित्यकार दोनों नये मानव-संबंध की तलाश करते है। दोनों ही दिखाना चाहते है कि दो मनुष्यों के बीच नया संबंध क्या बना। दोनों के उद्देश्य में पूर्ण समानता है। कृतित्व मे समानता कमोबेश है। पत्रकार जिन तथ्यो को एकत्र करता है उनको क्रमबद्ध करते हुए उन्हें उस परस्पर संबंध से विच्छिन्न नही करता जिससे कि वे जुड़े हुए और क्रमबद्ध है। उसके ऊपर तो यह लाजमी होता है कि वह आपको तर्क से विश्वस्त करे कि यह हुआ तो यह इसका कारण है, ये तथ्य हैं, और यह समय, देश, काल, परिस्थिति आदि जिनके कारण ये तथ्य पूरे होते हैं। साहित्यकार इससे भिन्न कुछ करता है। साहित्यकार के लिए तथ्यों की जानकारी उतनी ही अनिवार्य है जितनी पत्रकार के लिए है, परंतु उन तथ्यों का गतानुगत क्रम उसके लिए

वाणिज्य भी यही करता है। विज्ञापन के जरिये उसका समय निश्चित करता है। इसलिए गद्य के इस्तेमाल साहित्य के अलावा और भी हैं। इसी अर्थ में मैंने कहा था कि गद्य लिखना भाषा को सार्वजनिक बनाते जाना है कि जब आप साहित्य में, गद्य में कुछ रच लेते हैं तब वह जो आपने रचा है वह अंत में जाकर पूरे गद्य के ससार मे योग दे देता है। यह अलग बात है कि उसको वाणिज्य भी इस्तेमाल करता है। जब वह सार्वजनिक वस्तु हो गयी तो व्यावसायिक प्रतिष्ठान ने उसका इस्तेमाल कर लिया, यह खतरा है। पर इसके बावजूद इस अर्थ मे गद्य सार्वजनिक बनता जाता है, इस अर्थ में नही कि एक अनुभव था जिसको कि हमने गोपन या व्यक्तिगत न रहने देकर सार्वजनिक कर दिया। तो इसलिए मैं दोनों बातो को इस तरह से नहीं रखना चाहूंगा कि कविता व्यक्तिगत है और गद्य सार्वजनिक।

मं० ड० : गद्य और पद्य के अंतर्संबंध को लेकर आप क्या सोचते हैं? इधर की कविता में खास तौर से गद्य का प्रवेश हुआ है—आपके यहां तो यह और भी मिलता है। कवियों की कविता और गद्य में भी समानता मिल जाती है। आपकी कुछ कविताओं के वाक्य गद्य में, कहानियों में भी हैं। मुक्तिबोध में भी यह मिलता है।

रचनात्मक लेखन के लिए दोनों मे फर्क ही क्या है? यह तो सिर्फ इसलिए कि गद्य का एक पैमाना बना हुआ है। तमाम तरह के इस्तेमालों मे वह आता है इसलिए जब लेखक उसके सामने पड़ता है तब वह चुनने लगता है या उस का एक खास तरह का ही इस्तेमाल करना चाहता है—एक शैलीकृत इस्तेमाल करना। भाषा तो उसके सामने पहले भाषा की शक्ल में होती है। मेरे साथ तो कम-से-कम यही होता है। मुझे जब भी कुछ लिखने की जरूरत होती है तो मैं उस वक्त यह नहीं जानता हूं कि यह पद्य है या गद्य है, और यह भी बहुत हुआ है कि मैंने कविता लिखनी शुरू की और साथ मे एक कहानी लिखनी भी शुरू की। दोनो एक साथ। थोड़ी देर यह लिखा, थोड़ी देर वह लिखा। फिर एक फाड़कर फेंक दिया, दूसरा रह गया। दोनो शायद ही कभी पूरी हो पायी हों। यह भी बहुत हुआ है कि कहानी लिखना शुरू किया लेकिन वह अंत मे जा करके कविता लिखी।

असल मे सही केवल एक चीज है। वह यह है कि आप लिखेंगे जब, तब आप खुद जान नही पायेंगे कि यह गद्य है कि पद्य है। वही आदर्श स्थिति है, जहां पर यह निश्चय करना आपके लिए कठिन हो। जहां यह निश्चित करना बहुत आसान हो कि यह पद्य है, वह कविता काफी घटिया होगी।

रूप में। एकाएक मैं देख भी रहा हूं और मैं यहां हूं भी नही। इस तरह का एक अनुशासन बड़ा चूर-चूर करने वाला होता है लेकिन यह आपको चूर-चूर करता है, इसे आपकी रपट या कविता दोनों मे से किसी विधा को चूर-चूर नहीं करना चाहिएं। मगर यह थकाता बहुत है।

पत्रकारिता अपने में अनुभव के स्तर पर कोई घटिया काम नहीं है। हां अगर आप दोनों के बीच मे कहीं उभयसंभव कर रहे है कि न आप उसको रचनात्मक अनुभव की तरह से देख रहे है और न आप तथ्यों को एकदम तटस्थ भाव से पकड़ कर रहे हैं, तो आप बहुत ही घटिया रिपोर्ट लिखियेगा। फिर आप रोइयेगा कि मेरा साहित्यकार मर गया और मैं पत्रकार होकर रह गया। अगर आप एक अच्छे पत्रकार नही हैं तो आपको यह बहाना आसान लग सकता है कि मैं तो साहित्य मे था और पत्रकार नही था। लेकिन अगर आप एक अच्छे साहित्यकार हैं और आप पत्रकारिता की शैली को नही चाहते या शिल्प को नहीं समझते, तो अधिक से अधिक यह होगा कि आप एक खराब रिपोर्ट लिखेंगे। लेकिन ये संभावनाएं तो फिर भी रहेंगी कि आप एक अच्छे साहित्यकार बने रहें।

अ० वा० : बीस-बीस बरस साहित्य लिखने के बाद अब—जो आपकी पांच किताबें निकली हैं—आपको हमारे समाज में साहित्य की स्थिति कैसी लगती है ? साहित्य की समाज मे जो स्थिति आज से तीस वर्ष पहले थी, उसमें क्या आज कोई बुनियादी परिवर्तन आया है, जो आपको लेखन के रूप में दिखाई देता हो ?

बुनियादी परिवर्तन आया है, लेकिन मैं ठीक-ठीक जानता नहीं हूं कि वह परिवर्तन केवल साहित्य के मामले मे आया है या आम तौर पर बुनियादी परिवर्तन है। उसका असर सभी पर पड़ा है। साहित्य पर भी पडा—पड़ना चाहिए। एक तो यह है कि तीस साल पहले के मुकाबले आज जीवन की संभावनाएं बहुत ज्यादा हैं। हिस्सा लेनेवाले, काम करनेवाले लोग भी बहुत ज्यादा हैं, हालांकि उतने ज्यादा नही है जितने कि होने चाहिए थे। पाठक ही बहुत ज्यादा हैं। यह बात कि लेखकों की संख्या आज बहुत बढ़ी है, संकेत देती है कि चाहे व्यवसाय का यह तंत्र और भी बड़ा क्यों न हो जाये (और मैं तो मानता हूं कि यह और बडा हो क्योंकि जब तक यह और बड़ा नही होगा तब तक इस तमाम लेखक समाज मे साहित्य के लिए सही ढंग का ऑल्टरनेटिव पैदा नहीं होगा) तब भी संख्या इतनी विपुल होती जायेगी कि उनमें से नयी साहित्यिक संभावनाओं की बहुत गुंजाइशें होंगी। यह कहना बडा सरलीकरण होगा कि सब लेखक व्यवसायीकरण की गर्त में समा जायेंगे।

अवध्य नही है, वह उसको उलट-पुलट सकता है । बल्कि तथ्यो के परस्पर संबंध को जानबूझकर तोड़कर ही साहित्यकार उन्हें नये सिरे से क्रमबद्ध करता है और इस प्रकार से नये संपूर्ण सत्य की सृष्टि करता है, जो एक नया यथार्थ है। एक संभव यथार्थ है । पत्रकार के लिए यथार्थ वही है जो संभव हो चुका है । साहित्यकार लिए के वह है जो संभव हो सकता है ।

जहा तक पत्रकारिता का मेरे साहित्य से संबंध का प्रश्न है, एक बड़ा भौतिक संबध तो यही रहा कि पेशे से इस काम को करते हुए मुझे बहुत मौके मिले हैं अपने घर के बाहर जाने के । इसके कारण मेरे लिए जो सबसे बड़ा भौतिक अंतर हुआ है वह यह है कि शायद मैं बहुत कुछ उस घुटन से निकल सका जो कि सिर्फ घर मे बंद रहने से होती है । उससे बहुत कुछ मिला भी । नही मालूम वह कहा पर किस तरह से इस्तेमाल हुआ । वह अलग कहानी है।

सीमा के पार का आदमी कहानी का उदाहरण लें । १९६५ के भारत-पाक संघर्ष के बाद सियालकोट की सीमा पर लड़ाईबंदी क्षेत्र में मैं गया था । वहां इस कहानी की एक-एक चीज देखी थी, सिवाय इसके कि उस तरह से नही देखी थी जैसी कि इसमे बतायी गयी है । उस क्रम से नही देखी थी । इस तरह से देखी थी जिस तरह से बूढे ने तब सिर झुकाया जब उससे पूछा गया कि क्या तुम इसी गाव के रहने वाले हो । उसने सिर नहीं झुकाया था । दरअसल वह बूढा वहा छत पर था ही नहीं । वह गाव में टहल रहा था । हम लोगो को सिर्फ बताया गया था कि वह वही बैठा है । उसको मैंने छत पर लाकर बिठा दिया, क्योकि वह मेरे क्रम मे वही पर होना चाहिए । अगर मैं उसे वहा न बिठाऊं तो खाली रहेगी वह जगह । लेकिन अगर मैं रिपोर्ट लिखता और लिखता कि वहा बुड्ढा जो था वह छत पर बैठा था और उसने इस तरह सिर झुकाया, तो वह रिपोर्ट सही रिपोर्ट नहीं होती । उसमे यह मैं जरूर लिख सकता था कि वह टहल रहा था और टहलते हुए वह उदास था या उसका एक दात टूटा हुआ था या वह लंगड़ा कर चल रहा था, जो कि दूसरा रिपोर्टर शायद देखता ही नही । यह हो सकता था । लेकिन यह नही हो सकता था कि मैं उसको टहलने मे उठा करके यहां बिठा देता । तो मैं यह बता रहा हूं कि मुख्य चीज आपका अनुभव है और उस अनुभव में भी— अगर वह अनुभव रचनात्मक है साथ-साथ, तो फिर आप वहां रिपोर्ट करने गये हो तो आप रिपोर्ट भी करेंगे शायद, लेकिन आप कहानी भी लिखेंगे । क्योंकि अगर वह आपके साथ हो गया है जिसका कि मैंने शुरू मे जिक्र किया था कि अनुभव करते वक्त अगर आपके साथ वह घटना घट गयी है कि वह अनुभव निर्वैयक्तिक हो गया है तो निश्चित है कि वह किसी-न-किसी रूप में एक बार फिर अभिव्यक्ति मांगेगा—काव्य मे या कहानी मे । किसी कला-

रूप में। एकाएक मैं देख भी रहा हूं और मैं यहां हूं भी नहीं। इस तरह का एक अनुशासन बड़ा चूर-चूर करने वाला होता है लेकिन यह आपको चूर-चूर करता है, इसे आपकी रपट या कविता दोनों मे से किसी विधा को चूर-चूर नहीं करना चाहिए। मगर यह थकाता बहुत है।

पत्रकारिता अपने में अनुभव के स्तर पर कोई घटिया काम नहीं है। हा अगर आप दोनो के बीच में कही उभयसंभव कर रहे है कि न आप उसको रचनात्मक अनुभव की तरह से देख रहे है और न आप तथ्यों को एकदम तटस्थ भाव से पकड़ कर रहे हैं, तो आप बहुत ही घटिया रिपोर्ट लिखियेगा। फिर आप रोइयेगा कि मेरा साहित्यकार मर गया और मैं पत्रकार होकर रह गया। अगर आप एक अच्छे पत्रकार नही हैं तो आपको यह बहाना आसान लग सकता है कि मैं तो साहित्य मे था और पत्रकार नही था। लेकिन अगर आप एक अच्छे साहित्यकार हैं और आप पत्रकारिता की शैली को नहीं चाहते या शिल्प को नहीं समझते, तो अधिक से अधिक यह होगा कि आप एक खराब रिपोर्ट लिखेंगे। लेकिन ये संभावनाएं तो फिर भी रहेंगी कि आप एक अच्छे साहित्यकार बने रहें।

अ० वा० : बीस-बीस बरस साहित्य लिखने के बाद अब—जो आपकी पांच किताबें निकली हैं—आपको हमारे समाज में साहित्य की स्थिति कैसी लगती है? साहित्य की समाज में जो स्थिति आज से तीस वर्ष पहले थी, उसमें क्या आज कोई बुनियादी परिवर्तन आया है, जो आपको लेखन के रूप में दिखाई देता हो?

बुनियादी परिवर्तन आया है, लेकिन मैं ठीक-ठीक जानता नहीं हूं कि वह परिवर्तन केवल साहित्य के मामले में आया है या आम तौर पर बुनियादी परिवर्तन है। उसका असर सभी पर पड़ा है। साहित्य पर भी पड़ा—पड़ना चाहिए। एक तो यह है कि तीस साल पहले के मुकाबले आज जीवन की संभावनाएं बहुत ज्यादा हैं। हिस्सा लेनेवाले, काम करनेवाले लोग भी बहुत ज्यादा हैं, हालांकि उतने ज्यादा नहीं हैं जितने कि होने चाहिए थे। पाठक ही बहुत ज्यादा हैं। यह बात कि लेखकों की संख्या आज बहुत बढ़ी है, संकेत देती है कि चाहे व्यवसाय का यह तंत्र और भी बड़ा क्यों न हो जाये (और मैं तो मानता हूं कि यह और बड़ा हो क्योंकि जब तक यह और बड़ा नही होगा तब तक इस तमाम लेखक समाज में साहित्य के लिए सही ढंग का ऑल्टरनेटिव पैदा नहीं होगा) तब भी संख्या इतनी विपुल होती जायेगी कि उसमें से नयी साहित्यिक संभावनाओं की बहुत गुंजाइशें होंगी। यह कहना बड़ा सरलीकरण होगा कि सब लेखक व्यवसायीकरण की गर्त मे समा जायेंगे।

अवश्य नहीं है, वह उसको उलट-पुलट सकता है। बल्कि तथ्यों के परस्पर संबंध को जानबूझकर तोड़कर ही साहित्यकार उन्हें नये सिरे से क्रमबद्ध करता है और इस प्रकार से नये संपूर्ण सत्य की सृष्टि करता है, जो एक नया यथार्थ है। एक संभव यथार्थ है। पत्रकार के लिए यथार्थ वही है जो संभव हो चुका है। साहित्यकार लिए के वह है जो संभव हो सकता है।

जहां तक पत्रकारिता का मेरे साहित्य से संबंध का प्रश्न है, एक बड़ा भौतिक संबंध तो यही रहा कि पेशे से इस काम को करते हुए मुझे बहुत मौके मिले हैं अपने घर के बाहर जाने के। इसके कारण मेरे लिए जो सबसे बड़ा भौतिक अंतर हुआ है वह यह है कि शायद मैं बहुत कुछ उस घुटन से निकल सका जो कि सिर्फ घर मे बंद रहने से होती है। उससे बहुत कुछ मिला भी। नहीं मालूम वह कहा पर किस तरह से इस्तेमाल हुआ। वह अलग कहानी है।

सीमा के पार का आदमी कहानी का उदाहरण लें। १९६५ के भारत-पाक संघर्ष के बाद सियालकोट की सीमा पर लड़ाईबंदी क्षेत्र में मैं गया था। वहां इस कहानी की एक-एक चीज देखी थी, सिवाय इसके कि उस तरह से नही देखी थी जैसी कि इसमे बतायी गयी है। उस क्रम से नही देखी थी। इस तरह से देखी थी जिस तरह से बूढ़े ने तब सिर झुकाया जब उससे पूछा गया कि क्या तुम इसी गाव के रहने वाले हो। उसने सिर नही झुकाया था। दरअसल वह बूढ़ा वहा छत पर था ही नही। वह गाव मे टहल रहा था। हम लोगो को सिर्फ बताया गया था कि वह वहीं बैठा है। उसको मैंने छत पर लाकर बिठा दिया, क्योंकि वह मेरे क्रम मे वही पर होना चाहिए। अगर मैं उसे वहां न बिठाऊं तो खाली रहेगी वह जगह। लेकिन अगर मैं रिपोर्ट लिखता और लिखता कि वहा बुड्ढा जो था वह छत पर बैठा था और उसने इस तरह सिर झुकाया, तो वह रिपोर्ट सही रिपोर्ट नही होती। उसमे यह मैं जरूर लिख सकता था कि वह टहल रहा था और टहलते हुए वह उदास था या उसका एक दात टूटा हुआ था या वह लंगड़ा कर चल रहा था, जो कि दूसरा रिपोर्टर शायद देखता ही नहीं। यह हो सकता था। लेकिन यह नही हो सकता था कि मैं उसको टहलने से उठा करके यहा बिठा देता। तो मैं यह बता रहा हूं कि मुख्य चीज आपका अनुभव है और उस अनुभव मे भी—अगर वह अनुभव रचनात्मक है साथ-साथ, तो फिर आप वहां रिपोर्ट करने गये हो तो आप रिपोर्ट भी करेंगे शायद, लेकिन आप कहानी भी लिखेंगे। क्योंकि अगर वह आपके साथ हो गया है जिसका कि मैंने शुरू में जिक्र किया था कि अनुभव करते वक्त अगर आपके साथ वह घटना घट गयी है कि वह अनुभव निर्वैयक्तिक हो गया है तो निश्चित है कि वह किसी-न-किसी रूप में एक बार फिर अभिव्यक्ति मांगेगा—काव्य मे या कहानी मे। किसी कला-

रूप में । एकाएक मैं देख भी रहा हूं और मैं यहां हूं भी नही । इस तरह का एक अनुशासन बडा चूर-चूर करने वाला होता है लेकिन यह आपको चूर-चूर करता है, इसे आपकी रपट या कविता दोनों में से किसी विधा को चूर-चूर नहीं करना चाहिए । मगर यह थकाता बहुत है ।

पत्रकारिता अपने में अनुभव के स्तर पर कोई घटिया काम नही है । हा अगर आप दोनो के बीच मे कही उभयसंभव कर रहे हैं कि न आप उसको रचनात्मक अनुभव की तरह से देख रहे हैं और न आप तथ्यों को एकदम तटस्थ भाव से पकड़ कर रहे है, तो आप बहुत ही घटिया रिपोर्ट लिखियेगा। फिर आप रोइयेगा कि मेरा साहित्यकार मर गया और मैं पत्रकार होकर रह गया । अगर आप एक अच्छे पत्रकार नही हैं तो आपको यह बहाना आसान लग सकता है कि मैं तो साहित्य मे था और पत्रकार नही था । लेकिन अगर आप एक अच्छे साहित्यकार हैं और आप पत्रकारिता की शैली को नही चाहते या शिल्प को नही समझते, तो अधिक से अधिक यह होगा कि आप एक खराब रिपोर्ट लिखेंगे । लेकिन ये संभावनाएं तो फिर भी रहेंगी कि आप एक अच्छे साहित्यकार बने रहें ।

> **अ० वा० : बीस-बीस बरस साहित्य लिखने के बाद अब—जो आपकी पांच किताबें निकली हैं—आपको हमारे समाज में साहित्य की स्थिति कैसी लगती है ? साहित्य की समाज में जो स्थिति आज से तीस वर्ष पहले थी, उसमें क्या आज कोई बुनियादी परिवर्तन आया है, जो आपको लेखन के रूप में दिखाई देता हो ?**

बुनियादी परिवर्तन आया है, लेकिन मैं ठीक-ठीक जानता नही हूं कि वह परिवर्तन केवल साहित्य के मामले मे आया है या आम तौर पर बुनियादी परिवर्तन है । उसका असर सभी पर पड़ा है । साहित्य पर भी पड़ा—पडना चाहिए । एक तो यह है कि तीस साल पहले के मुकाबले आज जीवन की संभावनाएं बहुत ज्यादा हैं । हिस्सा लेनेवाले, काम करनेवाले लोग भी बहुत ज्यादा हैं, हालांकि उतने ज्यादा नही है जितने कि होने चाहिए थे । पाठक ही बहुत ज्यादा हैं। यह बात कि लेखकों की संख्या आज बहुत बढ़ी है, संकेत देती है कि चाहे व्यवसाय का यह तंत्र और भी बड़ा क्यो न हो जाये (और मैं तो मानता हूं कि यह और बड़ा हो क्योकि जब तक यह और बड़ा नही होगा तब तक इस तमाम लेखक समाज मे साहित्य के लिए सही ढंग का ऑल्टरनेटिव पैदा नही होगा) तब भी संख्या इतनी विपुल होती जायेगी कि उसमे से नयी साहित्यिक संभावनाओं की बहुत गुंजाइशें होंगी । यह कहना बडा सरलीकरण होगा कि सब लेखक व्यवसायीकरण की गर्त मे समा जायेंगे ।

पिछले वक्त के मुकाबले आज साहित्य की जरूरत भी दूसरी तरह की हो गयी है या हो जायेगी। यह जरूरत उस तरह सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए कही नही होगी, जैसी कि तीस साल पहले थी। वह जरूरत एक सामाजिक वैभव के लिए नहीं होगी, जैसी कि तब थी कि एक कवि है और उसका आदर करना है। लेकिन वह जरूरत एक विकल्प की होगी। उसका बीजरूप आज के साहित्य में है। साहित्य की जो जरूरत तीस बरस पहले के मुकाबले है वह एक विकल्प के रूप में है; भाषा का प्रयोग करने वाली अन्य शक्तियों के विकल्प के रूप में है : यह स्थिति अभी तक बीच की है। धुरीकरण अभी तेज नहीं हुआ है, पर है तो जरूर।
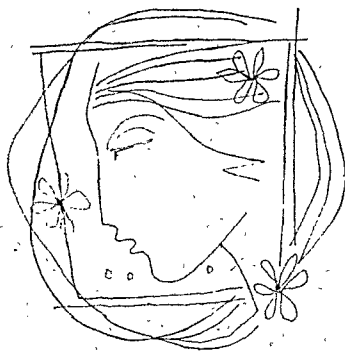
करुणा का लोक

सीताकांत महापात्र से प्रभातकुमार त्रिपाठी की बातचीत

सीताकांत महापात्र की कविता, परंपरा के प्रतीकों, रचनात्मक इस्तेमाल में नौकन्नेपन और ईमानदारी की कविता है। उनके यहां अपने से पहले हुई पीड़ा, अनुभव और पुराकथाएं विराट् मानवीय सच से रूबरू हैं। हाल ही मे हिंदी में उनकी अनूदित कविताओं का चयन—**अपनी स्मृति की धरती** प्रकाशित हुआ है। वैसे उड़िया में पांच कविता संकलन, चार अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं।

●

प्रभातकुमार त्रिपाठी : अग्रणी कवि-कथाकार-आलोचक। सभी महत्त्व के पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित। कुछ पुस्तकें भी।

कविता, मैं समझता हूं मेरी ही नही, इस कर्म को गंभीरता से लेने वाले किसी भी कवि की एक आंतरिक जरूरत है। निजी तौर पर मैं यह मानता हूं कि अपने होने की सार्थकता के अनुभव के लिए कविता, मेरे लिए जरूरी है। कविता एक अलग और जीवित दुनिया है। मेरे दिखाई पडनेवाले साधारण जीवन से संयुक्त होकर भी, वही नही। दरअस्ल कविता इंटेंस रियलाइजेशन का क्षण है। उसकी रचनात्मकता के लिए कवि को गहरे में संघर्ष करना होता है। आपने अभी खतरनाक समय की बात की। इस समय की पीड़ा के साथ व्यक्तिगत स्मृति का एक रिश्ता है। बेशक मैं मानता हूं कि कविता व्यापक अमानवीयकरण की प्रक्रिया में एक जरूरी हस्तक्षेप है, लेकिन प्रक्रिया मात्र आलोचनात्मक नही है। मैं अपने लिए यह बात विशेष रूप से कहना चाहता हूं कि *आयरनी और सेटायर मेरे औजार नहीं हैं, जबकि आधुनिक कहे जाने* वाले बहुत से कवियों में इनका फैशन सा है। मेरे लिए कविता करुणा का लोक है। मानवीय जिजीविषा के प्रति मेरा सम्मान, साधारण आदमी की संवेदनशीलता का सम्मान है। आपाधापी की दुनिया में, मैं अभी भी, **रवि ठाकुर के मिट्टी के दिये** को जरूरी मानता हूं।

दरअस्ल कविता के साथ मेरे लगाव का निजी इतिहास, करुणा को अपने भीतर अनुभव करने का साक्ष्य है। बहुत पहले से एक धार्मिक वातावरण मे जीते हुए बचपन मे ही, मैं मनुष्य के गहरे दुःख को जानता हूं। बीमारी और मृत्यु से जुड़े अनुभव मेरे मन में बहुत पुराने दिनों से संचित है। मेरी कविता के पीछे आत्मीय लोगो की एक दुनिया है। मेरी कविता कम से कम मेरे लिए वास्तविक लोगों का एक संसार है। अभी मुझे बचपन के एक दोस्त की याद आ रही है। वह अब नहीं है। एक शाम वह खेल रहा था। पूरी तरह मे जीवित और सक्रिय। सुबह उसकी मृत्यु हो गयी। यह घटना मैं आज तक नही भूल पाता। सिर्फ मृत्यु का भय नहीं—बल्कि मानवीय चेष्टा की सीमा का करुण एहसास भी। मैं समझता हूं कि कुछ स्मृतियां जीवन भर आपके मन को मथती रहती हैं। कम से कम मैं तो यह मानता हूं कि इसे भूल सकना मेरे लिए मुश्किल है। अवसाद की छाया अगर मेरी कविता में है,

तो उसके पीछे इसी तरह के अनुभव हैं। लेकिन इसके बावजूद मैं यह मानता हूं कि कविता हताशा का चरम नहीं है। मैं उस हताशा का विरोधी हूं जो आधुनिकता के नाम पर इंटेलेक्चुअल मुद्रा की तरह परोसी जा रही है।

इधर आपने मार्क किया होगा कि बुद्धिजीवियों के बीच जातीय स्मृति, परंपरा, अपनी जमीन की चर्चा खूब हो रही है। मुझे लगता है कि सारे भारत में यह दौर उत्साहातिरेकी ढंग से भारतीय होने का थोड़ा लयात्मक दौर है। आप स्वयं परंपरा और जातीय स्मृति की कविता लिखने वाले कवि की तरह जाने जाते हैं। आपका इस विषय में क्या खयाल है?

दरअसल परंपरा के रचनात्मक इस्तेमाल के बारे में चौकन्ना होने की सख्त जरूरत है। अगर जातीय स्मृति की इस चिंता के पीछे सिर्फ एक प्रक्रिया-मूलक धारणा है, मैं समझता हूं कि उसके पीछे कोई जेनुइन रचनात्मक दबाव नहीं है। मेरा खयाल है कि परंपरा-बोध को किसी स्टैंड की तरह लेना, एक तरह से बहुत ऊपरी स्तर पर अपने होने को समझना है।

मेरा कहना था कि इधर बुद्धिजीवी की चिंता अपने भारतीय होने को प्रभावित करने में व्यक्त हो रही है···

मैं उसी बात पर आ रहा था। मेरे लिए यह प्रमाणित करने जैसी बात कभी नहीं थी। जैसे मेरे परिवार मे ही मेरी मा है, जो अपने स्वभाव-व्यवहार मे एक दूसरे संस्कारशील परिवेश में जीती है। सुबह उठकर नहाने के बाद, निर्माल्य चखे बगैर वह कोई दूसरा काम करने की सोच भी नहीं सकती। वह उसके होने की अनिवार्य शर्त है और शायद अर्थ भी। लेकिन वहीं मैं भी हूं और मेरी बच्ची भी। याने मेरे लिए तो इसे प्रभावित करने की कोई बाध्यता नहीं है। एक तरह से भारतीयता के संस्कारों से, मेरा होना काफी पहले से नियंत्रित है। हुआ यह कि अपने अध्ययन से, खासकर पश्चिम के कुछ महत्व-पूर्ण लेखकों के प्रभाव के कारण परंपरा को देखने की एक नयी दृष्टि हमे मिली है। मसलन वे सारे पौराणिक किस्से, जो रूढ़िवादी धार्मिक के यांत्रिक व्यवहार के बीच विश्वास की तरह है—हमारे लिए द्वंद्व के विषय हैं। परंपरा के नाम चली आने वाली हर चीज को, हम अपनी आंतरिकता के दुःख और अपने समय के विवेक के साथ पहचानते हैं। धरमा नामक वह बालक, जो कोणार्क के सूर्य मंदिर के निर्माण के लिए शहीद कर दिया गया, मेरे मन में सिर्फ करुणा ही नहीं जगाता। एक आधुनिक व्यक्ति की तरह मैं इस बलिदान का रैशनल विरोध करता हूं। मैं उसके बलिदान को नैतिक और मानवीय

कार्य में कभी मही न मान सकूंगा।

देखिये, मैं आपको अपनी बात की ओर खींचना चाहता हूं। परंपरा अतीत और पुराण-चर्चा में क्या इस बात का खतरा नहीं है कि हमारी भाषा पुनरुत्थानवादी मुहावरे से लिपटने लगे और एक बिलकुल दूसरे खतरनाक उद्देश्य के लिए उसका इस्तेमाल शुरू हो जाए।

मैंने शुरू मे ही कहा कि परंपरा के प्रतीकों के रचनात्मक इस्तेमाल मे चौकन्नेपन और ईमानदारी की सख्त जरूरत है—और इसीलिए अपने को भारतीय प्रमाणित करने जैसी बात मेरी समझ में नहीं आती। यह सच है कि मिथ आर्केटाइप के इस्तेमाल को लोग इंटेलेक्चुअल पास्ट टाइम की तरह भी ले सकते हैं। मैं मानता हूं कि इस बात पर ज्यादा जोर देने की मुद्रा खतरनाक भी साबित हो सकती है। जरा इस पर सोचें कि बुद्धिजीवी को तो यह बात समझाकर घोषित करनी पड़ती है कि वह भारतीय है, लेकिन गांव का कोई किसान जब किसी अजनबी से मिलता है, तो उसे यह बताने की कोई जरूरत नही पड़ती। परंपरा का निरा बौद्धिकीकरण ठीक नहीं है।

हां, मैं समझता हूं कि पुनरुत्थानवाद के इस खतरे के बावजूद एक रचनात्मक व्यक्ति के लिए अपने से पहले के रचनात्मक प्रयत्नों के साथ रिश्ता बनाए रखना जरूरी है।

और जरूरी नही कि यह रिश्ता, सिर्फ आज की समस्याओं के चित्रण के लिए प्रतीक और बिंब खोजने जैसा तकनीकी रिश्ता हो। परंपरा का अर्थ सिर्फ बीता हुआ समय नहीं है। परपरा की प्रवहमानता को हम अपने रक्त मे अनुभव करते हैं और पाते हैं कि हम एक ऐसी भाषा के करीब हैं, जिसमें हम अपने निजीपन को गहरे और प्रामाणिक अर्थ मे पहचान सकते हैं। पिछली याददाश्त हमारे लिए अपने मन की खोज ही है। अपने दुःख और हताशा की गहरी जड़ों तक जाकर अपना चेहरा देखने की कोशिश मुझे अपने लिए बहुत जरूरी लगती है। मसलन मैंने यशोदा को लेकर एक कविता लिखी है। उस प्रसंग को लेकर, जबकि वह बालकृष्ण के मुंह में अपना समग्र ब्रह्मांड देखती है। एकदम विमूढ और चकित यशोदा के उस समय के मन को मैं एक कलाकार का मन मानता हूं। अपने गहन अनुभव मानवीय विराट् सच के सम्मुख कवि यशोदा की तरह चकित है। कभी नहीं बता पाएगा वह अपना सच जैसे कि यशोदा नही बता सकी थी। अंत तक नहीं बता सकी थी किसी को।

क्या आपका इशारा भाषा की असंप्रेषणीयता की तरफ है ?

नही, सिर्फ उस ओर नही। शायद इस कविता मे मैंने यशोदा के माध्यम से अपने रचने वाले मन का दुःख जानना चाहा है। कभी हम कह नही पाते अपने चरम एकांत का वह गोपनीय दुःख। अद्भुत अविस्मरणीय क्षण मे अपने अनुभव को जानने की कथा हम कभी नहीं कह पाते। अलावा इसके हमसे पहले भी लोगों ने दुःख और अकेलापन जिया है और इसके साथ हमारा एक रिश्ता महज और अपने आप बन जाता है। हमारी भाषा रचनात्मक नैरंतर्य का एक पंडिताऊ वक्तव्य भर नही है। फिर एक कलाकार के लिए समय का विभाजन संभव नही है। उसका आज वर्तमान मात्र नहीं है।

पर अभी आपने भाषा की असम्प्रेषणीयता की बात की। मैं समझता हू कि यह एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। यह सच है कि भाषा चारो तरफ से विकृत की जा रही है। मानवीय भाषा पर मास मीडिया का खतरनाक हमला उसे विकृत किये दे रहा है। लेकिन इस सच को एक पश्चिमी व्यक्ति की तरह स्वीकारना मुझे गलत लगता है। यहा पर अपने भारतीय होने की सजग और विवेकपूर्ण स्मृति मुझे जरूरी लगती है। हमारी स्थिति मे अभी भी संवाद की गुंजाइश है। परंपरागत प्रतीक-मिथ हमारे सामाजिक जीवन के जीवित अंग है दरअसल भाषा की अपर्याप्तता की बात को हमे तकलीफ की तरह लेना चाहिए, उस तकलीफ की तरह जो हमे भाषा की वास्तविक खोज से जोडे। मैंने अपनी एक कविता में कवि को किसान की तरह देखा है। नीरवता की क्यारियों मे शब्दों के पौधे रोपता कवि फिर कभी सूखा, कभी बन्या, लेकिन सबके बावजूद धरती के हरे होने की एक सामूहिक आस्था से मैं अपने को जुड़ा हुआ पाता हूं। कविता की खोज सबसे पहले इस आस्था से ही जुड़ी है।

क्या कवि के लिए शिल्पी की हैसियत से चौकन्ना होना जरूरी नहीं है, खासकर तब जबकि भाषा मास मीडिया के द्वारा औसत और मृत चीज में बदली जा रही है।

बेशक ! शिल्पी होना जरूरी है। भाषा कवि का औजार भी है। उसे उसकी पहचान होनी ही चाहिए। अपने भीतर के भावात्मक परिवेश को लिख सकने वाले शब्दों के लिए, उसे स्वत.स्फूर्तता पर ही विश्वास नही करना चाहिए, ऐसा मेरा खयाल है। जिस संस्कृति मे शब्द को ब्रह्म कहा गया है, वहां शब्द का अपप्रयोग सांस्कृतिक दिवालियापन है। शब्द के रंग-रूप और उसकी हरकतों, याने उसके पूरे चरित्र को जानने के लिए, सांस्कृतिक अवचेतन की मानसिकता के साथ गहन अंतरात्मिक लगाव जरूरी है—लेकिन भाषा को कवि

की हैसियत मे जानना, उसे उसके शब्दकोशीय रूप में जानना नही है।

कविता में जाना एक कवि के लिए विलक्षण और अद्‌भुत अनुभव होता है। आप जब अपनी कविता में जाते हैं तो आपको कैसा लगता है। मैं मात्र तकनीकी उत्सुकता से आपकी रचना-प्रक्रिया के बारे में जानने को उत्सुक नहीं हूं।

मैंने पहले भी कहा है कि कविता मेरे लिए इंटेंस रियलाइजेशन का क्षण है। एक तरह से मेरे आत्म-विस्तार का भी। कविता मुझे सिकोड़ने वाली चीज़ नही है—याने वह जिंदगी से विथ-ड्रा करने जैसा कोई अनुभव कतई नही है।

लेकिन मैं कविता के साथ आपके व्यक्तिगत रिश्ते के बारे में जानना चाहता था।

मैं वही कह भी रहा हूं। कविता मेरे लिए प्रार्थना है। मेरे शब्दों के पीछे सच-मुच के लोग हैं। जीवित अनुभवों की यह दुनिया मेरी निजी दुनिया है। अपने आसपास को दुबारा अपनी भाषा में रचने की इस कोशिश के बारे मे सारा कुछ समझाकर कह सकना मुश्किल है। इधर मैंने कुछ कविताए इसी विषय पर लिखी हैं, ताकि मैं जान सकू कि कविता में रहने की मेरी आत्यतिक निजता क्या है। नीरवता में कवि और कविता का जन्म शीर्षक से लिखी कुछ कवि-ताएं अगर आप पढ़ें, तो शायद आप महसूस कर सकेंगे कि शब्दों के साथ मेरे मेल की गति का रंग-रूप क्या है? किस तरह अचानक कविता शब्द हो जाती है और मुझे अनुभव के किसी सांद्र क्षण में स्थिर करती हुई कविता मेरे लिए कितनी जरूरी हो जाती है। मुमकिन यह भी है कि दूसरों को यह सब बिलकुल बेमतलब भी लगे।

ओड़िया के कई कवियों, पाठकों से मेरी बातचीत हुई है। वे यह सोचते हैं कि सीताकांत बाबू स्कॉलर अधिक हैं, कवि कम। इस विषय में आपका क्या कहना है? क्या समकालीन कविता के बारे में आप कुछ कहेंगे?

जिन लोगों की मेरे बारे मे यह धारणा है, मुमकिन है वे एक सामान्य गलत-फहमी के शिकार हों। दूसरो की तुलना में, मैं विभिन्न अनुशासनों और साहित्यिक चिंतन से कुछ अधिक ही जुड़ा हूं। मैंने सैद्धांतिक लगनेवाली कुछ आलोचना भी लिखी है। अलावा इसके आदिवासियों की कविताओं के अनुवाद किए हैं, शोध कार्य भी किया है। मैं व्यक्तिगत रूप से, इस काम को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूं। ओड़िया के दूसरे महत्त्वपूर्ण कवि विधिवत्

आलोचनात्मक चिंतन मे थोड़ा परहेज करते हैं। मुमकिन है कि इसी वजह से मेरी एक ऐसी इमेज बन गयी हो कि इसी वजह से लोगों के मन में यह बात बैठ गयी हो, कि मैं स्कॉलर हूं। मेरा खयाल है कि स्कॉलरशिप मे नहीं बल्कि एक आत्मसजग आदमी की बेचैनी से, मेरी कविता जुड़ी है।

मैं यह जानने के लिए बहुत उत्सुक हूं कि आप ओड़िया की समकालीन कविता के बारे में क्या सोचते हैं। मेरा अपना खयाल है कि समकालीन कविता पर ओड़िया में बहुत कम बातचीत हो पाती है। स्वयं कवि अपने समय की कविता पर अपना मन खुलकर व्यक्त नहीं करते।

यह सच है। चर्चा-आलोचना की परंपरा समकालीन साहित्य में है जरूर, लेकिन अभी उसमे अपेक्षित खुलापन नही है। अपने समय की रचना में मेरी अपनी गहरी दिलचस्पी है। मुझे लगता है कि आधुनिक रचना के शुरुआत के दिनों में हमारे यहा एक प्रकार का रोमांटिक भाव था जिस प्रकार राधानाथ रथ का रोमांटिक इगो था, उसी प्रकार सचि राउतराय की भी, रोमांटिक दृष्टि ही थी। उसमे असलियत थोड़ी धुंधली हो जाती थी। आधुनिक ओड़िया कविता मे गुरु महांती का योगदान इस लिहाज से बहुत महत्वपूर्ण है। सचि बाबू की तुलना मे ये मन और परिवेश को अधिक साफ दृष्टि से देखते है।

और 'रमाकांत रथ' के बारे मे ? वे युवा कवियों के प्रिय कवि हैं। स्वयं मुझे भी उनकी कविताएं अच्छी लगती हैं।

रमाकांत ओड़िया के एक अत्यंत महत्वपूर्ण कवि हैं। समकालीन साहित्य के इतिहास मे उनके योगदान को सम्मान के साथ याद किया जायेगा। रमाकांत मे अनुभव की गहरी इंटेंसिटी है। वे अपने शब्दों मे अंतरात्मा के दुःख की, बेहद अनुभूति गर्म और प्रामाणिक दुनिया रचते हैं। पर एक शिकायत उनसे होती है। उनकी शब्द संपदा मुझे बड़ी सीमित लगती है। शायद रमाकांत मे अपने भीतर सिकुड़ने का एक भाव है।

मै आपसे सहमत हूं। मैने भी उनकी कुछेक कविताएं पढ़ी हैं। शुरू में तो उन्होंने मुझे बहुत प्रभावित किया था, पर बाद में मुझे लगा कि वे कुछ अतिरिक्त ढंग से अंतर्मुखी होते जा रहे हैं। बेशक ओड़िया कविता के बारे में मेरी जानकारी अत्यंत सीमित है। मेरी यह राय भी कोई अंतिम नहीं है। एक बात और। इधर मैंने उन की एक कविता 'दुर्गा' पढी थी। मुझे लगा था, वे अपने को

आऊट-ग्रो करने की कोशिश कर रहे हैं।

हां। वह कविता मुझे भी अच्छी लगी थी। आप उस कविता का जिक्र कर रहे हैं जो समावेश में छपी थी। वह सचमुच एक अच्छी कविता है। मुझे यह भी लगा था कि इस कविता में रमाकांत ने अपने मुहावरे को तोडने की एक सार्थक कोशिश की है। उनकी रचनात्मक ऊर्जा असंदिग्ध है।

अपेक्षाकृत नये कवियों के बारे में आपका क्या खयाल है ? मैं चाहता हूं कि आप इस विषय पर खुलकर बोलें। मसलन 'सौभाग्य मिश्र' या 'राजेंद्र पंडा' के बारे में आप क्या सोचते हैं ?

दोनों ही महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं। सौभाग्य के यहां एक बातचीत का मुहावरा है। यह ताजा लगता है। इसमे आकर्षण है—बहुत सार्थक लगने वाला नयापन भी। पर सौभाग्य के यहा जरूर लगता है कि शैली के प्रति दुराग्रह का भाव है।

हां, भाषा के साथ एक खिलवाड़ भी।

खिलवाड़ की वजह से सौभाग्य के यहां बडी आत्मीय ताजगी है। ओड़िया भाषा के एक जीवित हिस्से के साथ, उसका यह रचनात्मक सरोकार मेरे खयाल से काफी महत्वपूर्ण है। पर सौभाग्य या राजेन्द्र पंडा जैसे महत्वपूर्ण कवियों के यहां भी भाषिक स्तर पर रम जाने जैसी कोई बात है, जो उन्हें गहरा जाने नहीं देती। मेरा मतलब है उन्हें और गहरे जाने की जरूरत है। राजेन्द्र पंडा के पास विपुल शब्द संपदा है। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है। वे सचमुच एक महत्वपूर्ण संभावना के कवि हैं। इधर के कई कवियों मे लिरिकल मूड की वापसी देखी जा सकती है। यह एक अच्छी बात है, पर लिरिसिज्म के अपने खतरे भी हैं।

मेरा अपना खयाल है कि इधर अपनी कविता में, अमूर्तन कुछ ज्यादा है, और एक तरह का निराशा भाव भी। जीवन का सीधा साक्षात्कार कुछ विरल हुआ है।

मेरा खयाल है कि यह ठीक नहीं है। मेरी कविता मैं नही समझता जीवन-विमुख हुई है। मैंने पहले भी कहा कि कविता मेरे अस्तित्व की समूची भाषा को पाने की कोशिश है। अष्टपदी की सभी कविताओं में एक आंतरिक रिश्ता था। उसमे अपने दुख को जानने की चेष्टा थी। मसलन सोलोन का एकाकीत्व उसकी निस्संगता या कटाव नही है। यह जरूर है कि इधर मेरी कविताओं

में व्यक्ति के अंतर्मन की बुनियादी चिंताओं से उलझने की कोशिश है। लम्बी कविताएं मैंने अनुभव को उसकी समग्र जटिलता में मूर्त करने की कोशिश के चलते लिखी हैं। मैं अपनी कविता में, अबे फ्राम सेल्फ भी होता हूं। और फिर अपने में लौटता भी हूं। परकीया नामक कविता में, मैंने मृत्यु और जीवन के बीच के तनाव को, विविध अनुभव संदर्भों के बीच पाने की कोशिश की है। श्रद्धा बालिर बूढा लोक में एक बूढ़े की स्मृति के बीच जीवन को देखने की कोशिश है। मैं नहीं समझता कि अपनी तकलीफ के बावजूद मेरा रचनात्मक मन जीवन से विमुख हुआ है।

मैं एक दूसरी बात भी कहना चाहता था। मुझे लगता है एक महत्वपूर्ण मुद्दे को जल्दी से निपटाकर हम आगे चले गये। अभी हमने दूसरे अनुशासनों की बात की थी। मैं जानना चाहता हूं कि क्या एक कवि की हैसियत से अपने समय में हो रहे चिंतन से जुड़े रहना आवश्यक समझते हैं या आपको चिंतन से अथवा आलोचनात्मक लेखन से एलर्जी है।

एलर्जी मुझे कतई नहीं है, पर मैं यह मानता हूं कि कविता ज्ञान के बारे में नहीं है। ज्ञानी आदमी हो जाने का मतलब ही कवि हो जाना नहीं है। दूसरे क्षेत्रों में किये जाने वाले चिंतन से, कवि का जुड़ाव मेरे खयाल से गलत तो नहीं है। एक बात याद आ रही है। होलुब ने एक बार कहा कि माइक्रोस्कोप में स्लाइड देखना भी, उनके लिए एक रचनात्मक अनुभव रहा है। क्या यह एक अच्छी बात नहीं है? मैं समझता हूं, दूसरी चीजों ने कविता सिर्फ नष्ट ही नहीं की। और आलोचना तो हमारे युग और समय के लिए शायद अनिवार्य है।

आप व्यक्तिगत रूप से किन लेखकों से अधिक प्रभावित हैं? क्या आप गद्य भी लिखते हैं।

मैं समझता हू कि मुझ पर सबसे गहरा प्रभाव हमारे यहां के भक्त कवियों का है। ये कवि हैं सारलादास और जगन्नाथदास। ये दोनों ऐसे कवि हैं जिन्होंने मानो मुझे मेरी भाषा दी है। मैं समझता हूं कि पश्चिमी लेखकों ने मेरे रचनात्मक व्यक्तित्व पर कोई निर्णायक प्रभाव नहीं डाला है। वैसे सार्त्र और कामू मेरे प्रिय लेखक हैं। मैं यह भरसक कोशिश करता हूं कि दुनिया के महत्वपूर्ण लेखकों की रचना से संपर्क बनाए रखूं।

किसी कवि की पहचान के लिए गद्य एक अच्छी कसौटी है। गद्य का अभ्यास कवि के लिए जरूरी है। गद्य में स्पष्टता होती है। मैंने अपने विचार

गद्य में व्यक्त किये है। ओड़िया और अंग्रेज़ी में। वेयरफुट इन टु रियलिटी नामक अपनी पुस्तक में मैंने आज की रचना और मनुष्य की नियति से संबंधित सवाल उठाये हैं। गद्य लेखन हमें बहुत सारे वृथा मोहों से मुक्त करता है। मेरे खयाल से यह आज के कवि की समग्र पहचान के लिए बड़ी हद तक आवश्यक है।
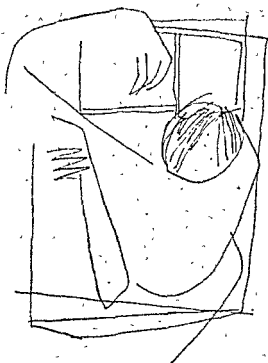
आलोचना के जोखिम

नामवरसिंह से केदारनाथ सिंह की पहली बातचीत

नामवरसिंह से अशोक वाजपेयी, सुदीप बनर्जी और
उदयप्रकाश की दूसरी बातचीत

नामवरसिंह से नेमिचंद्र जैन, विष्णु खरे, विजयमोहन सिंह
और उदयप्रकाश की तीसरी बातचीत

नामवर सिंह ने हिंदी में मार्क्सवादी आलोचना की कठमुल्लापन, यांत्रिकता, चीज़ों को सरलीकृत करके देखने की प्रवृत्ति से न केवल मुक्त करने बल्कि उसे पहले से कहीं अधिक परिपक्व, अधिक सूक्ष्म और अधिक समर्थ बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही है। उन्हें सही मायनों में मार्क्सवादी आलोचक कहा जा सकता है। वे पिछले कई सालों से दिल्ली में रह रहे हैं और आलोचना का संपादन कर रहे हैं। उनकी किताबों—इतिहास और आलोचना, कहानी : नयी कहानी, कविता के नए प्रतिमान—ने हर बार गंभीर बहस का सिल-सिला शुरू किया है।

●

केदारनाथ सिंह : अग्रणी प्रगतिशील कवि-लेखक। कविता संकलन अभी बिल्कुल अभी, ज़मीन पक रही है प्रकाशित; इनके आलोचनात्मक निबंधों का संकलन भी।

सुदीप बैनर्जी : महत्त्वपूर्ण कवि-लेखक। एक कविता संकलन शब गश्त प्रकाशित। नाटक किशनलाल शीघ्र प्रकाश्य।

उदयप्रकाश : आठवें दशक के महत्त्वपूर्ण युवा कवि-कथाकार-समीक्षक। कविता संकलन—सुनो कारीगर प्रकाशित। कहानी संकलन टेपचू शीघ्र प्रकाश्य। इन दिनों पूर्वग्रह में सह-संपादक।

विष्णु खरे : सातवें दशक में उभरकर आने और प्रायः चर्चा में रहनेवाली काव्य प्रतिभा। बीस कविताएं (पहचान सीरीज़), खुद अपनी आंख से (कविता संकलन), यह चाकू समय (हंगारी कवि अंतिला योजेफ़ की कविताओं का अनुवाद) प्रकाशित।

विजयमोहन सिंह : महत्त्वपूर्ण आलोचक। प्रायः सभी महत्त्व की पत्रिकाओं में समीक्षात्मक टिप्पणियां प्रकाशित।

पहली बातचीत

□□

केदारनाथ सिंह : 'कविता के नये प्रतिमान' में जिसका प्रकाशन आज से कोई १३ साल पहले हुआ था—आपने समकालीन कविता की आलोचना के संदर्भ में कुछ नये मान-मूल्यों का प्रस्ताव किया था। क्या आप अनुभव करते हैं कि इतने वर्षों बाद उनमें जोड़ने या घटाने की आवश्यकता है ?

कविता के नये प्रतिमान एक निश्चित ऐतिहासिक आवश्यकता की उपज हैं। उसका एक निश्चित ऐतिहासिक संदर्भ है। वह संदर्भ है सन् ६७-६८ का। कुछ आगे-पीछे कई कविता-संग्रह एक साथ आये थे। रघुवीर सहाय का 'आत्महत्या के विरुद्ध' श्रीकांत वर्मा का 'माया दर्पण', चाहें तो विजयदेव नारायण साही के 'मछलीघर' को भी गिन लीजिये। धूमिल का कोई कविता-संग्रह तो नहीं आया था, लेकिन ऐसी कविताएं तो प्रकाशित हो ही गयी थी, जिनसे एक नये तेवर वाली प्रतिभा का अहसास होने लगा था। आज शायद हम इन सबको इतनी बडी घटना न मानें। लेकिन तुरत बीते पाच छह वर्षों की पृष्ठभूमि में देखें तो हिंदी कविता की दुनिया में यह एक स्फूर्तिप्रद घटना थी। आत्मपरक नयी कविता दम तोड़ चुकी थी। अकविता की चीख-पुकार उस सन्नाटे को तोड़ने के बजाय और गहरा कर रही थी। कई समझदार कवि चुप थे यानी समा कुछ ऐसा था कि दादुर बोल रहे थे और गहे कोकिला मौन।

मुक्तिबोध की कविताओं का पहला संग्रह चांद का मुंह टेढ़ा है इसी बीच आया। मुक्तिबोध की मृत्यु पर व्यक्त की गयी सहानुभूतियों की बाढ में वे कविताएं डूब गयी—ऐसी डूबी कि काफी समय तक उन पर चर्चा ही नहीं हुई। ऐसे ही समय तार सप्तक की द्वितीय आवृत्ति हुई—इतिहास के एक कालचक्र के पूरा होने की घोषणा करती हुई।

उस समय की काव्य-चर्चा को याद करें तो अब भी आचार्यगण नयी कविता

को रस के पैमाने से नाप रहे थे और अकविता वाले कविता को लेकर हुल्लड़ मचाये हुए थे। नयी कविता किसिम-किसिम की कविता की अराजकता को लेकर हलकान हो रही थी। प्रगतिशील मेमे मे न तो रचना की दिशा मे कोई उत्तेजक गतिविधि थी और न आलोचना की दिशा मे ही।

कविता के नये प्रतिमान का लेखन इसी माहौल मे हुआ। निश्चय ही उस पर कुछ तात्कालिक और स्थानिक दबाव थे। आज उन्हें साफ देखा जा सकता है। बावजूद इस तात्कालिकता के, वृहत्तर परिप्रेक्ष्य स्पष्ट है। एक तो हिंदी के औसत पाठक के उस काव्यगत पूर्वग्रह या संस्कार को तोड़ना था जिसके चलते नयी कविता के अनेक नये सर्जनात्मक प्रयास पूरी तरह ग्राह्य नहीं हो रहे थे; दूसरे इससे भी आगे बढ़कर उन लम्बी कविताओं की ग्राह्यता के लिए पृष्ठभूमि तैयार करनी थी जिनमे कवि का जटिल आत्मसंघर्ष और वस्तुगत संघर्ष था। इस मूल लक्ष्य की पूर्ति मे प्रसंगवश काव्य-विश्लेषण और मूल्यांकन संबंधी अनेक धारणाओं का विश्लेषण किया गया है जिन्हे इस समय संक्षेप मे प्रस्तुत करना न तो संभव है और न आवश्यक ही।

जहा तक उस पुस्तक मे कुछ जोड़ने या घटाने का सवाल है, उसके बारे मे आज इतना ही कह सकता हूं कि वह अब एक ऐतिहासिक दस्तावेज हो चुका है। इसलिए उसमें से कुछ घटाने की बात तो मेरे हाथ में रही नही। जोड़ने का सवाल जरूर बचा रहता है; और यह बात मेरे मन में उस समय भी थी जब पुस्तक प्रेस मे गयी। अंतिम अध्याय परिवेश और मूल्य को आप देखें तो उस का अंत abrupt लगेगा। जहा तक मुझे याद है, काव्य-मूल्य की चर्चा शुरू होने के साथ ही पुस्तक समाप्त हो जाती है। इस प्रसंग मे विचारधारा का उल्लेख-मात्र है। विचारधारा और काव्यानुभव का रिश्ता बहुत पेचीदा है और यह सवाल भी बहुत बड़ा है। निश्चय ही यह अहम् भी है। लेकिन उस समस्या को उठाने का मतलब था एक और पुस्तक लिखना। इरादा तो यही था कि कविता के नये प्रतिमान के तुरंत बाद ही उस सिलसिले को आगे बढाऊंगा, लेकिन परिस्थितिवश बात टलती चली गयी।

इधर तीन-चार वर्षों से हिंदी कविता की दुनिया मे फिर कुछ सर्जनात्मक गतिविधि बढ़ी है तो कविता पर नये सिरे से सोचने की जरूरत महसूस हो रही है। कुछ युवा कवियों की कच्ची गंध वाली कविताओं के आलोक में नागार्जुन, त्रिलोचन आदि ठेठ भारतीय कवियों की रचनाओं का सिंहावलोकन करता हूं तो लगता है कि ये कविताएं काव्य-चिंतन के एक अन्य ढांचे की अपेक्षा रखती हैं। मुक्तिबोध-केन्द्रित कविता के नये प्रतिमान से यह ढांचा निश्चय ही भिन्न होगा। संभव है, इस क्रम मे कविता और राजनीति के रिश्ते पर नये सिरे से विचार करना पड़े और इस प्रकार पूर्ववर्ती ढांचे की सीमा से छूटी हुई अन्य

प्रकार की कविताओं पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत हो।

के० ना० सिंह : अभी आपने ठेठ भारतीय कवियों की चर्चा की। मुझे याद आता है कि आपने भारतीय उपन्यास को पश्चिमी उपन्यास से अलग करते हुए उसे 'किसान जीवन की महागाथा' कहा है। इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए यदि हिंदी कविता की मुख्य धारा पर विचार करें तो क्या नतीजे निकलेंगे ?

आपने बहुत महत्वपूर्ण बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। उपन्यास की चर्चा करते हुए मेरे ध्यान में कविता न थी, लेकिन कविता के बिना जातीय परंपरा का वह ढांचा पूरा ही नहीं होता। राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष के जिस व्यापक जन-उभार ने प्रेमचंद के माध्यम से उपन्यास का जातीय स्वरूप निर्मित किया, उसी ने निराला जैसे कवि के माध्यम से हिंदी की जातीय रोमांटिक कविता का स्वरूप भी प्रस्तुत किया। इस क्रम में आगे चलकर जिन कवियों ने पश्चिम के आधुनिकतावादी प्रभाव से अपने आप को बचाते हुए हिंदी कविता की जातीय परंपरा को सुरक्षित रखा और उसे जन-जीवन से जोड़ते हुए विकसित किया, उनमें निश्चय ही मुक्तिबोध के अलावा नागार्जुन और त्रिलोचन जैसे कवियों का विशेष रूप से उल्लेख किया जायेगा और मेरे विचार से हिंदी कविता की मुख्य धारा यही है।

के० ना० सिंह : कई बार कहा जाता है कि मार्क्सवादी आलोचना ने आलोचना के जिन औजारों को विकसित किया है, वे कविता के मूल्यांकन के लिए अपर्याप्त हैं। इस संबंध में आप क्या सोचते हैं ?

यूरोप में मार्क्सवादी आलोचकों ने अपना ध्यान उपन्यासों की समीक्षा पर ही केंद्रित किया, पर विचित्र बात है कि हिंदी में इसके ठीक विपरीत मार्क्सवादी आलोचना ने कविता पर ही ज्यादा ध्यान दिया। यदि डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचनाओं को देखें तो निराला, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध और यहां तक कि अज्ञेय की कविताओं पर ही उन्होंने विस्तार से लिखा है। इसलिए यह कहना अतिकथन न होगा कि हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना मुख्यतः काव्य-समीक्षा है। इसकी पर्याप्तता और अपर्याप्तता की जांच तो तभी हो सकती है, जब उन कवियों पर गैर-मार्क्सवादियों द्वारा लिखी गयी बेहतर समीक्षाएं सामने हों।

के० ना० सिंह : यहां एक सहज जिज्ञासा यह हो सकती है कि आपने जिस मार्क्सवादी समीक्षा का जिक्र अभी किया है क्या उसके सारे औजार मार्क्सवादी हैं ? मुझे 'कविता के नये प्रतिमान' का

ध्यान इस संदर्भ में खास तौर से आ रहा है ?

इस सवाल के पीछे शायद यह धारणा है कि मार्क्सवादी आलोचना एकदम अपने बनाये हुए नये औजारों का पिटारा है, जिसे हजारों साल के साहित्य चिंतन की परम्परा से कुछ भी नहीं लेना है। क्रांति के बाद सोवियत रूस में प्रोलित-कुल्त नामक गिरोह के लेखकों का कुछ ऐसा ही विश्वास था। यह समझ कितनी भ्रामक है, इसे कहने की जरूरत अब नहीं रही। मार्क्सवादी आलोचना परंपरा से प्राप्त होने वाले अनेक आलोचनात्मक औजारों या अवधारणाओं को लेकर ही विकसित हुई है। काव्य-चिंतन के क्रम में पहले के भाववादी और रूपवादी विचारकों ने जिन कलागत अवधारणाओं का निर्माण किया है, वे सबके सब त्याज्य और व्यर्थ नहीं है। मेरी बात छोड़ भी दें तो स्वयं डॉक्टर रामविलास शर्मा ने निराला की काव्य कला का विश्लेषण करते हुए वक्तृत्व कला, स्वगत संवाद, स्थापत्य, प्रतीक-बिम्ब आदि जिन अवधारणाओं का उपयोग किया है वे सबकी सब मार्क्सवाद की निर्मिति नहीं हैं। महत्वपूर्ण है ऐसी रूपवादी अव-धारणाओं के इस्तेमाल का ढंग यानी वह समग्र पद्धति जिसके अंदर इनका इस्तेमाल किया जाता है। इस प्रसंग में निश्चय ही रूप और अंतर्वस्तु, जिसमें विश्वदृष्टि और भावबोध भी शामिल है, के संबंध की समझ निर्णायक भूमिका अदा करती है और यही मार्क्सवादी आलोचना का वैशिष्ट्य दिखायी पड़ता है।

के० ना० सिंह : क्या आप ऐसा मानते हैं कि भारत में मार्क्सवादी चिंतन के समग्र विकास के अभाव में केवल मार्क्सवादी आलोचना या मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का विकास किया जा सकता है ?

प्रश्न में यह धारणा निहित है कि भारत में मार्क्सवादी चिंतन का समग्र विकास नहीं हुआ है। मैं नहीं के स्थान पर अपेक्षाकृत कम शब्द का प्रयोग करना चाहूंगा यानी, सोवियत संघ, चीन, यूरोप, अमेरिका और अंशतः लैटिन अमे-रिका की तुलना में। इसके अनेक कारण है, जिनके ब्योरे में जाने के लिए इस समय अवकाश नहीं है। किंतु भारत में एक क्षेत्र में मार्क्सवादी विचारकों ने निश्चित रूप से नये सर्जनात्मक प्रयास किये हैं, वह है इतिहास—भारतीय इति-हास का क्षेत्र। मेरे विचार से मार्क्सवादी आलोचना का विकास इस ऐतिहा-सिक अनुसंधान से बहुत दूर तक जुड़ा हुआ है। इसलिए भारत के मार्क्सवादी इतिहासकारों के समान ही मार्क्सवादी आलोचकों ने भी साहित्य के इतिहास लेखन में तथा अपनी परंपरा के मूल्यांकन के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है।

जहां तक साहित्यिक आलोचना के सैद्धांतिक पक्ष के विकास का प्रश्न है, वह स्पष्टतः सौंदर्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र से संबद्ध है जिसके विकास के लिए

दार्शनिक आधार की अपेक्षा है। भारत मे जब तक दर्शन के स्तर पर मार्क्सवाद का विकास नही होता, मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र और मार्क्सवादी साहित्यशास्त्र के विकास मे हम भारतीय लेखक विशेष योगदान न दे सकेंगे। यह तो निर्विवाद है कि भारत में दर्शन और साहित्यशास्त्र दोनों की समृद्ध परंपरा है लेकिन मार्क्सवादी विचारक अपनी उस निधि का समुचित उपयोग नहीं कर सके हैं। सच कहें तो मार्क्सवादी अभी तक हमारी उस विशाल चिंतन परंपरा का सहज अंग बन ही नहीं सका। जरूरी नही कि भारत के मार्क्सवादी साहित्य-चिंतक अपने दार्शनिक अध्येताओं के आसरे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें, सीधे साहित्य-शास्त्र के अदर भी मार्क्सवादी दृष्टि का विकास किया जा सकता है। आखिर जार्ज लुकाच ने यही तो किया।

के० ना० सिंह : एक आलोचक की हैसियत से आपका संघर्ष दो स्तरों पर चलता रहा है—प्रतिक्रियावाद के विरुद्ध और स्वयं वामपंथी आलोचनाओं की अतिवादिताओं के विरुद्ध। कुछ लोगों को आपके इस दोहरे संघर्ष में एक अंतर्विरोध दिखायी पड़ता है। क्या आप इस संदर्भ में कुछ कहना चाहेंगे ?

मेरे इस दुहरे संघर्ष में अंतर्विरोध उन्हें ही दिखायी पड़ता है जो साहित्य मे या तो शुद्ध कलावादी हैं या फिर अति वामपंथी। इस प्रसंग मे मुक्तिबोध का जिक्र करूं तो उनका भी संघर्ष इसी तरह दुहरा था। एक ओर नयी कविता के अंदर बढ़ने वाली जड़ीभूत सौंदर्यानुभूति का विरोध और दूसरी ओर मार्क्सवादी आलोचना में प्रक्षिप्त स्थूल समाजशास्त्रीयता का विरोध। मुझे ऐसा लगा है कि एक से लड़ने के लिए दूसरे से लड़ना जरूरी है। दरअसल यह एक ही संघर्ष के दो पहलू हैं। यह जरूर है कि हमेशा यह दुहरा संघर्ष साथ-साथ नही चल सकता। मसलन इतिहास और आलोचना के लेखो मे रूपवाद या कलावाद का विरोध ज्यादा है, क्योंकि उस दौर की ऐतिहासिक आवश्यकता यही थी। आगे चलकर यदि उसकी उपेक्षा की गयी और अति वामपंथी प्रवृत्ति की आलोचना की ओर विशेष ध्यान दिया गया तो स्पष्ट है कि मेरी नजर में साहित्यिक वातावरण बदल चुका था।

आलोचना का जो अंक मैंने प्रगतिशील लेखन पर विस्तृत परिचर्चा के साथ निकाला था उसमे मैंने इसी दृष्टि से अंधलोकवाद की कड़ी आलोचना की क्योंकि मुझे इधर की मार्क्सवादी आलोचना मे यह प्रवृत्ति बढ़ती हुई दिखायी पड़ी। अब इधर महसूस कर रहा हूं कि पिटा हुआ कलावाद हिंदी मे फिर सिर उठा रहा है और नये तेवर के साथ सामने आ रहा है। निश्चय ही देर-सबेर इससे निपटना होगा।

□□

नामवर जी एक दिन पहले ही वियतनाम से लौटे थे। सफर की थकान और नींद की गर्द उनके चेहरे पर नहीं थी। केदारनाथ सिंह कहते हैं, नामवर जी का चेहरा किसान चेहरा है। लगा उस किसान चेहरे में इस वक्त अपने सिवान की फसल देख कर लौटने का रंग है।

डी-८, चौहत्तर बंगले के सबसे किनारे वाले कमरे में बातें शुरू हुई। उस कमरे में किताबें ही किताबें हैं। इधर-उधर बिखरी हुई भी और करीने से रैक पर रखी हुई भी। जूट की कालीन का आभास देता फर्श पर मैट, चौकोर गद्दे और वैसे ही कुशन।···बाहर, फाटक के पास एक अकेला खजूर का पेड़ है जो बीच-बीच में हवा की दिशा में अपने डैने फड़फड़ा देता है। बहुत अकेला, सबसे अलग और बेचैन। अभी भी, जब हम उस घर का नंबर भूल जाते हैं तो उस खजूर को खोजते हैं। इतना अकेला पेड़ उदास करता होगा आसपास को।

नामवर जी के सामने तश्तरी में पान के बीड़े रखे हैं। तश्तरी में शायद जंगली हाथी है। बनारस जैसे बीड़े नहीं हैं ये। भोपाल में बाबा छाप जाफ-रानी का नब्बे नंबर नहीं मिलता। कत्थे का भी वैसा रिवाज नहीं। लंका की टेकरी दूध का पकाया और राख से सोखा हुआ केवड़े की खुशबू वाला चिकना कत्था पान में लगाया जाता है।···बदले हुए जायके से उन्हें दिक्कत जरूर हो रही होगी।

"तो, शुरू करो अशोक···" नामवर जी कहते हैं। बहुत कम हंसा करते हैं वे इस तरह। आचार्य द्विवेदी इस डीलडौल की मेधा की तारीफ़ करते थे।

बाहर, गलियारे में बेंत की कुर्सियों पर इस वक्त गौरइयों का खेल है। उन्हें हमारी बहुत फिक्र नहीं है। हमने बाद में सुना, कैसेट में उनकी आवाजें भी आ गयी थीं, जिन्हें ताली बजा कर उड़ा देना मुश्किल था।

"तो···हम शुरू करते हैं यहीं से। एक प्रश्नावली बना रखी है। सिल-सिलेवार···व्यवस्थित क्रम में सवाल पूछने हैं। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता-कहानी···मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का विकास···और आलोचना, आज की···पहले की भी···समकालीन लेखन···।"

पिछले दस-बारह वर्षों से नामवर जी इतना मुक्त होकर नहीं बोल सके थे। उनकी आस्था अडिग है···पहले की ही तरह, तर्क अकाट्य हैं···पहले की ही तरह। विचार और व्याकरण का जैसा संतुलन उनके वाक्यों में है उससे ताज्जुब होता है, लगता है हर वाक्य वे पहले से गढ़ कर बोलते हैं, ठोक-बजाकर

परखे गये सटीक और निश्चित अर्थों वाले शब्द और उद्धरण। नामवर जी का गुस्सा भी बहुत मर्यादित और ठंडे व्यंग्य से सधा होता है। संदर्भ था—आज की मार्क्सवादी आलोचना की हालत। रमेशचंद्र शाह ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल को हिंदी आलोचना-चिंतन का मर्यादा पुरुषोत्तम और आचार्य द्विवेदी को लीला पुरुषोत्तम लिखा है। मर्यादा और लीला के राग और विवेक के साथ साढ़े तीन घंटे तक का सहकार विचारोत्तेजक था। आत्मीय भी।

शायद पहला प्रश्न प्रश्नावली में से पूछा गया था। उसके बाद वह व्यर्थ हो चुकी थी। उस तरह से उसकी जरूरत ही नहीं रही थी। या, शायद हम उसे भूल चुके थे। बातचीत शुरू होने के जरा देर बाद ही युवा कवि सुदीप बॅनर्जी आ गये थे।

''भोपाल में ऐसी ही बातचीत संभव हो पाती है'''यह शहर पुराना-पुराना सा लगता है।'' लौटते हुए नामवर जी ने कहा था, ''आप लोग यहीं बस जाइये।''

नामवर जी इतने मुक्त और आश्वस्त क्यों लग रहे थे, इसका पता बाद में चला, उन्होंने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की अपनी जिम्मेदारियों से एक साल तक के लिए छुटकारा पा लिया है। वे एक साल के अवकाश में हैं। आचार्य द्विवेदी पर उनकी किताब संभवतः इसी वर्ष आ जायेगी। इसके बाद सौंदर्यशास्त्र पर उनका काम।

मेधा फिर सक्रिय है। समकालीन आलोचना के हलके में यह निहायत छोटी-सी खबर बड़ी-से-बड़ी हलचल के लिए काफी है।

खजूर के पेड़ ने पूरब से आती हवा की तरफ अपने डैन खोले हैं।

'कहानी : नयी कहानी' मे नामवर जी ने एक शेर उद्धृत किया है

जो सुलझ जाती है गुत्थी
फिर से उलझाता हूं मैं।

हमारी बातचीत शुरू हो गयी है'''।

आपकी पहली किताब 'इतिहास और आलोचना' के बाद 'कहानी : नयी कहानी' तक में आपकी वैचारिक स्थिति में विचलन हुआ है जो साफ दिखायी देता है।—क्या यह ठीक है?

नहीं। एक तो **इतिहास और आलोचना** मेरी पहली आलोचनात्मक पुस्तक नहीं है। वह तीसरी पुस्तक है। कुछ निबंध उसमे निश्चय ही पहले के हैं, यानी सन् ५२-५३ के। इस पुस्तक के तीसरे संस्करण की भूमिका में मैं लिख चुका हूं कि आज के कुछ मार्क्सवादी आलोचकों द्वारा सराहे जाने के बावजूद उस पुस्तक के कुछ निबंधों में वैचारिक दृष्टि से अति सरलीकरण है और यांत्रिकता

भी। इसलिए जिसे आप विचलन कह रहे हैं उसे मैं विकास कहना पसंद करूंगा।

> उदय प्रकाश : लेकिन 'कहानी : नयी कहानी' में भी आपने अपनी व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में जिन कहानीकारों की कहानी पर अधिक जोर दिया है वह निर्मल वर्मा और रघुवीर सहाय आदि हैं जबकि इसी दौर में अपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील दृष्टि-संपन्न कहानीकार अमरकांत, शेखर जोशी, मार्कण्डेय कहानियां लिख रहे थे।

लेकिन कहानी : नयी कहानी के कुछ निबंध इतिहास और आलोचना काल के ही हैं। उस दौर में मैंने निर्मल के साथ अमरकांत की कहानियों की भी प्रशंसा की थी। मेरा खयाल है कि उस दौर मे निर्मल वर्मा प्रगतिशील आंदोलन मे न तो अलग थे और न विरुद्ध ही।

> उ० प्र० : शायद निर्मल वर्मा की कहानियों के बारे में आपकी तात्कालिक मूल्यांकन संबंधी धारणाओं में कोई अंतर आया है जिसे आपने 'परिवेश' के अपने साक्षात्कार में व्यक्त किया है।

हां, निर्मल वर्मा के परवर्ती विकास के बारे मे निश्चय ही मेरी धारणाओं में परिवर्तन हुआ है लेकिन वह अलग चर्चा का विषय हो सकता है। उस पर कभी मैं विस्तार से लिखना चाहूंगा। यहां मुख्य प्रश्न है इतिहास और आलोचना के बाद मेरी दृष्टि मे आये हुए तथाकथित परिवर्तन का। मोटे तौर से यह सन् ५६ के बाद का समय है जब कुछ लोगों के अनुसार मुझमे मार्क्सवाद से हटने और रूपवाद की ओर झुकने के लक्षण दिखायी पड़ते हैं। तथ्य यह है कि इस दौर मे मैं मार्क्सवाद और कम्युनिस्ट पार्टी के ज्यादा निकट आया।

> उ० प्र० : आपसे बातचीत के दौरान हर बार ५६ का जिक्र आता है। मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र, आलोचना या स्वयं आपके विचारों में होने वाले परिवर्तनों के लिहाज से इस सन् का क्या महत्व है? इस बातचीत में तो लगने लगा है जैसे १९५६ काल की कोई विभाजक रेखा है…।

१९५६ एक महत्वपूर्ण वर्ष है। इस वर्ष सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की २०वीं कांग्रेस हुई थी जिसमे स्तालिनवाद को ध्वस्त करने की दिशा में कदम उठाया गया। १९५६ के बाद स्तालिनवाद की सीमाओं से निकल कर मार्क्स-वाद के बारे मे जो नयी समझ उभरी उसने व्यापक रूप से राजनैतिक क्षेत्र के

अलावा सांस्कृतिक, साहित्यिक क्षेत्र में भी प्रभाव डाला। साहित्य और कला की समीक्षा में पहले वाला यांत्रिक दृष्टिकोण नही रहा। इस परिवर्तन का प्रभाव औरो के साथ मुझ पर भी पड़ा।

उ० प्र० : लेकिन १९५६ में ही एक और घटना घटी थी। हंगरी में सोवियत संघ की सेना का हस्तक्षेप। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उस वक्त भी कुछ बुद्धिजीवियों का मार्क्सवाद या समाजवाद से वैसा ही मोहभंग हुआ था जैसा अभी चेकोस्लोवाकिया की घटना से हुआ। कहीं आप भी तो उसी मोहभंग के अंग नहीं थे? फिर प्रगतिशील कवियों में से भी कई ने, नेमिजी ने, जो 'तारसप्तक' में थे, अपनी आस्था मार्क्सवाद के प्रति डिनाउंस की। इस पूरे माहौल में संभव है आप में विचलन हुआ हो और कविता के नये प्रतिमान में या आपके विचारों में उसका प्रभाव रहा हो।

मैं मोहभंग नही कहूंगा। मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूं कि १९५६ तक जिस तरह की मार्क्सवादी आलोचना लिखी गयी चाहे वह सोवियत संघ मे हो, पश्चिमी यूरोप के देशों में हो, चाहे अन्यत्र, वह बहुत ही यान्त्रिक, **स्कैमेटिक** और एक कट्टरपंथी राजनीतिक दृष्टि से परिचालित थी और आज यह माना जाने लगा है कि इस दौर की साहित्यिक आलोचनाएं मार्क्सवाद की बहुत उथली और कच्ची समझ का परिणाम थी। १९५६ के बाद साहित्य और समाज, साहित्य और राजनीति के संबंधों की जटिलता का अहसास हुआ और उसकी गहराई में जाने की कोशिश शुरू हुई। मेरी आलोचना-दृष्टि को इसी परिवर्तित संदर्भ मे देखा जाना चाहिये। यह परिवर्तन मेरे अग्रणी मार्क्सवादी आलोचक **डॉ० रामविलास शर्मा** मे भी देखा जा सकता है। इस दौर की उनकी पहली महत्वपूर्ण पुस्तक है **आस्था और सौंदर्य**। इस पुस्तक की एक महत्वपूर्ण स्थापना है कि **साहित्य और ललित कलाओं को विचार प्रणाली के अदर गिनना सही नहीं है**। १९५६ के बाद की स्थितियों मे ही यह संभव था कि मार्क्सवादी रामविलास शर्मा स्वयं **मार्क्स** को चुनौती दें और कहें कि मार्क्स की यह स्थापना सही नहीं है कि साहित्य और कलाएं विचार प्रणाली या **आइडियालॉजी** के अंतर्गत है। दूसरा उदाहरण लीजिये—**जार्ज लुकाच** की पुस्तक **दि मीनिंग ऑव कण्टेम्पोरेरी रियलिज्म**। यह पुस्तक भी सन् ५६ के ठीक बाद की है। इसमे स्तालिन कालीन **समाजवादी यथार्थवाद** के लिए सराहे जाने वाले उपन्यासो की कड़ी आलोचना है। इसके साथ ही **लुकाच रूसकाया** के एक पत्र का हवाला देते हुए यह भी सूचित करते हैं कि **लेनिन का पार्टी संगठन और साहित्य** शीर्षक प्रसिद्ध लेख सर्जनात्मक साहित्य को दिशा निर्देश देने के लिए नही लिखा

गया था। मेरी आलोचना को मार्क्सवाद से विचलित कहने वाले निश्चय ही इस इतिहास से या तो अनभिज्ञ हैं या फिर वे जानबूझकर इसे नजरअन्दाज करते हैं। वैसे यदि मेरी पुस्तक **इतिहास और आलोचना** को ध्यान से देखें तो उसमें भी अनेक जगहों पर यान्त्रिकता से बचने की एक कोशिश —एक छटपटाहट दिखायी पड़ेगी। यही प्रवृत्ति आपको सन् ५६ से पहले की छपी मेरी दो अन्य पुस्तकों—**छायावाद** और **आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां** में भी मिलेगी।

> **सुदीप बॅनर्जी : लूनाचार्स्की तो ५६ के पहले ही सब-कुछ लिख चुके थे। क्या आप उनके लेखन को भी कठमुल्ला कहेंगे ? जबकि सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से भी मैं नहीं सोचता कि लूनाचार्स्की ने जितनी बातें कही हैं, उसके बाद की मार्क्सवादी आलोचना में उसमें कोई बहुत ज्यादा विकास हुआ हो।**

लूनाचर्स्की स्तालिन के नहीं लेनिन के संस्कृति मंत्री थे। उनकी साहित्यिक आलोचनाएं भी स्तालिनवादी प्रभुत्व के पहले की हैं। लेकिन उनके अधिकांश लेख हमें उस समय सुलभ कहां थे ? वे तो सन् ५६ के बाद ही सुलभ हुए।

> **सु० बॅ० : लेकिन १९५६ तक तो बहुत सी पुस्तकें, मार्क्सवादी आलोचना की, आ चुकी थीं। कॉडवेल, प्लेखानोव, फंकल्स्टीन··· कई नाम हैं ? बहुत काम हो···**

जिस प्लेखानोव को आप यांत्रिकता और कठमुल्लापन से मुक्त समझते हैं उन्होंने तो तोल्सतोय को जमींदारों की दुनिया के इतिहासकार के रूप में देखा था। प्लेखानोव की यह समझ कितनी सकीर्ण थी। इसे लेनिन के तोल्सतोय सम्बन्धी लेखों के साथ रखकर देखने से स्पष्ट हो जायेगा। लेनिन की दृष्टि में तोल्सतोय रूस की बूर्ज्वा कृषक क्रांति के दर्पण थे और किसानों के प्रवक्ता। इसी तरह कॉडवेल भी अपनी उदार साहित्यिक दृष्टि के बावजूद साहित्य की सामाजिक व्याख्या करने में कम यांत्रिक न थे। इसका प्रमाण है **इल्यूजन एंड रियेलिटी** में दिया हुआ अंग्रेजी कविता का इतिहास। दरअसल यह सीमा स्तालिनकालीन मार्क्सवाद की सीमा थी। इससे कॉडवेल और राल्फ फॉक्स ही नहीं जार्ज लुकाच भी न बच सके।

> **उ० प्र० : और गोर्की ? एक बार आपने किसी सेमिनार में कहा था कि गोर्की ने जिस समाजवादी यथार्थवाद की बात की थी उसके प्रभाव में कृष्णचंदर आदि कई कहानीकारों ने फार्मूले और नारेबाजी की कहानियां लिखीं।**

समाजवादी यथार्थवाद नहीं, क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावाद अर्थात् रिवोल्यूशनरी रोमेंटिसिज्म। यह भारत में प्रगतिशील आन्दोलन के इतिहास का एक अंग है। शुरू के दिनों मे निश्चय ही गोर्की का ही बोलबाला था। लगभग सन् ५१-५२ तक। ५२ के बाद कहानीकार गोर्की से ज्यादा चेखोव की ओर आकृष्ट होने लगे थे। इस तथ्य के बावजूद कि लेनिन ने तोल्सतोय पर महत्वपूर्ण लेख लिखा था फिर भी लोगों का ध्यान तोल्सतोय की ओर नहीं गया। गोर्की के क्रांतिकारी स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव भारतीय कथा साहित्य पर एक हद तक दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जायेगा। लुकाच ने अपनी समकालीन यथार्थवाद वाली पुस्तक में इस क्रांतिकारी स्वच्छन्दतावाद की कमजोरियों का अच्छा विश्लेषण किया है, जिसे यहां दुहराना जरूरी नहीं है।

अशोक वाजपेयी : इससे मुझे यह लगा कि हिंदी में जो तथाकथित मार्क्सवादी आलोचना है, आप तो खुद ही उससे घनिष्ठ रूप से संबद्ध रहे हैं, उसमें वह कठमुल्लापन, यांत्रिकता, चीजों को सरलीकृत करके देखने की प्रवृत्ति थी। आप कह रहे हैं कि उसमें परिपक्वता आयी, आप में भी परिवर्तन आया, और भी बहुत से मार्क्सवादियों में आया, डॉ० रामविलास शर्मा में भी। अब सन् ७० के आसपास दुबारा जो ये नये मार्क्सवादी, मेरे हिसाब से तो ज्यादातर अपढ मार्क्सवादी आये, उनमें भी काफी मामलों में उसी तरह का कठमुल्लापन, उसी तरह की यांत्रिकता, उसी तरह की नारेबाजी है। तो मार्क्सवादी आलोचना का कुल ३० वर्ष में जो यह ह्रास हुआ, इस मामले में आप क्या कहना चाहेंगे?

इस संकीर्णता और कट्टरता का एक निश्चित राजनीतिक आधार है। अभी हाल के उग्रवादी राजनीतिक विस्फोट से इस साहित्यिक रुझान का सम्बन्ध देखा जा सकता है। इसे अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की उस प्रवृत्ति ने भी बढ़ावा मिला है जिसकी अभिव्यक्ति चीन में माओ की सांस्कृतिक क्रांति के रूप में हुई। इस प्रसंग में एक दिलचस्प बात का जिक्र करना चाहूंगा। माओ के येनान गोष्ठी के साहित्य और कला सम्बन्धी जो भाषण सन् ५१-५२ में हिंदी के प्रगतिशील आन्दोलन में पूर्ववर्त्ती कठमुल्लापन के विरुद्ध एक उदारवादी साहित्यिक दृष्टि के आधार पर संयुक्त मोर्चा बनाने में सहायक बने थे वही १९७० के आसपास नये उग्रवादियों के लिए कट्टरपंथ का घोषणापत्र बन गये।

सु० बं० : क्या मार्क्सवादी साहित्य के महत्त्वपूर्ण मोड़ों का राजनैतिक घटनाओं से इतना सीधा संबंध है?

भई ऐसा है कि जब कारण राजनीतिक है तो उनका उल्लेख भी जरूरी है। तेलंगाना क्रांति के दौर में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और शंकर शैलेंद्र ने बहुत क्रांतिकारी कविताएं लिखी। एक तरह से यह उपयोगी साहित्य है, तात्कालिक है। किन्तु उसकी सीमाएं हैं। केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन ने फिर वैसी कविताएं नही लिखी। नक्सलवादी आन्दोलन के आसपास कुछ नये लोगों की फिर वैसी ही कविताएं सामने आयीं और उन कविताओं के साथ वैसी ही आलोचनाएं भी लिखी गयीं। जो इस विचारधारा के नही थे उन पर भी इसका कुछ रंग चढा। उग्रता मे एक नशा तो होता ही है।

सु० वॅ० : क्या यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पार्टी लाइन से बंधे लेखकों का तो वह हश्र हुआ जिसका जिक्र हम कर रहे हैं पर मुक्तिबोध जैसे लेखक इस जकड़बंदी से मुक्त हो सके!

नही, यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिये। स्थिति यह है कि जिस दौर की हम चर्चा कर रहे है, उसमें व्यापक रूप से लेखकों को नियंत्रित, निर्धारित करने वाली राजनीतिक पार्टी कम्युनिस्ट पार्टी इस स्थिति मे थी ही नही कि वह साहित्य या कला के क्षेत्र में कोई लाइन दे सके। इसीलिए हम लोग इसकी जांच नही कर सकते कि उसका हस्तक्षेप घातक होता है या सहायक। वास्तविकता यह है कि अपनी समझ, अपनी दृष्टि के अनुसार लेखक और साहित्यकार रचना करते रहे हैं। आपने अच्छा किया कि इस पूरी चर्चा मे एक लेखक का नाम लिया जो छूटा ही जा रहा था। यानी मुक्तिबोध का। अध्ययन किया जाना चाहिये कि जिस मुक्तिबोध का बहुत गुणगान नये-नये लोग अलग-अलग ढंग मे कर रहे हैं, उनकी १९५१ के पहले की कविताएं कैसी थी? आज कुछ लोगो को मुक्तिबोध सशस्त्र क्रांति के ध्वजवाहक दिखायी पड़ रहे हैं तो कुछ को अस्तित्ववाद, रहस्यवाद आदि से प्रभावित। तार-सप्तक में मुक्तिबोध की एक कविता है पूंजीवादी समाज के प्रति। उसमे आवेगपूर्ण भाषा में तेरा नाश, तेरा ध्वंस आदि बातें कही गयी हैं। यह उस दौर की टिपिकल प्रगतिवादी उक्ति है। लेकिन मुक्तिबोध की बाद की कविताओं मे ऐसा कुछ न मिलेगा। इसके बावजूद बाद की कविताएं पूंजीवाद पर ज्यादा गहरी चोट करती हैं। यानी उनकी जीवन-दृष्टि ज्यादा तेज है, प्रखर है, गहरी काट करती है। इसलिए आप देखेंगे कि मुक्तिबोध की जीवन-दृष्टि जितनी परिपक्व होती गयी, उनकी कविताओं में काव्यात्मकता, कलात्मकता ज्यादा बढती गयी और ऐसा प्रत्यक्ष कथन कम होता गया। मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि से प्रभावित होकर लिखा जाने वाला जो तथाकथित जनवादी साहित्य है, उसके लिए मुक्तिबोध का यह परिवर्तन एक उत्कृष्ट उदाहरण हो सकता है। मेरे खयाल मे नये मार्क्सवादी मुक्तिबोध की

प्रगतिशील माने हुए भी साहित्यिक समझ में उनसे बहुत दूर हैं। इन्हें जैसे अपनी रचनाओं में, आलोचनाओं में बार-बार आस्था की स्पष्ट घोषणा करनी पड़ रही है। एक तरह से यह फैशन जाने जैसी बात है। प्रबुद्ध, प्रौढ़ लेखक के लिये इसकी जरूरत नहीं रह जाती कि वह जगह-जगह कहता चले कि देखो-देखो, मैं मार्क्सवादी हूं। यह भी जरूरत नहीं रह जाती कि वह जगह-जगह मार्क्स और लेनिन के उद्धरण देता रहे। १९५६ के पहले के लेखों को आप देखें तो कोई भी लेख मार्क्स, एंगिल्स, लेनिन, स्तालिन के उद्धरण बिना पूरा नहीं होता था। बाद में ये उद्धरण क्रमशः कम हुए। नामों का हवाला कम होता गया। यानी प्रमाणवाद कम हुआ। यह आत्मविश्वास एक प्रकार की परिपक्वता और बेहतर समझ का सूचक है। मुक्तिबोध में आपको जगह-जगह मार्क्स, लेनिन, माओ के उद्धरण नहीं मिलेंगे। इस दृष्टि से डॉ० रामविलास शर्मा के पहले के लेखों में और बाद के लेखों में भी अंतर दिखायी पड़ेगा। अपने बारे में इतना ही कह सकता हूं कि मैं पहले भी नाम जाप कम करता था, आप्त वचन कम उद्धृत करता था और बाद में भी कम ही किया है।

अ० वा० : लेकिन आज की बिल्कुल नयी पीढ़ी, जो ७० के आस-पास आयी है, उस पूरी पीढ़ी के बारे में अगर हम कहें कि वह मार्क्सवाद की उसी तरह की संकीर्णतावादी समझ या उसी तरह का कठमुल्लापन अख्तियार करती है, तो शायद यह बिल्कुल सही नहीं होगा। कुछ प्रवृत्तियां, कुछ लोग तो ऐसे होंगे ही जिन्होंने इतिहास से सबक लिया है। आपको ऐसे लोग नजर आते हैं या पूरी पीढ़ी ही इतिहास से सबक न लेकर उस प्रक्रिया से गुजरने को अभिशप्त है ही?

निश्चय ही ऐसे लोग हैं और वे कम नहीं हैं। लेकिन अपनी ओर से उनका नाम लेकर मैं उन्हें किसी धर्मसंकट में नहीं डालना चाहता।

अ० वा० : अच्छा, मैं एक और स्थापना करूं कि रचना के स्तर पर रचना और मार्क्सवादी आलोचना या चिंतन के बीच जो अंतर्विरोध पहले दौर में था, शायद इस दौर में और तीखा हो गया है। इस मायने में कि रचना के स्तर पर कविता और शायद कहानी में भी बहुत से लेखक ऐसे मिल जायेंगे, जो इतिहास से सबक लेकर 'प्रमाणवाद' और 'कठमुल्लेपन' से मुक्त रहकर और 'बिना मार्क्स से निपटे हुए २०वीं सदी में रहने का अर्थ संभव नहीं है' इसे मानते हुए रचना करते हैं और महत्वपूर्ण रचना करते हैं।

लेकिन जो आलोचना है, उसमें कठमुल्लापन, नारेबाजी और चीख-पुकार अधिक है। रचना के स्तर पर ऐसा तो नहीं कह सकते कि बिलकुल नहीं है लेकिन दोनों के बीच आज अंतर्विरोध अधिक स्पष्ट हैं। मैं तो आगे बढ़कर यह तक कहना चाहूंगा कि इस समय जो अपने-आप को नये-नये मार्क्सवादी कहने वाले लोग हैं वे अपनी समकालीन रचना की समझ को आगे बढ़ाने या उसका विश्लेषण करने में पहले वाले कठमुल्ले आलोचकों के भी मुकाबले कहीं ज्यादा असमर्थ हैं। अगर हम प्रगतिशील साहित्य की धारा और आलोचनात्मक साहित्य की धाराओं को विश्लेषण के लिए अलग-अलग मान लें तो यह लगेगा कि इतिहास से सबक रचना ने तो सीखा, आलोचना ने नहीं।

इस स्थापना से मैं सहमत नहीं हो सकता। इतिहास से सबक लेने वाले रचनाकार हैं, तो आलोचक भी हैं। आज मार्क्सवादी आलोचना निश्चय ही समृद्धतर है। साहित्य के कलात्मक विश्लेषण में भी और खास तौर से लेखक की विचारधारा के विश्लेषण में भी। आज किसी कृति में विचारों के प्रत्यक्ष कथन के अभाव में भी अंतर्निहित विचार को पकड़ने की क्षमता मार्क्सवादी आलोचना में अधिक है। इसका मतलब है कि आज मार्क्सवादी आलोचना के पास अधिक सूक्ष्म और सक्षम औजार हैं। इस बीच ये औजार विकसित हुए हैं।

अ० वा० : जो औजार विकसित करने की बात है, आलोचना दो तरह से औजार विकसित कर सकती है—एक तो यह कि हिंदी में प्रगतिशील आलोचना अपना विकास करते हुए समझ को अधिक परिपक्व बनाते हुए, अपनी विश्लेषण-क्षमता को अधिक सूक्ष्म और अधिक कारगर बनाये। इसके लिए अभी भी उसको साहित्य की अपनी समझ बढ़ाने के लिये ज्यादा कारगर और बारीक औजारों की जरूरत है। दूसरा यह—कि जिसे रूपवादी कलावादी आलोचना कहा जाता है, जिसने अपने औजार महीन और बारीक बनाने में ही ज्यादा ध्यान दिया है और इस तरह के औजार विकसित किये हैं, या तो मार्क्सवादी आलोचना इस रूपवादी चुनौती से ठीक से निपटने के लिए अपने भी औजार विकसित करे जिससे प्रगतिशील चिंतन कला की सूक्ष्मता, तनाव की सूक्ष्मता का सही विश्लेषण कर सके। इस चुनौती को स्वीकार करने का एक आंतरिक कारण है। आंतरिक रूप से आपने वह औजार विकसित किया। दूसरी बात यह कि प्रगतिशील लोग मानते रहे हैं कि यह जरूरी

नहीं है कि खुद अपने ही औजारों से हर बार लड़ा जाय। यह माना गया है कि दूसरे के औजारों से भी काम लिया जा सकता है। अब आप क्या मानेंगे ? प्रगतिशील आलोचना ने जो विकास किया, जहां तक वह पहुंची, उसके औजार किस प्रक्रिया में विकसित हुए ? यानी चुनौती के रूप में या एक आंतरिक आवश्यकता के रूप में, या दूसरे के औजारों को हथियाकर लड़ाई लड़ने के लिए ?

अंशतः दोनों बातें सही हैं। मार्क्सवादी आलोचना में विश्लेषण के औजारों का विकास आंतरिक आवश्यकता के रूप में भी हुआ है। उदाहरण के लिए—डॉ० रामविलास शर्मा की निराला की साहित्य साधना नाम की पुस्तक के दूसरे भाग में जो कला संबंधी विवेचन है, उसे देखें। निराला पर रामविलास जी पहले भी पुस्तक लिख चुके थे लेकिन पहले उन्होंने **राम की शक्तिपूजा** को उसका कथानक समझाकर छोड़ दिया था। **निराला की साहित्य साधना, (भाग-२)** में उन्हें जरूरत पड़ी कि **राम की शक्तिपूजा** का स्थापत्य बताना चाहिये। उन्होंने उस कविता का संरचनात्मक विश्लेषण विस्तार से किया है। अब कोई चाहे तो यह कह सकता है कि रामविलास जी दुश्मन के खेमे के सारे औजार छीन करके उसे लागू करने की कोशिश कर रहे हैं। लेकिन यह विश्लेषण निराला की कविता की आंतरिक आवश्यकता से उत्पन्न भी हो सकता है, जिसका अहसास शायद पहले इतनी शिद्दत से न हुआ हो।

दूसरी बात हम लोग यह कहते रहे हैं कि मार्क्सवादी आलोचना में अंतर्वस्तु और रूप की एकता और उसका द्वंद्वात्मक संबंध बहुत महत्वपूर्ण सिद्धांत है लेकिन अधिकांश आलोचना अंतर्वस्तु प्रधान होती थी और उसमें रूप पक्ष की उपेक्षा होती थी। फलतः रचना की रूप संबंधी समीक्षा के लिये मार्क्सवादी आलोचना की कोई बहुत समृद्ध परंपरा सुलभ नहीं हुई। तथाकथित नयी समीक्षा में जिस को लेकर मुझ पर आरोप लगाया जाता है, रूप के विश्लेषण संबंधी अनेक औजार थे जिनको मैंने लिया और मैं अब भी समझता हूं कि वह सही किया। यदि मार्क्स बूर्ज्वा और भाववादी हेगेल से डायलेक्टिक्स ले सकते हैं और इसमें कोई संकोच नहीं करते तो नये समीक्षकों की रूपगत अवधारणाओं को लेने में हमें क्यों संकोच हो ? महत्वपूर्ण यह है कि हम उनका उपयोग किस रूप में—किन मूल्यों की प्रणाली के ढांचे में करते हैं ? जैसे कोई प्रगतिशील रचनाकार अपने पूर्ववर्ती बूर्ज्वा रचनाकारों की टैकनीक अपने कथ्य के लिए ग्रहण करके पाप नहीं करता उसी प्रकार का अधिग्रहण आलोचक के लिए भी त्याज्य नहीं है। इस प्रकार की आंतरिक आवश्यकता और दुश्मन के प्रत्ययपरक औजार

छीनने में कोई विरोध नहीं है। मार्क्सवादी आलोचना में इन दोनों दृष्टियों से विकास हुआ।

> अ० वा० : कई बार लगता है कि रचना पर फैसला देने की अधीरता है—एक तरह का अहंकार। रचना के सामने आलोचक की विनम्रता क्या इधर कम नहीं हुई है ?

खतरा यह है कि रचना के प्रति विनम्रता की मांग पूजा और श्रद्धा भाव में भी बदल सकती है। इस बीच वैसे भी पाठकों और आलोचकों पर रचना का आतंक बढ़ता दिखायी पड़ रहा है। इसलिए बात केवल ग्रहणशीलता की करनी चाहिये—काव्यानुभव की ग्रहणशीलता की। लेकिन बात यहीं खत्म नहीं होती। आलोचना का काम—विश्लेषण और मूल्यांकन का काम फिर भी बच रहता है। इसके बिना प्रक्रिया पूरी नहीं होती। यह सही है कि शुरू से आक्रामक रुख लेकर किसी रचना के पास जाना गलत है। यह विनम्रता का दूसरा छोर है। निश्चय ही एक कृति विशेष पर ध्यान केंद्रित करना—उसकी अद्वितीयता को पहचानना जरूरी है।

> अ० वा० : यही नहीं, मेरा तो अपना यह अनुभव है कि 'पूर्वग्रह' का तो सारा आधार ही हमने यह बनाया था कि हम कृतियों पर ही विचार करेंगे।

इसकी कुछ जिम्मेदारी मार्क्सवादी आलोचना की अब तक की परंपरा पर भी है। मार्क्सवादी आलोचना मुख्यतः ऐतिहासिक आलोचना है। किसी युग या प्रवृत्ति के उद्भव, विकास और ह्रास के कारण—विश्लेषण में उसे अधिक सफलता मिली है—एक-एक कृति को लेकर सूक्ष्म विश्लेषण की ओर मार्क्सवादी आलोचकों ने कम ही ध्यान दिया है जैसा कि अंग्रेजी के नये समीक्षक करते रहे हैं।

> अ० वा० : ऐसा क्यों हुआ है कि हिंदी में मार्क्सवादी आलोचना प्रायः कृतियों या लेखकों के विशिष्ट विश्लेषण से दूर रही है—उसने अपने को धारणाओं, प्रवृत्तियों तक ही सीमित रखना श्रेयस्कर समझा है।

जरा और गहराई में जाने की जरूरत है। कृति विशेष की विस्तृत और ब्योरेवार अंतरंग समीक्षा आवश्यक तो है लेकिन किसी कृति की अपने आप में स्वतंत्र समीक्षा न संभव है, न उचित ही। लेकिन अन्य कृतियों का बृहत्तर संदर्भ, पूरे दौर-माहौल का समूचा संदर्भ किसी कृति के मूल्यांकन ही नहीं,

शुक्ल जी से चलकर उन तक पहुंचता ही। आचार्य द्विवेदी के बाद हिंदी आलोचना की प्रगतिशील परंपरा में मुझे एक ही उल्लेखनीय नाम दिखायी पड़ता है और वह है डॉ० रामविलास शर्मा का। मैंने उनसे भी बहुत कुछ सीखा है। यहां कि तक अपनी भूलों के द्वारा भी वे सही रास्ते पर आगे बढ़ने का संकेत देते हैं।

इन तीनों आलोचकों की परंपरा से जुड़ने के क्रम में ही मैं प्राचीन काव्य-शास्त्र की ओर बार-बार जाता रहा। और दिन पर दिन मैंने यह अनुभव किया कि अपने देश की यह महान् चिंतन परंपरा मार्क्सवादी आलोचना के लिए अक्षय संदर्भस्रोत है। आप मेरी पुस्तकों से इस भाव का कुछ आभास पा सकते हैं लेकिन अभी वह आभास-मात्र ही है, उस विरासत का पूरा उपयोग अभी होने को है।

अ० वा० : बाहर के ऐसे कौन-से आलोचक हैं, जिनका प्रभाव आप पर पड़ा? एक का नाम तो मुझे मालूम है।

तो जो मालूम है, सबसे पहले वही नाम—डॉ० एफ० आर० लीविस। वे मार्क्सवाद विरोधी हैं, यह जानते हुए भी मैं उनके आलोचक व्यक्तित्व से प्रभावित हूं। यह प्रभाव किस प्रकार का है, इसकी व्याख्या करने में कुछ समय लगेगा। इसलिए मैं इस प्रसंग को यहीं छोड़ता हूं। छोड़ता यों भी हूं कि आपको तो मालूम है। इस कारण मैं नये मार्क्सवादी आलोचकों के बीच काफी गलतफहमी का शिकार हुआ हूं। गलतफहमी ही नहीं, आक्रमण का भी। बहरहाल, यह काफी पेचीदा मामला है—यानी एक मार्क्सवाद-विरोधी से अपने आपको मार्क्सवादी समझने वाले का प्रभावित होना। शायद मुझे साहित्य के प्रति लीविस की एकनिष्ठ गंभीरता ने आकृष्ट किया जिसमें गहरा नैतिक बोध है, ठोस कृतियों पर सतत एकाग्र दृष्टि है, किसी प्रलोभन से भ्रष्ट न होने वाली अविचल निष्ठा है और है चौतरफा विरोधी वातावरण के बीच निरंतर संघर्ष करने वाला एक व्यक्तित्व।

इसके बाद तो यूरोप और इंग्लैंड के मार्क्सवादी आलोचकों की लंबी सूची है जिसे गिनाने में कुछ आत्म-दर्शन की भी बू आ सकती है और जो आप सहित बहुतों के लिए काफी परिचित भी है। लेकिन इसे मैं प्रभाव नहीं बल्कि **परंपरा** कहूंगा जो एक मार्क्सवादी आलोचक के नाते मुझे सहज ही अपने-आपसे जोड़ती है। यदि हिंदी में शुक्ल-द्विवेदी-शर्मा की आलोचनाएं मेरे लिए एक परंपरा की अहमियत रखती हैं तो दूसरी परंपरा पश्चिम की लगभग एक सदी से विकसित होने वाली मार्क्सवादी आलोचना है जो मेरा अमूल्य रिक्थ है। इसमें स्वयं मार्क्स-एँगिल्स-लेनिन के अलावा सबसे उल्लेखनीय नाम अंतो-

और भाववादी सीमाओं के।

मुक्तिबोध मे भी एक समग्र सौंदर्यशास्त्र के लिए प्रयास दिखायी पड़ेगा। लेकिन कुल मिलाकर एक ऐसी आलोचना पद्धति, जिसे साहित्य का सौंदर्यशास्त्र कहे, विकसित नही हुई। मुक्तिबोध भी नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र लिखते हुए 'सौंदर्यशास्त्र' शब्द का इस्तेमाल तो करते हैं लेकिन सौदर्यशास्त्र वहा अनुपस्थित ही रहता है। उनके अन्य आलोचनात्मक लेखों मे भी सौंदर्यशास्त्र शायद एक अमूर्त परिदृश्य के रूप मे ही रहता है, स्वयं उनके साहित्य-चिंतन से यह साफ नहीं होता कि कलाओं से उनका परिचय कितना व्यावहारिक है। यानी अभी तक ऐसे सौंदर्यशास्त्र का विकास नही हो सका है। संभव है इसकी जड़ें हमारे सांस्कृतिक जीवन मे हों जहा एक तरह का फ्रैगमेंटेशन-विखंडन आया है। हमारे यहा का जो इंटेलेक्चुअल या बुद्धिजीवी है उसमे भी साहित्यधर्मी लोग एक तरफ और कलाधर्मी लोग दूसरी तरफ है और उनके बीच वह वाछनीय आदान-प्रदान नही है। इसका प्रभाव हमारी आलोचना पर भी पड़ा है। विचित्र बात है कि जो लोग सौंदर्यशास्त्र पर सैद्धांतिक चिंतन करते हैं उनको ललित कलाओं का ज्ञान नहीं है और जिनको ललित कलाओं का व्यावहारिक ज्ञान है, अनुभव है, उनमें सैद्धांतिक दृष्टि से विचार करने की क्षमता ही नहीं है, भाषा नहीं है।

और यहां मैं यह कहूगा कि पूर्वग्रह की यह देन माननी चाहिये कि साहित्य के साथ-साथ ललित कलाओ के बारे मे भी लेख प्रकाशित करके पूर्वग्रह ने इस दिशा मे सचमुच ही सराहनीय काम किया है। पूर्वग्रह एक ऐसी पत्रिका के रूप मे उभरा है जहा साहित्य, संगीत, चित्र, नृत्य के बारे में समीक्षाएं साथ-साथ प्रकाशित होती हैं। यह भी कोशिश की गयी है कि ऐसे साहित्यचिंतन जो अन्य कलाओ के बारे मे भी सोचते-विचारते हैं, वे कलाएं जो हमारे सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न अंग है, उनकी समीक्षाएं भी सामने आएं। इस कारण हिंदी मे कुछ ऐसा वातावरण बना है जिससे नये लेखक अन्य ललित कलाओ की गतिविधियो में भी दिलचस्पी लेने लगे है। इस लिहाज से मैं स्वयं अपनी सीमा स्वीकार करता हू कि अन्य कलाओ के बारे मे मेरा व्यावहारिक परिचय नही के बराबर है।

अ० वा० : आपने पहले भी जिक्र किया है कि कुछ आलोचकों मे और शायद इसीलिए तो नहीं कि कुछ और रचनाकारों में भी एक नया कलावादी रुझान है। यह भी कहा गया है कि 'पूर्वग्रह' जो है वह भी नये 'कलावादियों' का राष्ट्रीय मच बना हुआ है। तो इस बारे में आप क्या सोचते हैं? क्या जैसी एक 'नयी प्रगति-

शीलता' है दृश्यपट पर, क्या उसके बरक्स कोई एक 'नया कलावाद' भी है ?

कुछ समय पहले तक मेरा खयाल था कि हिंदी में कलावादी रुझान निष्प्राण हो गया। सन् ६५ से ७५ के बीच के साहित्यिक दृश्यपट को याद कीजिये तो यही धारणा बनती है। यह वही समय है जब काव्य-चर्चा के केन्द्र से **अज्ञेय** हट गये और आ गये **मुक्तिबोध**। यह वही समय है जब **सीढ़ियों पर धूप में** के कवि **रघुवीर सहाय** ने आत्महत्या के विरुद्ध लिखा और धूमिल के रूप में एक नयी विद्रोही काव्य-प्रतिभा हिंदी जगत् पर छा गयी। इस बीच जीवन पर राजनीति का दबाव कुछ इतना बढ़ा और जन-असंतोष इतना भड़का कि कविता ही नहीं बल्कि पूरे साहित्य में कलावादी कायदे-कानून चरमरा कर टूट गये। **लेकिन इधर चार-पांच वर्षों से देख रहा हूं कि कलावादी रुझान फिर सिर उठा रहा है—निस्सन्देह नयी शताब्दी के साथ और समग्र क्रांति की मुद्रा के साथ।** इस नये कलावाद के शास्त्रकार **निर्मल** जी हैं। उनकी नयी पुस्तक **कला का जोखिम** इस नये कलावाद का अनूठा दस्तावेज है। इस पुस्तक में **अज्ञेय संबंधी** लेख पूर्ववर्ती कलावाद से नये कलावाद के अंतर को स्पष्ट करता है; तो **जयप्रकाश नारायण** पर लिखा हुआ लेख—इस नये कलावाद की राजनीति को। **प्रेमचंद** जन्मशती समारोहों ने इस नये कलावाद को बेनकाब कर दिया और वह खुलकर अपने असली रूप में सामने आ गया। अपने पूर्वजों के समान ही नये कलावादी भी प्रेमचंद को नकार रहे हैं। इस मामले में मैं प्रेमचंद को कसौटी मानता हूं। अब आप इस प्रसंग में **पूर्वग्रह** की भूमिका स्वयं ही देख सकते हैं। **पूर्वग्रह** ने प्रेमचंद जन्मशती की नोटिस ही नहीं ली। इस ऐतिहासिक अवसर पर प्रेमचंद की उपेक्षा करके **पूर्वग्रह** ने कलावादियों की पंक्ति में अपने को खड़ा कर लिया। **पूर्वग्रह** की यह चुप्पी इसलिए और भी खलने वाली है कि **पूर्वग्रह** मुक्तिबोध के साहित्य और चिंतन का हिमायती बनता है। ऐसा करके **पूर्वग्रह** उस आरोप को पुष्ट कर रहा है कि वह तो मुक्तिबोध को केवल इस्तेमाल कर रहा है—मुख्य लक्ष्य है कलावादी रुझान को बढ़ावा देना। वैसे, यह एक संयोग भी हो सकता है, लेकिन तथ्य तो यही है कि **पूर्वग्रह** का प्रकाशन जब से शुरू हुआ है, नया कलावादी रुझान भी लगभग तभी से प्रकट हुआ है।

इसी बीच पुराने कलावादी भी जैसे धूल झाड़कर फिर खड़े हो गये। **अज्ञेय** ने इतने वर्षों के बाद **चौथा सप्तक** निकाला। यही नहीं **प्रतीक**, नया **प्रतीक** के रूप में फिर निकला। यह और बात है कि चला नहीं। इन कारंवाइयों का कोई असर नहीं हुआ तो अब **वत्सल निधि** की ओर से लेखक शिविर

हो रहे है। जहां, सुनते है, आधुनिकता पर फिर चर्चा उठाई गयी है—वही आधुनिकता जो अपने यहा छठे दशक मे शीतयुद्ध की विचारधारा के एक हथियार के रूप मे आयातित की गयी थी और जिसे काफी पहले दफन कर दिया गया। चर्चा के लिए ऐसी समस्याओ को चुनना जिनका संबंध न अपने सामाजिक जीवन से हो, न साहित्य-सृजन से, एक प्रकार का छलावा नहीं तो क्या है ? इस विषय मे मुझे तनिक भी संदेह नही है कि इन निरर्थक प्रयत्नों से आज की रचना का कुछ बिगड़ने वाला नही है लेकिन इसे एकदम अनदेखा तो नही किया जा सकता। व्यक्तिगत संबंधों के आधार पर नये-पुराने लेखकों को इकट्ठा करके एक कलावादी मच तैयार करने की कोशिश तो हो ही रही है।

पूर्वग्रह निश्चय ही ऐसे किसी प्रयास मे शामिल नही है—यह तो मैं देख ही रहा हूं। लेकिन पूर्वग्रह इस खतरे को किस रूप में और किस हद तक देख रहा है, इस ओर से मैं उतना आश्वस्त नहीं हूं।

एक बात जरूर है कि इस नये कलावादी रुझान की कुछ जिम्मेदारी तथाकथित नये जनवादी लेखकों पर भी है जो सीधे-सीधे राजनीतिक साहित्य की माग कर रहे है और साहित्यिक आलोचना के नाम पर राजनीतिक फतवे दे रहे है। पहले भी मार्क्सवादी आलोचना के अतिचार की प्रतिक्रिया में ही कलावाद उभरा था; और आज भी नये-नये आने वाले मार्क्सवादी अपने अतिचार के द्वारा एक नये प्रकार के कलावाद के लिए जमीन तैयार करने में योग दे रहे हैं।

लेकिन इस कलावादी उभार का मूल कारण यह नही है। मूल कारण तो हमारी आज की सामाजिक-राजनीतिक स्थिति मे ही है, जहां से इस प्रवृत्ति को खुराक मिल रही है। इसके लिए हमे आपात स्थिति से लेकर अब तक के पूरे राजनीतिक उतार-चढ़ाव का विश्लेषण करना होगा।

अ० वा० : नामवर जी, भाषा की संवेदना के बारे में कुछ कहना चाहेंगे ? इस अर्थ में कि दो तरह की बातें कही जाती रही हैं—हाल के लेखन में भाषा के प्रति एक तरह की लापरवाही का अंदाज है, ज्यादातर लेखकों में और दूसरी तरफ इसकी वजह से, जैसा कि निर्मल जी ने कहा है कि हिंदी गद्य का पतन हुआ—तो क्या यह आक्रमण सही है, दूसरे यह, कि हम इसका क्या कारण सोच सकते हैं ?

आपको शायद याद हो, आलोचना की भाषा पर मैंने भी एक परिसंवाद आयोजित किया था—आलोचना मे कई साल पहले; शायद सन् ६७ मे। आपने भी उसमें भाग लिया था। मैंने अपने संपादकीय मे आलोचना की भाषा मे गिरावट पर चिंता व्यक्त करते हुए उसकी प्रकृति और कारणों का विश्लेषण किया था।

जो भाषा की अवहेलना कर रहे हैं, उनसे पहले ऐसे लेखकों पर क्यो न

विचार करें जिन्हें भाषा की चिंता सबसे ज्यादा है, बल्कि भाषा की चिंता ही जिनकी सबसे बडी चिंता है। कितनी बडी विडंबना है कि जो भाषा के लिए सबसे ज्यादा चिंतित है, वही सबसे खराब गद्य लिखते है। स्वयं यह भाषा-चिंतन जिस तरह के गद्य में व्यक्त होता है वह अपठनीय होता है। यह एक तरह का रहस्यवाद है—भाषा का रहस्यवाद।

यह भाषा चिंता वस्तुत. आधुनिकता-बोध और आधुनिकतावाद का एक महत्वपूर्ण अंग है। हिंदी में जब से आधुनिकतावाद की हवा बही हे, यह भाषा चिंता भी बढी है। और जिस प्रकार इस आधुनिकतावाद का संबंध हिंदी की परंपरा से नही है, उसी तरह उन आधुनिकतावादियो का गद्य भी हिंदी की अपनी परंपरा से कटा हुआ है। एक तरह से यह छद्म आधुनिकता है, जिस पर अंग्रेजियत की गहरी छाप है। अंग्रेजियत की यह छाप उस गद्य पर भी है। हिंदी गद्य की जो जातीय प्रकृति है और जिसका निर्माण भारतेंदु ने किया है, उसके विपरीत आजादी के बाद जो प्रवृत्ति गद्य मे प्रबल दिखायी पडती है वह है, अंग्रेजियत की छाप वाला गद्य। अंग्रेजी ढंग के मुहावरे, अंग्रेजी ढंग के वाक्य-विन्यास। जो ठेठ हिंदी का ठाठ है, बोलचाल की भाषा के स्तर पर सीधा-सादा, सहज, साफ और दो-टूक बात करने वाला जो गद्य रहा है उसकी अपेक्षा अंग्रेजियत का गद्य प्रचुर रूप में आया है। बल्कि कविताओ मे भी ऐसा दिखायी पड़ेगा, सिर्फ रूपवादी, कलावादी, कवियो मे ही नही, वरन् बहुत से क्रांतिकारी और विद्रोही तेवर की बातें करने वाले कवियो मे भी अंग्रेजी की वही छाया दिखायी देती है। ज्यादातर कविताएं अनुवाद मालूम होती हैं। कविताओं मे कभी-कभी यह कृत्रिमता छिप भी जाती है लेकिन गद्य मे साफ उभर कर सामने आ जाती है। आजादी के बाद हिंदी की अपनी जातीय परंपरा से कटी हुई बनावटी भाषा का बडा विस्तार हुआ है और साहित्य मे ऐसी भाषा के निर्माण में परिमलियों का बहुत बड़ा योगदान है। अज्ञेय जी का भी अधिकांश गद्य मुझे इसी तरह सायास, कृत्रिम, लद्धड और बेजान मालूम होता है। अपनी तमाम सूक्ष्मताओं और बारीकियो के बावजूद वह गद्य हिंदी की जातीय प्रकृति के अनुकूल नही है। और कई लोगों का गद्य इसी तरह से हिंदी की जातीय प्रकृति से हटा हुआ गद्य है जिसकी छाया कविताओ मे भी मिलेगी और विचार-प्रधान लेखों में भी। लेकिन निर्मल जी ने गद्य के पतन के संदर्भ में जो बातें कही है उन्हे आप क्या और स्पष्ट करके कहेंगे? मैंने वह लेख काफी पहले पढा था। इसलिए कई स्थापनाएं इस समय याद नही आ रही हैं।

अ० वा० : मेरा ख्याल तो यह था कि निर्मल जी ने जब गद्य के पतन की बात कही थी तो उन्होंने हिंदी के जातीय गद्य को ध्यान

में रखते हुए ही यह बात कही थी। जैसे एक उदाहरण यही दिया जाता है कि गद्य के निर्माण में पत्रकारिता का भी कुछ-न-कुछ हाथ होता है। पुराने जमाने में भी था। जो बहुत अच्छे गद्यकार थे वे बहुत अच्छे पत्रकार भी थे। हिंदी के बहुत सारे संवेदनशील और बौद्धिक रूप से सक्षम लेखक और कवि जब पत्रकारिता के प्रमुख स्थानों पर गये तो अपेक्षा यह की जानी चाहिये थी कि इस स्थिति में पत्रकारिता का गद्य भी अधिक संवेदनशील, अधिक मार्मिक और अधिक मानवीय बनेगा क्योंकि पत्रकारिता का गद्य तो आम, साधारण जनता का गद्य है लेकिन ऐसा नहीं हुआ। लेखकों द्वारा जो पत्रकारिता की गयी उसके बारे में एक आरोप लगाया जा रहा है कि उसमें इन अच्छे तत्वों के बजाय एक प्रकार का बुझा-बुझापन और बेजानपन है। यानी जो तत्व साधारण पत्रकारिता के विरुद्ध होने चाहिये थे, वही तत्व उसमें हावी हैं। या फिर इस तरह का रूमानीपन, कि बजट पर भी संपादकीय लिखें तो भाषा की चिंता है। या फिर एक ऐसा भावुकतापूर्ण गद्य, जिसमें किसी तरह के प्रिसीजन···संवेदनशीलता के साथ-साथ प्रिसीजन···जो स्थिति होनी चाहिये वह इसमें नहीं है।

पहले पत्रकारिता को ही लें। सही है कि हिंदी गद्य का निर्माण स्वाधीनता संग्राम के जुझारूपन और लड़ाकूपन के बीच हुआ, संघर्ष के हथियार के रूप में। प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त की पीढ़ी के बाद प्रताप के संपादक गणेशशंकर विद्यार्थी और उनकी पीढ़ी के अन्य अनेक पत्रकार उसी परंपरा का विकास करते हैं। निराला और प्रेमचंद के गद्य को धार इसी पत्रकारिता के वातावरण मे मिली। इधर के लेखको मे हरिशंकर परसाई के गद्य मे मुझे उसी परंपरा का विकास मिलता है। और आलोचकों मे रामविलास शर्मा के गद्य मे ठेठ हिंदी का वह ठाठ अपने सर्वोत्तम रूप में मिलता है। यह ठाठ केवल शब्दों के चयन तक सीमित नहीं है। उस ठाठ का आधार है वाक्य विन्यास। बोलचाल का वाक्य विन्यास, जिसे पढते हुए जबान न कहीं अटकती है, न लड़खड़ाती है। नये कहानीकारो में अमरकांत, ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह आदि के गद्य मे बहुत कुछ यही छटा मिलेगी। लेकिन एक दूसरे ढंग की भी पत्रकारिता है—जिसका विकास आजादी के बाद ज्यादा हुआ। सनसनीखेज भंडाफोड़ वाली पत्रकारिता। हिंदी की कुछ लघु साहित्यिक पत्रिकाओ को कायदे से उसी वर्ग में रखना चाहिये—खास तौर से भाषा की दृष्टि से। तेज-तर्रार ये भी हैं, बल्कि ज्यादा; फिर भी सिर्फ लफ्फाजी ही

नाफाजी। यह लड़ाकूपन नहीं, लड़ाकूपन का भ्रम है। यह गाली-गलौज है। यह भाषा नहीं, भाषा के साथ बलात्कार है।

इससे भिन्न एक और पत्रकारिता है अत्यन्त शिष्ट और भद्र, जिसका संबंध मुख्य रूप से बड़ी पूंजी के प्रतिष्ठानों से है। इनमें प्राय. बचाव का चालाकी भरा गद्य मिलेगा। इस गद्य की राजनीति स्पष्ट है। कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य मे भी इस शिष्ट और भद्र पत्रकारिता का प्रतिरूप दिखायी पड़ता है, जिसका उद्देश्य ही है साफ-सुथरी बात को उलझाना और बातों की जलेबी बनाना।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि गद्य के उत्थान और पतन का गहरा संबंध राजनीति से है और राजनीति ही वह कुंजी है जिससे गद्य की असलियत को पहचाना जा सकता है।

अंत में, पत्रकारिता के प्रसंग से अलग हटकर उस गद्य पर भी विचार कर लेना चाहिये जिसमें सर्जनात्मक संभावनाओं की तलाश हो रही है। इसका संबंध वस्तुओं, स्थितियों और अनुभवों के सूक्ष्म विवरण से है।

इधर रचनात्मक गद्य मे जो कहानियां या यात्रा वर्णन लिखे गये हैं उनमें बारीक से बारीक बात को भी कह सकने की क्षमता आयी है। मुझे लगता है कि इधर की कविताओं मे जो ऐसी खूबी दिखायी पड़ती है वह बहुत कुछ रचनात्मक गद्य से आयी है। उदाहरण के लिए मैं कहना चाहूंगा कि अपनी कुछ कमजोरियों और सीमाओं के बावजूद निर्मल वर्मा के गद्य में, यह सूक्ष्म संवेदनशीलता अधिक दिखायी पडती है। इसी क्रम मे गद्य का एक विशेष प्रकार और है जो लेखक के व्यक्तित्व के साथ जुड़ा हुआ है। जैसे—शमशेर का गद्य। उनका गद्य, उनकी कविताओं के समान ही एक विशेष प्रकार की लय को ध्वनित करता है। वह चिंतन के चाप और गति का ग्राफ है और वाक्य विन्यास में उस चाप और गति को पढा जा सकता है। इस प्रकार के उदाहरण और भी दिये जा सकते है। इनसे पता चलता है कि हिंदी गद्य में सिर्फ पतन ही पतन नहीं है, बल्कि उसकी सर्जनात्मक संभावनाओं का विकास भी हुआ है।

अ० वा० : आपने प्रेमचंद पर जो लेख लिखा है उसमें यह धारणा है कि हिंदी में उपन्यास मध्यवर्ग का महाकाव्य नहीं है। वह भारतीय किसान वर्ग के जीवन की एक 'सागा' के रूप में विकसित हुआ। इसलिए पश्चिम की परंपरा से हमारी परंपरा भिन्न है। एक बड़ी दिलचस्प बात है कि आलोचना के क्षेत्र में 'नयी आलोचना' का जन्म हुआ, कहानी भी 'नयी कहानी' हुई, कविता भी 'नयी' हुई। एक दिलचस्प स्थिति यह है कि हमारे जो सफल उपन्यास-

कार हैं, सिर्फ पाठकों की संख्या की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सार्थक साहित्यिक मानदंडों के हिसाब से भी, ज्यादातर उस परंपरा के हैं जिसे आप चाहे तो प्रेमचंद की परंपरा कहें। यानी जो गैर-मध्य-वर्ग वाली परंपरा है। मध्यवर्ग की सबसे सार्थक अभिव्यक्ति या तो कविता में हो पाती है या कहानी में, उपन्यास में नहीं। हमारे बड़े से बड़े कहानीकार भी इस क्षेत्र में असफल रहे हैं। इसके बारे में आप क्या सोचते हैं ?

जब मैंने कहा था कि भारत मे उपन्यास का विकास मध्यवर्ग के महाकाव्य के रूप मे नही बल्कि भारतीय किसान समाज की महागाथा के रूप में हुआ तो उसके पीछे पश्चिमी देशो की बूर्ज्वा जनवादी क्रांति से भिन्न भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की अपनी विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति की ओर संकेत था। पश्चिम के उपन्यासो के केन्द्र में जो मध्यवर्गीय नायक था वह पूजीवादी विकास की उपज था, जिसने सामंती समाज व्यवस्था को तोड़कर बूर्ज्वा जनवादी क्रांति सम्पन्न की। इसके विपरीत औपनिवेशिक भारत की आजादी की लड़ाई सामन्तवाद के साथ ही साम्राज्यवादी शोषण के भी विरुद्ध थी जिसमें मध्य-वर्ग से ज्यादा निर्णायक भूमिका भारत के किसानो की व्यापक साझेदारी ने अदा की। इस बात को हम गाधी जी के नेतृत्व मे उभरने वाले देशव्यापी जन-आन्दोलन से अच्छी तरह समझ सकते हैं। इस विशेष ऐतिहासिक स्थिति के कारण ही भारतीय उपन्यासो मे मध्यवर्गीय नायक वह स्थान न प्राप्त कर सका जो कि उसे पश्चिमी उपन्यासों मे सहज ही सुलभ हुआ। हमारे यहां वह स्थान किसानों ने लिया। इस वजह से विधा के रूप मे उपन्यास को पश्चिम से लेते हुए भी भारतीय लेखको ने अपने उपन्यासों का रूपाकार विषयवस्तु के अनुरूप ढाला। इस प्रसंग मे उपन्यास विधा और उपन्यास की संरचना का अंतर समझना बहुत जरूरी है। मुझे खेद है कि इस बात को ढंग से न समझने के कारण हमारे कुछ मित्रों ने प्रेमचंद की नाहक ही आलोचना की।

इस विशेष ऐतिहासिक स्थिति के कारण हिंदी में ही नही, बल्कि भारत की अन्य भाषाओ मे भी जो महत्वपूर्ण उपन्यास लिखे गये उनका संबंध मुख्य रूप से किसानों के संघर्ष से जुड़ा। उदाहरण के लिए उड़िया में फकीर मोहन के बाद गोपीनाथ मोहन्ती, बंगला मे विभूतिभूषण, ताराशंकर, मानिक आदि तीनों बॅनर्जी, कन्नड मे शिवराम कारंत, मलयालम मे तकषी शिवशंकर पिल्ले, एस० के० पोट्टेक्काट्ट आदि। इस प्रकार हिंदी में प्रेमचंद उपन्यास की जिस धारा के प्रतिनिधि लेखक है, वह समूचे भारतीय उपन्यास की मुख्यधारा है।

इस स्थापना से मध्यवर्गीय जीवन को लेकर लिखे हुए उपन्यासों की अव-

मानना नही होती; यदि कुछ होता है तो सिर्फ यह कि उपन्यासों की वह धारा गौण हो जाती है। कहने की आवश्यकता नही कि गौण धारा मे उच्च-कोटि के सार्थक उपन्यासों की रचना सम्भव है—बल्कि हुई है।

अब नये उपन्यास के सृजन में इस ऐतिहासिक स्थिति के कारण कोई बाधा पड़ी हो तो हम क्या कर सकते हैं ? वैसे, मध्यवर्गीय जीवन की गौण धारा के लेखकों ने तथाकथित नये उपन्यास की रचना की दिशा मे कोशिश तो की है, फिर भी हिंदी में पश्चिम के वजन पर नया उपन्यास न चल पाया तो दोष किसका है ? इसके लिए भी क्या प्रेमचंद ही जिम्मेदार है ?

जहां तक कविता और कहानी को मध्यवर्ग की विधा के रूप मे सीमित कर देने की बात है, वह मुझे आपातत: संगत नही लग रही है। फिर भी इस पर सोचना पड़ेगा। यह जरूर है कि इस बीच कथाकारों की युवा पीढ़ी आयी है, उसमे कुछ अपवादों को छोड़कर उपन्यास लेखन की ओर विशेष उत्साह नही दिखायी पड़ रहा है। उन्होंने ज्यादातर कहानियो मे ही रुचि दिखायी है। इससे आपकी मान्यता की अशतः पुष्टि होती है।

> अ० था० : एक तो मेरा खयाल है कि शायद एक हद तक इस दृष्टि—मध्यवर्गीय दृष्टि में पूरे साहस का अभाव है, यानी अपने पूरे अनुभव और जीवन-संबंधी चिंताओं को बड़े फॉर्म में विन्यस्त करने की हिम्मत का अभाव। दूसरा यह हो सकता है कि कहानियों में या छोटे फॉर्म के माध्यम से ही एक तरह की साहित्यिक प्रतिष्ठा और व्यावसायिक सफलता भी मिलना सभव हो गया है। कहानियों का पारिश्रमिक भी बहुत बढ गया है। इस तरह के कई कारण हो सकते हैं इसके पीछे। लेकिन···

मुझे एक और कारण दिखायी पड़ता है। राल्फ फॉक्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक उपन्यास और लोक जीवन में एक जगह लिखा है कि बिना किसी जीवन-दर्शन के उपन्यास नहीं लिखा जा सकता। शायद इन युवा लेखको मे उस जीवन-दर्शन का अभाव है। यानी एक ऐतिहासिक विजन की कमी है। कहानी में शायद इसके बिना भी कारोबार चल सकता है लेकिन उपन्यास मे नही। छोटी कविताओं की बहुलता के पीछे भी शायद यही कारण है। छोटी कविताओं और छोटी कहानियों के लिए किसी बडे जीवन-दर्शन की बहुत अपेक्षा नही रहती। एक छोटा-सा चित्र, एक छोटा-सा व्यंग्य कुछ शब्दों में बांधकर रख देने से काम चल जाता है।

शायद यह संकुचित मध्यवर्गीय दृष्टि का ही परिणाम है और किसी साहित्य मे यदि यह प्रवृत्ति बढ़ने लगे तो चिंता हो सकती है। वैसे, इस बीच

लम्बी कविताओं में भी दिलचस्पी बढ़ी है। कुछ कवि जैसे कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह तो छोटी कविता लिखते ही नहीं, लेकिन निराला की लम्बी कविताओं के पीछे जो एक विजन है या फिर मुक्तिबोध में, वह यहां नहीं मिलता। यहां खण्ड खण्ड पाखण्ड का ही दृश्य है।

अ० वा० : मुक्तिबोध का उदाहरण तो इस मायने में दिलचस्प है। जिस मुक्तिबोध को आप अपना आदर्श बनाये बैठे हैं, लगता है वास्तव में उस मुक्तिबोध का कोई अनुयायी ही नहीं है। सिर्फ 'लंबे फॉर्म' के साथ ही ऐसा हो, ऐसा जरूरी नहीं बल्कि उस जीवन-दर्शन के साथ भी ऐसा हो सकता है जो अपने आप को सच्चाई के प्रति एक द्वंद्वात्मक संबंध स्थापित करे और स्वयं को व्यक्त करने के लिए किसी-न-किसी 'मेजर फॉर्म' का सहारा ले। आज हिंदी में ज्यादातर कवियों के पास आस्था है, आस्था की घोषणा है लेकिन वह जीवन-दृष्टि, वह 'विजन'''

छोटी कविताओं की क्षमता पर और विचार किया जा सकता है। छायावादी कवियों ने बहुत से छोटे-छोटे गीत लिखे लेकिन उनको मिला करके देखें तो एक निश्चित जीवन-दृष्टि और उस युग की वास्तविकता का पता चलता है, उसका एक समग्र प्रभाव पड़ता है। आज के प्रयत्नों में ऐसा कम ही मिलता है। यह बिखराव दरअसल नयी कविता के क्षणवाद और क्षण की अनुभूति से शुरू हुआ है। बल्कि नयी कविता के कवि भी कहीं-न-कहीं संकुचित ही सही, लेकिन अपनी एक जीवन-दृष्टि की झलक दे देते हैं। वास्तविकता का समग्र रूप भले ही न प्रस्तुत करें पर एक छवि बनती है। लेकिन इधर के जो तमाम विद्रोही, आक्रोशी और अघोर पंथी कवि हैं उनमें वह विजन ही दिखायी नहीं पड़ता। लगता है कि इनमें विराट् वास्तविकता के साक्षात्कार का नैतिक साहस नहीं है। इन्हें उससे भय लगता है और उस वास्तविकता को समेटने के लिए जो सर्जनात्मक आयास अपेक्षित है वही नहीं है। कुछ और हैं जिन्होंने उससे बचकर एक छोटा-सा कोना चुन लिया है और उसी में फूल-पौधे उगा रहे हैं। किसी जमाने में अंग्रेजी या जार्जियाई कवि भी यही करते थे। इनमें रोमाण्टिकों की तरह कल्पना की ऊंची उड़ान लेने का साहस नहीं है; नयी कविता का वह नैतिक बल भी नहीं है जो दम-खम के साथ अपनी पीड़ा के एकांतिक क्षण को ही दृढ़ता से व्यक्त कर सके। अजीब स्थिति है आज कविता की और आप इसे कविता का नवजागरण कह रहे हैं। श्रीकांत वर्मा की तमाम सीमाओं के बावजूद उनकी कविता का एक तो संसार बनता है—मायादर्पण। रघुवीर सहाय की सीढ़ियों पर धूप में, आत्महत्या के विरुद्ध, उसके बाद हंसो

हंसो जल्दी हंसो के पीछे पूरे समाज का एक विजन है। आज के भारतीय समाज की एक तस्वीर हमारे सामने आती है—हंसो हंसो जल्दी हंसो की दस कविताएं मिलकर वास्तविकता का एक रूप हमारे सामने खड़ा करती है। इन संग्रहों की दो सौ कविताएं मिलकर भी ऐसा कोई विजन हमारे सामने नहीं लाती। हो सकता है कि यह मेरा ही दृष्टिदोष हो।

> अ० वा० : हो सकता है पहले के कवियों को एक 'विजन' बना पाने और उसे कविता में व्यक्त कर पाने की एक ऐतिहासिक सुविधा रही हो और आज जो कुछ जीवन जगत् में गुज़र रहा है उसकी जटिलता में यह संभव न हो पा रहा हो।

नहीं, मैं नहीं मानता कि ऐतिहासिक सुविधा पहले के कवि को मिली थी। इतना समय बीत जाने के बाद अब लगता है जैसे उनको ऐतिहासिक सुविधा थी। दरअसल उन्होंने इस इतिहास को बनाया था और उस विजन को अर्जित किया था। इतिहास किसी को भी बना-बनाया विजन नहीं देता, सुविधा नहीं देता। आज अगर वास्तविकता को खंडित करने वाली विपरीत परिस्थितियां हैं तो आज के कवि को उससे संघर्ष करके विजन अर्जित करना चाहिये।

> अ० वा० : आपको याद होगा कि हमने 'पूर्वग्रह' का कविता अंक जब जारी किया था तो उस अवसर पर आपके वक्तव्य में एक बात यह थी कि 'आज की जो युवतम पीढ़ी है वह स्वयं को मुक्तिबोध के बजाय नागार्जुन और त्रिलोचन जैसे कवियों से जोड़ रही है।' हमारी अभी की बातचीत के संदर्भ में अगर हम इसे जोड़ें तो क्या नतीजा निकलता है?

जोड़ रही है, लेकिन नागार्जुन या त्रिलोचन हो नहीं रही है। अंतर करना ही पड़ेगा। एक तो जब मैंने यह बात कही तो उस समय एक तात्कालिक प्रसंग यह था कि दिल्ली के पूर्वग्रह वाले आयोजन में राजेश जोशी और अरुण कमल जैसे दो युवा कवियों ने अपनी कविताएं तत्काल पढ़ी थीं। इसलिए उस सामान्य कथन का एक तात्कालिक संदर्भ था।

नागार्जुन और और त्रिलोचन की कविताएं इस दौर की तथाकथित क्रांतिकारी कविताओं की तुलना में वैसी मुखर और बड़बोलेपन की कविताएं नहीं थीं। गोली, बंदूक और बारूद वहां नहीं थे। नागार्जुन ने अगर गोली चलने पर कोई कविता लिखी तो उसमें धुआं-धुआं कम है। गोली चलने के बाद जो आतंक बचता है, लोगों की चेतना में जो घटित होता है, उस कविता में वह

व्यक्त हुआ है। उदाहरण के लिए तीन दिन तीन रात एक कविता है इसमें गोली-बारूद नही है लेकिन तीन दिन तीन रात तक जो आतंक की स्थिति थी उसे वह कविता नाटकीय रूप देती है। त्रिलोचन की कविताओं में चरित्र आते हैं, वस्तुएं आती है, पदार्थ आते हैं, परिस्थितियां आती हैं, उनका चित्र आता है लेकिन वक्तव्य नही आता। बयानबाजी नही आती। यानी भाषा के सीधे-सादे रूप में रोजमर्रा की, आसपास की जानी-पहजानी सामान्य जिंदगी आती है। इधर जो कविताएं लिखी जा रही हैं वे एक भिन्न अर्थ में राजनीतिक हैं। यहां राजनीति रोजमर्रा की छोटी-छोटी घटनाओं के बीच सामान्य ढंग से व्यक्त होती है।

अ० या० : फिर आज की कविताएं उनसे कहां जुड़ती हैं ?

त्रिलोचन और नागार्जुन का उदाहरण लें। त्रिलोचन की बहुत-सी कविताओं में कोई स्पष्ट जीवन-दृष्टि नही दिखायी पड़ती। घनघोर चित्रवादी और अनुभववादी कवि के रूप में वे सामने आते है। उनकी कविताओं मे से आप कोई जीवन-दृष्टि ढूढ़ निकालें यह बड़ा ही कठिन काम है। लगता है वे देश-काल से परे की कविताएं हैं।

अ० या० . जब मैंने आपका ध्यान इस वक्तव्य की ओर दिलाया था तो मैं उनको यहीं ले जाना चाहता था।

नागार्जुन जी की राजनीतिक कविताओं का हाल यह है कि जैसे ही उनकी समझ बदली वैसे ही कविता की धार भी। खिचड़ी विप्लव का पहले स्वागत किया और बाद में उसे खिचड़ी विप्लव भी कहा। बाबा की फौरी राजनीतिक कविता, उनकी उस समय की राजनीतिक दृष्टि को व्यक्त करती है। यहां वे त्रिलोचन से एकदम भिन्न हैं। सम्भव है कि राजेश जोशी में और शायद अरुण कमल में भी राजनीतिक समझ की वह अंतर्धारा मौजूद है जो उनको मार्क्सवाद मे या प्रगतिशील शक्तियों से जोडती है। इस दृष्टि मे ये कवि नागार्जुन से ज्यादा जुडते हैं। त्रिलोचन से शायद वे भाषा के स्तर पर जुड़ते हैं या फिर अपने आसपास की जिंदगी के साधारण व्यक्ति-चरित्रों और छोटी-छोटी स्थितियों के स्तर पर।

अ० या० : मै कहना चाहता था कि अगर हम 'मुक्तिबोध' के संदर्भ में देखें तो मुक्तिबोध एक ऐसे कवि कहे जा सकते हैं जिनके पीछे एक विराट् 'विजन' था और अपने साहित्य के माध्यम से उन्होंने उस विराट् 'विजन' को व्यक्त किया। उसके बरक्स 'त्रिलोचन'

> या 'नागार्जुन' में इस साफ राजनीतिक समझ के बावजूद एक तरह की 'विजनलेसनेस' है जो त्रिलोचन जी की कविताओं में चित्रमयता के रूप में आया है या एक तरह का कुछ क्षीण, कमजोर और परिवर्तित होता हुआ 'विजन' है जो 'नागार्जुन' में दिखाई देता है। हम अभी कुछ देर पहले बात कर रहे थे कि इधर के कवियों में इस तरह के 'विजन' का, साहस का अभाव है और इस सबके न होने का कोई बहुत सक्रिय और पीड़ादायक अहसास भी नहीं है। इस तरह नयी पीढ़ी की जो स्थिति है उसमें यह तर्कसंगत ही लगता है कि मुक्तिबोध के विराट् 'विजन' की तुलना में वह त्रिलोचन या नागार्जुन जैसे कवियों को अपना आदर्श बनाएं।

नहीं, एक बात तो यह कह दूं कि हिंदी मे एक ही मुक्तिबोध काफी है। अंग्रेजी में भी दो मिल्टन तो हुए नहीं। हिंदी में भी दो मुक्तिबोध तो होंगे नहीं। मुक्तिबोध बनने के लिए तो आदमी के स्नायु-तंत्र टूट जायेंगे। और उसके बाद फिर वह विराट् विजन और उसे रूप देने वाला एक विशाल काव्य है। नागार्जुन और त्रिलोचन की ओर जाने का कारण केवल जीवन-दृष्टि ही नहीं है बल्कि छोटे-छोटे फॉर्म को लेकर नागार्जुन त्रिलोचन ने बहुत सारी कविताएं लिखी है। उनमें काव्यरूपों की बड़ी विविधता है। आकर्षण का एक कारण यह भी हो सकता है। दूसरा कारण सहजता है।

फिर नागार्जुन और त्रिलोचन दोनों कवि ठेठ जन-जीवन के कवि है और आज की खुरदरी वास्तविकता से सीधे जुडे हुए हैं। वे साफ-साफ अपनी धरती के कवि है। इसके अलावा ये कवि त्रिलोचन और नागार्जुन की जीवन-दृष्टि और प्रगतिशीलता के प्रति भी एक अस्पष्ट लगाव के कारण जुडे हो सकते है। इस प्रकार उनकी कविताओ की सहजता, सरलता, सादगी, रूप की विविधता आदि आकर्षण के कारण हो सकते हैं। सम्भवतः ये कवि सोचते हों कि दहशत *और तनाव भरी स्थिति की दहशत को छूने से पहले अपने आस-पास के जीवन* और छोटे-छोटे चित्रों को एकाग्र रूप में पहले बांध लें, इसके बाद कोई बड़ा प्रयत्न करेंगे। एक और चीज हो सकती है। वह है व्यंग्य। मुक्तिबोध मे हास्य और व्यंग्य का नितांत अभाव है। ऐसा लगता है कि उन्होंने हरिशंकर परसाई को यह काम सौंपकर संतोष कर लिया था कि एक ही काफी है।

त्रिलोचन और खास तौर से नागार्जुन के हास्य-व्यंग्य की कुछ झलक आज के नये कवियों में दिखायी पडेगी। गुस्से में जो कविताएं लिखी गयी थी उसमें व्यंग्य और हास्य तो सम्भव ही नहीं था। उधर निजी पीडा में छटपटाने वाले

अज्ञेय आदि की जो परम्परा थी उसमें भी हास्य-व्यंग्य सम्भव नहीं था। अगर कहीं सम्भव हो सका तो रघुवीर सहाय में। ऐसी स्थिति में हास्य-व्यंग्य के लिए ये कवि यदि कहीं जा सकते थे तो नागार्जुन के पास ही। गम्भीर बात-चीत को हलके-फुलके ढंग से कहने की जो कला नागार्जुन में दिखायी पड़ती है वह मुक्तिबोध के यहां तो मिल ही नहीं सकती थी। मुक्तिबोध तो छोटी-सी बात को भी इतने आतंककारी ढंग से कहते थे कि दिमाग की नसें फट जायें। इन नये कवियों की खूबी यह है कि वे गंभीर से गंभीर बात को भी अपनी मानसिकता के अनुकूल धरातल तक ले आकर सहज ढंग से, मासूमियत से, कहते हैं। एक सम्बन्ध-सूत्र यह भी हो सकता है।

> अ० वा० : नहीं, इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि अनुभव करने का वह विराट् सामर्थ्य ही इन कवियों में न हो। इसीलिए इन्हें मुक्तिबोध से प्रेरणा लेने में डर लगता है क्योंकि असल में अनुभवों की अराजकता की ओर जिसका ध्यान पहले आकृष्ट हो तभी कोई अच्छे तरीके से साहित्य लिखने की ओर प्रवृत्त हो सकता है। चाहे वह उपन्यास हो या कुछ और। अनुभवों की अराजकता के प्रति मुक्तिबोध में आसक्ति का जो तीव्र भाव था, उसके भीतर रहते हुए उसके दूसरे 'डाइलेक्टिकल' टेंशन क्रिएट करके, इस सबके ऊपर एक जटिल 'पैटर्न' जो मुक्तिबोध रच सकते थे, ऐसी जटिलता इन कवियों की क्षमता के बाहर की बात है। जीवन से सामना करने का वह सामर्थ्य ही नहीं है जैसा मुक्तिबोध के यहां है। जटिलता, तनाव, अंतर्द्वन्द्व—इन सबको वह हास्य-व्यंग्य में या किसी तरह की हलकी-फुलकी बातों में कहकर उससे कन्नी काटकर निकल जाना चाहता है जैसे .....

नहीं, नहीं, यह फतवा देना ठीक नहीं। उनके असामर्थ्य की बात न कहकर मैं यह कहूंगा कि इनकी रचना-प्रक्रिया ही बिलकुल भिन्न है। मुक्तिबोध जीवन के तमाम छोटे-छोटे अनुभवों को जोड़कर एक बड़े कथानक में, एक पैटर्न बुनकर उपस्थित करते थे। फिर इसके अन्तर्गत छोटी-छोटी घटनाएं भी थोड़ी सी जगह पा लेती थीं। नये कवि यदि छोटी चीजें चुनते हैं तो जरूरी नहीं कि यह पलायन ही हो। अपने आसपास की जानी-पहचानी छोटी-सी घटना को किसी कविता में कहानीनुमा कह देना पलायन नहीं है। छोटी-सी चीज के माध्यम से एक बड़ी बात का संकेत किया जा सकता है विशेष का ही सामान्यीकरण होता है। कहीं सफलता मिलती है, कहीं नहीं। नागार्जुन और त्रिलोचन में इस कला का अच्छा निखार मिलता है।

अ० वा० : शायद अपना सवाल मैं ठीक से रख नहीं पाया हूं। इसको 'निगेटिव कैपेबिलिटी' कहते थे। इसका होना किसी भी रचनाकार के लिए बहुत अनिवार्य है। वह 'निगेटिव कैपेबिलिटी' जैसी मुक्तिबोध में थी वैसी नागार्जुन में है, न त्रिलोचन में। आज के कवि अगर इन्हीं से प्रेरणा लेते हैं तो उसका बुनियादी कारण है कि हम उस 'निगेटिव कैपेबिलिटी' में रह नहीं पाते। यानी अनुभवों की अराजकता को बराबर रखते हुए भी अपनी विचारधारा अपने तंतुओं के द्वारा उसके ऊपर एक पैटर्न बुनकर हम उसी अराजक संसार को समझना चाहें।

इधर के कवि इतने विविध हैं कि इतने सरलीकृत ढंग से सबको एक दायरे में नहीं बांधा जा सकता। लेकिन आप जब कह रहे हैं तो आपके सामने निश्चित रूप से दो-एक कवि होंगे और जब तक वे कवि सामने न हों, तब तक उन्हीं के आधार पर मैं दूसरा सामान्यीकरण नहीं कर सकता।

अ० वा० : नहीं, बुनियादी रूप से मेरे सामने भी वही कवि हैं जिन दो की आपने चर्चा की।

अरुण कमल और राजेश जोशी ?

अ० वा० : मैं उनके बाहर इसलिए नहीं सोच रहा हूं, क्योंकि अभी उन दोनों की बात ही चल रही है। उनमें सरलीकरण के प्रति जो आकर्षण है···

वह तो है।

अ० वा० : भले ही उस सरलीकरण का स्वरूप नारेबाजी में न हुआ हो लेकिन सरलीकरण कई तरह से हो सकता है।

नारेबाजी में भी हो सकता है।

अ० वा० : नारेबाजी में तो हो सकता है लेकिन दूसरा समांतर सरलीकरण उस तरह से हो सकता है जो त्रिलोचन जी की सबसे अच्छी कविताओं में भी है।

तब तो यह स्वागत योग्य होना चाहिए।

□□

भोपाल में मानसून जून मे ही आ चुका है। वहां इस वक्त बारिश होगी। दिल्ली में लेकिन जुलाई जैसी ही गर्मी। नेमि जी जब पहुंचे तो धूप और बाहर की गर्म हवाओं की छाप उनके चेहरे पर थी।

१०६, प्रोफेसर क्वार्टर्स, दक्षिणापुरम, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय। डॉ० नामवर सिंह यही रहते हैं। सड़क के पार शॉपिंग सेंटर है। नये कैम्पस में नदियो के नाम वाले हॉस्टल्स हैं—पेरियार, झेलम, कावेरी, गंगा, सतलज। जे० एन० यू० को एलीट विश्वविद्यालय कहा जाता है। कैम्पस में, धोती और कुर्ते मे शायद सिर्फ नामवर जी को ही देखा जा सकता है।

नेमिचन्द्र जैन और नामवर सिंह के बीच बातचीत शुरू हुई। थोड़ी ही देर बाद विष्णु खरे और विजय मोहन सिंह आ गये। पूर्वनिर्धारित विषयों से बात हट कर कई आकस्मिक लेकिन उत्तेजक मुद्दों तक पहुंची।

बातचीत मे केदारनाथ सिंह को भी शामिल होना था। वे गांव से तब तक लौटे नही थे। दूसरे दिन शाम को लौटे तो आखों में कंजेक्टिवाइटिस के साथ बहुत तकलीफ मे थे। वे आ नहीं सके।

नयी कहानी, रचना और विचारधारा, आलोचना के सिद्धांत और उसके उपकरण···नयी समीक्षा· ·सभी सन्दर्भ थे। बाद मे विष्णु खरे ने कहा, "नामवर जी ने फिर से जोखिम मोल ले लिया है।"

हिंदी में आलोचना मूलतः कविता-केंद्रित ही रही है, अगर मार्क्सवादी आलोचकों को भी ध्यान मे रखा जाये तो भी डॉ० रामविलास शर्मा तक ने कविता को ही अपने आलोचनात्मक लेखन का आधार बनाया है। कहानी या मोटे तौर पर कथा साहित्य की समीक्षा के विकास के लिए आपका ऐतिहासिक योगदान माना जा सकता है। 'नयी कहानी' की व्यवस्थित आलोचना करने का आपने प्रयास किया था। आज हिंदी में कहानी और कहानी की आलोचना की जो हालत है उसे आप किस तरह से देखते हैं?

कहानी संबंधी आलोचना की शुरुआत मैंने १९५६ से की। मैंने लगभग आठ वर्षों तक कहानी पर लिखा है। कहानी : नयी कहानी की भूमिका मे, मैंने महसूस किया था कि कहानी के क्षेत्र मे भी कविता के समानांतर ऐसे प्रयत्न हो रहे हैं जो गंभीर हैं। कहानी : नयी कहानी मे मेरा उद्देश्य यही था कि आलोचना को, जो दुर्भाग्य से कविता की आलोचना बन कर रह गयी थी, कहानी के क्षेत्र तक भी फैलाया जाये और कहानी संबंधी चर्चा से संभव हो कि हमारी

आलोचना का स्वरूप बदले। मुझे यह भी लगा था कि संभव है कहानी के रास्ते से ही आलोचना यथार्थ और जीवन के निकट आयेगी और उसकी भाषा या सिद्धांतों में भी सार्थक परिवर्तन होंगे। कहानी संबंधी मेरे लेखन का उद्देश्य संभवतः यही था। मेरी आलोचना का उद्देश्य यदि एक तरफ कहानी संबंधी समीक्षा को एक व्यवस्थित रूप देने का था तो दूसरी तरफ यह सामान्य पाठकों को भी संबोधित थी। कुछ कहानियों को चुनकर मैंने उसमें एक क्रम स्थापित किया था और इस क्रम में कौन सी कहानी अच्छी है या बुरी है उस पर भी मैंने विचार किया था। लेकिन मध्यवर्गीय मानसिकता को उतारने वाली कहानियों में विकास के बावजूद नयी कहानी आंदोलन के दिनों में एक दौर ऐसा भी आया जब व्यावसायिकता उस पर हावी हुई। आज भी सारिका जैसी पत्रिकाओं में उसका रूप दिखाई पड़ता है। यह व्यावसायिकता प्रगतिशीलता का नकाब ओढ़कर आयी थी और उसका एकमात्र उद्देश्य इसी को भुनाना था। आपको याद होगा—१९६२ के आसपास कमलेश्वर, नयी कहानियां के संपादक बन गये थे। इस व्यावसायिकता के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए कहानी के क्षेत्र में ईमानदार प्रयोगों के साथ ज्ञानरंजन, कालिया, दूधनाथ, काशीनाथ आदि सामने आ रहे थे, लेकिन ये अल्पसंख्यक ही थे। फिर भी एक संभावना नजर आ रही थी। बाद में आपको मालूम ही है कि समानांतर आंदोलन चला और पूरी की पूरी एक नयी पीढ़ी कुछ व्यावसायिक लोगों का शिकार हो गयी। इस पूरे माहौल में कहानी की सर्जनात्मकता की नयी भावभूमियों की खोज के द्वारा ही व्यावसायिकता के विरुद्ध लड़ा जा सकता था। मेरी अधिक दिलचस्पी नयी कहानी को इस गहरी सूझ और चर्चा की ओर ले जाना था। लेकिन मुझे लगा कि लोगों की इसमें रुचि नहीं है, वातावरण में घोषणा-पत्र, वक्तव्य, गुटपरस्ती और नारेबाजी हावी थी। इसीलिए कहानी संबंधी आलोचना को अंतिम रूप से मैंने छोड़ा तो नहीं लेकिन कुछ अन्य महत्वपूर्ण और जरूरी कामों में लग गया।

> विजय मोहन सिंह : नयी कहानी के उस दौर में जब आपने अपने कहानी संबंधी लेखन की शुरुआत की, उस समय यह छद्म प्रगतिशील व्यावसायिकता किस ओर से आ रही थी? इसी दौर में 'निर्मल वर्मा' संबंधी आपके मूल्यांकन को लेकर विवाद पैदा हुआ। इसके कारण क्या थे?

कमलेश्वर, राजेंद्र यादव या मोहन राकेश आदि अगर निर्मल वर्मा की कहानियों की मेरी आलोचना से असंतुष्ट थे तो उसके नितांत व्यक्तिगत कारण भी थे। उन्होंने प्रगतिवाद बनाम गैर-प्रगतिवाद का नाम दिया। इसी भूमि पर

उन्होंने अपने अलावा अन्य अच्छे कहानीकारों की रचनाओं को खारिज किया था। प्रगतिवाद इन लोगों के लिए आड़ का काम कर रहा था, यह मैं कह चुका हूं।

विष्णु खरे : इन लोगों में राजेंद्र यादव भी शामिल थे?

बिल्कुल। तीनो। मुझे खेद इस बात का है कि बाहर के कहानीकारों द्वारा भी नयी कहानी पर दुबारा बहस चली तो अनजाने ही निर्मल पर नयी पीढ़ी ने प्रगतिवाद विरोधी या गैर-प्रगतिशील होने का आरोप उसी दौर की मानसिकता की जमीन पर लगाया। अनजाने ही ये लोग कमलेश्वर, राजेंद्र यादव और मोहन राकेश की उस कहानी संबंधी राजनीति के हथियार बन रहे थे और मुझे लगा कि इस माहौल में अब कहानी संबंधी कोई गंभीर बहस संभव नहीं रही। आप जानते ही हैं कि हिंदी में कविता संबंधी आलोचना में कुछ हद तक तो आलोचना की मर्यादा का पालन भी किया गया है लेकिन कहानी की आलोचनाओं में कुछ व्यक्तिगत चुटकुले और लतीफे ही ज्यादा चले और कहानी की सर्जनात्मकता या उसके मूल्यांकन की जरूरी बात पीछे ढकेल दी गयी। उस पूरे माहौल में मुझे लगा कि अब तो दादुर बोलिहैं। कहानी की समीक्षा की किताबें उन दिनों खूब आयीं।

> उ० प्र० : उन दिनों नये कहानीकारों, जैसे कमलेश्वर की किताब आयी थी 'नयी कहानी की भूमिका' राजेंद्र यादव की 'एक दुनिया समानांतर' यानी खुद नये कहानीकारों ने ही अपनी कहानियों को व्याख्यायित, विश्लेषित करने का काम शुरू कर दिया था। ऐसी स्थिति में जो नये कहानी आलोचक उभरे भी, पर शायद उनकी स्थिति फिर से जम नहीं पायी, उनका आधार मजबूत नहीं हो पाया। ऐसे समय आपकी भूमिका तो यह होनी चाहिये थी कि आप उन कुछ गिने-चुने आलोचकों का साथ देते।

आज यहां बैठकर ऐसी बात करना बहुत आसान है। वास्तविकता उस समय यह थी कि सारी व्यावसायिक पत्रिकाएं और सारे बड़े साधन इन्हीं नये कहानीकारों के हाथ में थे। साहित्यिक पत्रिकाओं में भी जो नये लोग आ रहे थे, जैसे ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, विजय मोहन, काशीनाथ सिंह या इसराइल—ये लोग उस पूरे दौर में अल्पसंख्यक थे। आज भले ही उन दिनों की तस्वीर आपको बहुत गुलाबी मालूम पड़े। वह पूरा माहौल कैसा था इसका संकेत मैंने अपने एक और शुरुआत वाले अंतिम लेख में दिया था। मैंने साफ कहा था कि दुर्भाग्य से इस वक्त प्रगतिशीलता और व्यावसायिकता का एक ऐसा

गठबंधन हो रहा है जो कहानी के लिए घातक होगा। आगे चलकर सचमुच ही व्यावसायिकता और छद्म प्रगतिशीलता का एक ऐसा अद्भुत गठजोड़ बना कि कहानी में नये सृजन की संभावनाएं कुंठित दिखायी पड़ने लगी।

> वि० ख : अच्छी बात कही आपने। कविता में भी ऐसा ही हुआ। इस दौर में कविता में भी वही छद्म प्रगतिवादिता लेकिन शुद्ध व्यावसायिकता जनमी। कदाचित प्रगतिशील कविता को नष्ट करने वाली वृत्ति यही थी।

समानांतर कहानी का आंदोलन उसी व्यावसायिक प्रगतिशीलता की संगठित अभिव्यक्ति थी। खेद है कि कहानीकारों की नयी पीढ़ी इस मुख्य शत्रु के विरुद्ध संघर्ष करने के बजाय अब भी निर्मल वर्मा के ही पीछे लाठी लेकर पड़ी है।

> वि० ख० : एक सवाल है। शायद निर्मल वर्मा की कहानियों की सृजनशीलता की प्रशंसा करके आप उस व्यावसायिकता और छद्म प्रगतिशीलता का विरोध कर रहे थे। लेकिन उस समय निर्मल के अलावा भी बहुत से ऐसे कहानीकार थे जो ज्यादा अच्छी सृजनशील कहानी लिख रहे थे। फिर निर्मल वर्मा के प्रति आपकी पक्षधरता का राज क्या था? मुझे तो निर्मल वर्मा की कहानियां बहुत व्यावसायिक लगती हैं।

आप ही बताएं कि उस समय यानी पांचवें दशक के, वे अन्य अच्छे कहानीकार कौन थे जिन पर मुझे लिखना चाहिये था लेकिन जिन पर मैंने नहीं लिखा। दरअसल, आपके ध्यान में जो लेखक हैं उनका विकास बाद में हुआ।

> वि० मो० सिंह : आपने निर्मल वर्मा की कहानियों को 'कालजयी कहानियां' कहा था।

कम से कम मेरे लिखे को मेरे सामने तो आप सही रूप में पेश करें। मैंने कालजयी नहीं कालातीत कला-दृष्टि कहा था। कालातीत और कालजयी में बड़ा अंतर है।

> वि० मो० सिंह : आपने निर्मल की कहानियों के संदर्भ में चेखव का नाम लिया है?

क्या चेखव का नाम लेना अप्रासंगिक है? आपने चेखव के पत्रों पर निर्मल का लेख तो पढ़ा होगा? निर्मल जी की जीवन-दृष्टि के बारे में, उनकी

सीमाओं के बारे मे मेरी निश्चित धारणा थी, और है। उसमे जो परिवर्तन हुआ है उसे मैंने व्यक्त भी किया है। उनसे मेरा मतभेद गहरा है। इसके बावजूद मैं कहूंगा कि जैसी कहानियां निर्मल ने पहले लिखी है उनका स्थान बराबर सुरक्षित रहेगा, समय बीतने के बावजूद, और यदि नयी पीढ़ी के लोग सिर्फ इसी आधार पर उनका विरोध करते हैं तो इससे मैं बहुत आश्वस्त नही हूं। सर्जनात्मकता और कला की दृष्टि से मैं अब भी मानता हूं कि निर्मल हिंदी के एक महत्वपूर्ण कहानीकार है। महत्वपूर्ण ही नही बल्कि सार्थक भी। उस दौर के तमाम लोगो मे सिर्फ दो ही कहानीकार ऐसे है: निर्मल और अमरकांत।

वि० ख० : अमरकांत और निर्मल के बीच आप कहां हैं।

निर्मल वर्मा का अनुभव जगत् भिन्न है। उनकी कहानी की पूरी रचना-प्रक्रिया भिन्न है। अमरकात बिल्कुल अलग कहानीकार है। अगर एक आदमी **तोलस-तोय** और **चेखव** या **तोल्सतोय** और **दास्ताएव्स्की** दोनों को मूल्यवान मान कर महत्व दे सकता है तो इसमे अंतर्विरोध कहां है? इसी प्रकार यदि यह संभव है कि किसी के लिए प्रेमचद और जैनेन्द्र दोनो महत्वपूर्ण हों तो अमरकांत और निर्मल वर्मा इन दोनों की महत्व-स्वीकृति में ही अंतर्विरोध क्यों? अमरकांत और निर्मल वर्मा दोनो को अच्छा लेखक मानने मे मुझे कोई विरोध नही दिखता। कठिनाई तो तब होगी जब आप इन दोनों की तुलना करें और तय करें कि कौन बड़ा है? इसके बारे में तब मैंने कुछ नही कहा था। आज अगर कहना ही पडे तो मैं साफ कहूंगा कि कुल मिलाकर निर्मल वर्मा का कृतित्व ज्यादा वजनी है। शुरू मे कुछ बहुत अच्छी कहानियां लिखने के बाद अमरकात ने बहुत कमजोर कहानियां लिखी हैं। दु:खद होते हुए भी यह सत्य है कि अमर-कांत के लेखन मे क्रमशः गिरावट आयी है। ह्रास के लक्षण निर्मल में भी दिखते है फिर भी शिल्प के बल पर उन्होंने अपना एक स्तर कायम रखा है। अनुभव का दायरा सिकुड़ता जरूर गया लेकिन इसी बाद के काल में ही उन्होंने **दूसरी दुनिया** और **बीच बहस** में जैसी उच्चकोटि की कहानियां लिखी। **बीच बहस** में शीर्षक कहानी से यह भी आभास मिलता है कि आरंभिक भावुकता के स्थान पर उनमें अब अप्रिय यथार्थ के चित्रण की क्षमता का विकास हो रहा है।

वि० मो० सिंह : निर्मल वर्मा की कहानियों की भाषा, उनका दु:ख, उनकी सफरिंग, उनका खास तरह का आतंक, यंत्रणा, अकेलापन ये सारा का सारा विदेशी है...

मैं इससे सहमत नही हो सकता।

वि० ख० : निर्मल वर्मा की कहानियों का जो अनुभव संसार है वह नकली है। वे एक मकड़ी जाल बुनते हैं, उनका शब्द चयन···

मैं यही कहना चाहता हू कि इस तथाकथित विदेशीपन के बावजूद निर्मल सामाजिक चेतना से सम्पन्न कहे जाने वाले कई कहानीकारों से बेहतर कहानीकार है। उदाहरण के लिए ज्ञानरंजन मे सामाजिक चेतना कही ज्यादा प्रखर है। इसके बाद भी कहना होगा कि कहानी के क्षेत्र मे निर्मल वर्मा का अवदान ज्ञानरंजन से कही ज्यादा बड़ा है।

वि० ख० : 'घंटा' के बारे में···निर्मल जी की एक भी कहानी वैसी नहीं है।

कैसी बात कर रहे हैं ? अगर निर्मल ने घंटा जैसी कहानी नहीं लिखी है तो ज्ञानरंजन ने भी लंदन की एक रात या दूसरी दुनिया जैसी कहानी नही लिखी। ज्ञानरंजन की कहानी बहिर्गमन अपनी लंबाई के बावजूद बहुत सफल नहीं है। जिस लेखक से आपके विचारों का मेल न हो उसका विरोध आप बेशक कीजिये लेकिन उसका साहित्यिक महत्व, यदि कुछ है, तो उसे तो स्वीकार कीजिये।

उ० प्र० : 'परिंदे' कहानी की आपने प्रशंसा की है। लगभग वैसी ही कहानियां मध्यवर्गीय अकेलेपन और अलगाव को लेकर कुछ अन्य कहानीकारों ने भी लिखी हैं। निर्मल वर्मा उनसे अलग कहां हैं ?

उसी थीम पर मिस पाल नामक कहानी मोहन राकेश ने लिखी है। आप परिंदे और मिस पाल को मिलाकर देखें तो साफ हो जायेगा कि दो कलाकारों की संवेदनशीलता और कला में क्या फर्क है ?

वि० ख० : लेकिन निर्मल जी की जो विचारधारा कहानियों के माध्यम से सामने आती है, जिसे हम अलग से भी जानते हैं, उसके बारे में आपका सोचना क्या है ?

विचारों का आप विरोध करिये, मुझे आपत्ति नही है, लेकिन एक कलाकार के महत्व को बिल्कुल न मानना···सरासर धांधली है।

वि० ख० : आप जो एक बार कमिट कर चुके हैं उसी पर, उसी वजह से अड़े रहना चाहते हैं।

यह आग्रह नही, सुविचारित धारणा है।

वि० ख० : कभी-कभी रचनाकारों की तुलना भी करनी पड़ती है और एक को दूसरे से उत्कृष्ट भी बनाना पड़ता है। ज्ञानरंजन और निर्मल वर्मा के बीच आपको तुलना करनी पड़े तो ?

निराला के प्रति मेरे मन मे श्रद्धा है, मुक्तिबोध के प्रति भी मेरे मन मे आदर है। इसके बावजूद अगर दोनों की कवि के रूप मे तुलना करनी ही पड़े तो मैं स्पष्ट कहूंगा कि निराला मुक्तिबोध से ज्यादा बडे कवि हैं। इसी तरह निर्मल और ज्ञानरंजन और अपने भाई काशीनाथ सिंह इनके बीच अगर मुझे निर्णय देना पड़ेगा तो मैं कहूंगा कि निर्मल वर्मा, ज्ञानरंजन और काशीनाथ दोनों से ज्यादा बडे कहानीकार हैं।

वि० मो० सिंह : आपका यह वक्तव्य बहुत महत्वपूर्ण है।

उ० प्र० : लेकिन अभी आपने जो कहा था कि उनकी कहानियों के बारे में आपकी धारणा में कोई परिवर्तन हुआ है ?

निर्मल वर्मा का, उनकी जीवन-दृष्टि का, उनकी राजनीति का, जिस रूप में विकास हो रहा है उसे मैं बहुत गलत समझता हूं। बावजूद इसके उनका जो साहित्यिक सृजन है और उसका जो साहित्यिक महत्व है, उससे मैं इनकार नहीं कर सकता। मैं अज्ञेय से असहमत हूं, उनके विचारों को गलत मानता हूं, इसका मतलब यह नहीं कि हमारे ही विचारों को मानने वाले किसी मामूली लेखक से उनको घटिया रचनाकार घोषित कर दू। साहित्यिक आलोचना के ऐसे निष्कर्षों के बारे में, खास तौर से मार्क्सवादी आलोचना के बारे में, काफी गंभीरता और विस्तार से बात होनी चाहिये। लेखक की राजनीति और लेखक की जीवन-दृष्टि और लेखक के साहित्य के बीच क्या रिश्ता होता है यह इतना बड़ा मुद्दा है कि इस पर विस्तार से बात होनी चाहिये। किसी साहित्यिक कृति के मूल्यांकन में राजनीतिक विचार हमेशा निर्णायक नहीं होगा। लेखक की राजनीति, उसकी संपूर्ण जीवन-दृष्टि या विश्व-दृष्टि नहीं है, वह उस विश्व-दृष्टि का एक अंश है जिसमे लेखक का सौंदर्यबोध निर्धारित होता है और जिसकी अभिव्यक्ति स्वयं साहित्यिक कृति है। यहा यह भी विचारणीय है कि किसी कृति के अंदर लेखक की राजनीति तथा चित्रित जीवन यथार्थ मे कभी-कभी अंतर्विरोध भी होता है। इसलिए किसी कृति के मूल्य-निर्णय मे ऐसे अनेक जटिल प्रश्नों पर ठोस ढंग से विचार जरूरी है।

वि० ख० : एक प्रश्न। रमेशचन्द्र शाह की आलोचना के बारे में है ?

रमेशचंद्र शाह की कौन सी आलोचना आपके ध्यान में है ?

वि० ख० : कोई निश्चित निबंध तो नहीं है लेकिन उनके लेखन या चिंतन ने जो वातावरण क्रिएट किया है उससे लगभग सभी मानते हैं कि वे एक महत्वपूर्ण आलोचक हैं। यहां तक कि आधे से ज्यादा मार्क्सवादी भी यह मानते हैं। रमेशचन्द्र शाह इस वक्त एक ऐसे समीक्षक-आलोचक हैं जो मुसलसल साहित्य पर चिंतन करते आये हैं। साहित्य पर उनका चिंतन स्पेशिफिक भी है और सामान्य भी। 'मलयज' में यह चीज मुझे दिखाई नहीं पड़ती। हालांकि मलयज भी इसी तरह के गैर-मार्क्सवादी लेकिन महत्वपूर्ण आलोचक हैं। यह अलग बात है कि छिटपुट आलोचना उन्होंने लिखी है। तीसरे अशोक वाजपेयी' हैं। इन तीनों आलोचकों का कम से कम अज्ञेय जी के समान मार्क्सवाद से उतना विरोध नहीं है। मलयज के पास 'ह्यूमन कन्सर्न' है जो ज्यादा धारदार है। अच्छी रचना और जीवन से जुड़ने का सारा प्रयत्न और सामान वहां है। बल्कि मैं कहूंगा कि काफी 'कन्संट्रेटेड आलोचना उसकी है। शाह साहब, मलयज या अशोक वाजपेयी से इस आधार पर अलग हो जाते हैं कि वे पंत को भी मानते हैं।

उ० प्र० : कम से कम मलयज अपने विचारों में इतने उदार नहीं हैं। शायद अपने विचार और अपनी आलोचना के बारे में वे बहुत निश्चित हैं, अज्ञेय को उन्होंने कभी भी बहुत अच्छा कवि नहीं माना है। अज्ञेय के साहित्य-चिंतन या उनकी रचना से भी वे उतने प्रभावित नहीं हैं, जितने रमेशचंद्र शाह हैं। इस बातचीत में कुंवरनारायण को भी सम्मिलित कर लें। अब आप यह बताएं कि रमेशचंद्र शाह मलयज और कुंवरनारायण के बीच निश्चित सैद्धांतिक दूरी क्या है? इनके लेखन को आप आज के साहित्य के मूल्यांकन के संदर्भ में कितना उपयोगी मानते हैं? क्या आपको कभी ऐसा लगता है कि ये तीनों आलोचक किसी ऐसी कमी को पूरा करते हैं, जहां मार्क्सवादी आलोचकों की दृष्टि सीमित रह जाती है। ये मार्क्सवादी आलोचना की समझ को एनरिच करते हैं, समृद्ध करते हैं या उनको गड़बड़ाते हैं, कन्फ्यूज करते हैं या धुंधला करते हैं।

मैंने आलोचना में इन तीनों आलोचकों को समय-समय पर छापा है। वरिष्ठता के क्रम से सबसे पहले कुंवरनारायण को लें। कुंवरनारायण ने मेरे संपादन में निकलने वाली आलोचना के पहले अंक में अधूरे साक्षात्कार की समीक्षा की थी। इसके अतिरिक्त लाल टीन की छत की समीक्षा भी उन्होंने की थी।

उन्होंने कम लिखा है, लेकिन उनमें जो समझ है, जो दृष्टि और जो पकड़ है वह अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देती। मैं यह भी कहूंगा कि कुंवरनारायण गैर-मार्क्सवादी आलोचक हैं, लेकिन जो ह्यू मन कन्सर्न निश्चित रूप से उनके पास है, जो दृष्टि उनके पास है, अपनी सीमाओं के बावजूद, वह महत्वपूर्ण है। उन्होंने खुद भी अपनी दृष्टि की सीमाएं बतायी थी। आलोचना का क्या रूप होना चाहिये और उपन्यास के विश्लेषण मे आलोचना की किस पद्धति को अपनाया जाना चाहिये—इस पर भी उन्होंने लिखा है। इसीलिए कुंवरनारायण को मैं एकदम कलावादी आलोचक नही कहूंगा। साहित्य की जिन कृतियों की, कहानियों और उपन्यासों की समीक्षा उन्होंने की, वह अच्छी समीक्षाएं थी। यशपाल के उपन्यास—झूठा सच की भी उन्होंने समीक्षा की है और प्रशंसा भी। किंतु यह टिप्पणी की है कि पात्रो के संघर्ष मे जीवन के प्रति आसक्ति तो है, पर आस्था नहीं। मुझे लगता है कि यह टिप्पणी यशपाल से अधिक कुंवरनारायण की आस्था की सीमा प्रकट करती है। फिर भी मैं कुवरनारायण को एक महत्वपूर्ण आलोचक मानता हूं।

वि० ख० : आपने कहा कि कुंवरनारायण मार्क्सवादी नहीं हैं लेकिन उनके यहां ह्यू मन कन्सर्न है। जैसा कि मुक्तिबोध पर लिखे एक लेख में यह स्पष्ट होता है। उस लेख में तो कुंवरनारायण बिल्कुल मार्क्सवादी पदावली का उपयोग करते हैं। लगभग मार्क्सवादी बनते हुए बात करते हैं। अब यदि उनमें ह्यू मनकंसर्न भी है और मार्क्स-वाद भी, तो गड़बड़ कहां है।

नहीं, गड़बड़ मैं नही कहूंगा। दरअसल ह्यू मन कन्सर्न की भी एक सीमा होती ही है। कुंवरनारायण को एक तरह का डेमोक्रेटिक या उदार जनवादी आलो-चक कहा जा सकता है। मुक्तिबोध वाले लेख मे जीवन के प्रति लगाव और सामाजिकता के प्रति उनकी मानसिक चिंता से यह स्पष्ट हो जाता है, लेकिन जहां साहित्य सामाजिक बदलाव में एक निश्चित प्रकार की सक्रिय भूमिका अदा कर सकता है, यानी जिस हद तक कोई मार्क्सवादी आलोचक जाना चाहेगा, ऐसा लगता है कि उस बिंदु के कुछ पहले ही कुवरनारायण ठिठक जाते हैं या रुक जाते हैं।

वि० ख० : इसका मतलब तो यह हुआ कि जो ज्यादातर मार्क्स-वादी आलोचक या चिंतक हैं, आजकल जिनका दबाव साहित्य जगत् पर है, उनकी तथाकथित आलोचना के सामने कुंवर-नारायण सरीखे तथाकथित अमार्क्सवादी आलोचक की आलोचना

ज्यादा श्रेयस्कर है। कम-से-कम साहित्य की रचनात्मकता के आयामों को ध्यान में रखते हुए।

आप एक पद्धति के उत्कृष्ट आलोचक के साथ मार्क्सवादी आलोचना के घटिया आलोचकों की तुलना करके जो निष्कर्ष निकालना चाहते हैं, वह भ्रामक है। कुंवरनारायण की आलोचना, आलोचना-पद्धति, परिस्थितियों का दबाव और उसके प्रति संवेदनशीलता आदि को आप कुंवरनारायण के युगचेतना वाले दौर के लेखों और अब मुक्तिबोध वाले लेख की तुलना करके देखें। एक निश्चित विकास की दिशा दिखाई पड़ेगी। ह्यूमन कन्सर्न का कंसेप्ट कुंवरनारायण के यहां बढ़ता जा रहा है। परिस्थितियों के दबाव से कुंवरनारायण का विकास एक किताबी मार्क्सवादी के रूप में नहीं, लेकिन एक अच्छे लिबरल डेमोक्रेट आलोचक के रूप में हुआ है, जो प्रगतिशील चिंतन और प्रगतिशील साहित्य के लिए मूल्यवान है।

मलयज के भी कई लेख मैंने आलोचना में आग्रह करके छापे हैं। जहां तक साहित्य में सामाजिक चिंता का प्रश्न है मलयज में वह कुंवरनारायण से भी एक कदम आगे बढ़ी हुई है। जो अज्ञेयवादी या परिमलीय साहित्य-चिंतन रहा है, उसकी सीमाओं का अतिक्रमण करके, बल्कि उसका विरोध करके मलयज ने साहित्यिक कृतियों पर विचार किया है। फिर भी मुझे कभी-कभी लगता है कि मलयज भी अपनी सीमाएं सामने ले आते हैं। जैसे—अपनी किताब कविता के साक्षात्कार में उन्होंने त्रिलोचन पर एक लेख लिखा है। मलयज की जो सूक्ष्म अंतर्दृष्टि शमशेर की कविताओं के विश्लेषण में दिखाई पड़ती है, वहां नहीं है। त्रिलोचन की कविता के मूल मर्म तक मलयज पहुंच नहीं पाते हैं। एक अमूर्त भारतीयता के साथ त्रिलोचन के संबंध को उद्घाटित करते हुए वे ठहर जाते हैं। शमशेर या मुक्तिबोध की कविताओं की आलोचना में जिस जागरूकता का परिचय मलयज ने दिया है, त्रिलोचन के संदर्भ में वह अनुपस्थित है। संभव है कि नागार्जुन पर लिखते समय मलयज की दृष्टि और स्पष्ट हो और शायद उसकी सीमाएं भी सामने आएं। फिर भी मलयज खास तौर से कविता के लिए मुझे अधिक गंभीर और बारीकी में जाने वाले आलोचक लगे हैं। यद्यपि उनकी यह पुस्तक कविता से साक्षात्कार मुझे विषम भी लगी और अंशतः कमजोर भी।

मलयज, अशोक वाजपेयी और कुंवरनारायण की तुलना में रमेशचंद्र शाह सबसे ज्यादा दुर्बल हैं। मुझे रमेशचंद्र शाह आलोचक से ज्यादा आस्वादक लगे हैं। पुराने संस्कृत काव्यशास्त्र में जिसे भावक कहा गया है। वे स्वाद लेने वाले और स्वाद प्रदान करने वाले आलोचक हैं। इसीलिए उनकी आलो-

चना भी आम तौर पर ऐसे ही रचनाकारों को समर्पित है। आलोचना के लिए कृति या रचना का चुनाव भी बहुत महत्वपूर्ण है। रमेशचंद्र शाह के साथ-साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वह एक निकृष्ट कृति पर भी उसी गंभीरता से लिखते हैं, जितनी गंभीरता से किसी उच्च कोटि के ग्रंथ पर। दोनों के लिए उतना ही गंभीर, उतना ही बड़ा और उतना ही विस्तृत निबंध।

> **वि० प्र० : अभी ही उन्होंने कुछ रद्दी कविता संग्रहों पर बहुत गंभीर लेखन किया है।**

सही है कहना आपका। लगता है वे पुस्तकों को चुनते नहीं। आलोचना के लिए जो भी कृति उनके सामने आ जाये, उस पर लिख देते हैं। आलोचक में यह विवेक होना चाहिये कि वह निर्णय ले कि उसे किस कृति या पुस्तक पर नहीं लिखना है। लिखने लायक और न लिखने लायक का विवेक उसमें होना ही चाहिये। इसी विवेक के अभाव में आलोचक भावक और आस्वादक बनकर रह जाता है। फिर भी प्रतिष्ठित कृतियों के बारे में उन्होंने ज्यादा अच्छा लिखा है। छायावाद पर लिखी उनकी पुस्तक एक अच्छी पुस्तक है और उनका समानांतर संग्रह भी अच्छा है। रमेशचंद्र शाह की आलोचना में सबसे बड़ी कठिनाई उनकी भाषा है। लगता है अपनी आलोचना में वे रचना से होड़ लेने लगते हैं। भाषा का यह रूप यद्यपि मलयज में भी अंशतः है लेकिन रमेशचंद्र शाह की तुलना में वे अधिक स्पष्ट हैं।

> **वि० प्र० : आपको याद होगा कि कुछ वर्ष पहले एक आलोचक के रूप में रमेशचंद्र शाह में आपने कई संभावनाएं देखी थीं। क्या आपको अभी अभी बताये गये ये लक्षण पहले दिखाई नहीं पड़े थे? जबकि मेरा अंदाज है कि कई लोगों ने पहले भी इसे मार्क किया था।**

मेरा वह लेख, जिसमें रमेशचंद्र शाह का जिक्र था, १९७१ में लिखा गया था। पूर्वग्रह तब शुरू नहीं हुआ था। पूर्वग्रह-काल में पूर्वग्रह से जुड़ जाने के कारण, चाही-अनचाही तमाम पुस्तकों पर लिखने के कारण या किसी अन्य कारण से शायद उनमें यह गुण इधर प्रकट हुए हैं।

> **वि० प्र० : आलोचना की भाषा के बारे में आपने कुछ बातें कही हैं। रमेशचंद्र शाह के विपरीत अशोक में आप यह बात नहीं पायेंगे। अशोक में शब्दाडम्बर कम है और अपनी तरह की शार्पनेस है। जो कुछ वह कहना चाहता है और कह रहा है उसके लिए उसे कोई**

भ्रम नहीं है। क्या आप अशोक के कला-चिंतन पर कुछ कहना पसंद करेंगे। लेकिन इस बात के साथ, कि अशोक ने आलोचना की जिस विशिष्ट भाषा को रचा और उसमें से कुछ शब्दों का प्रचलन भी हुआ, उसकी क्या भूमिका है?

यह बातचीत **पूर्वग्रह** मे छपने वाली है और अशोक जी उनके संपादक है। शायद उनके लिए मेरी बातें धर्मसंकट बन जाएं। फिर भी **आलोचना** में आग्रह करके मैंने अशोक से भी लिखवाया है। अपने समय का एक बहुत विवादास्पद लेख **विचारों से बिदाई**, **आलोचना** मे ही छपा था। उस पर गोष्ठी भी हुई थी। उनके लेखो का संग्रह फ़िलहाल भी आ चुका है लेकिन उसके बाद **पूर्वग्रह** मे संपादकीय के अतिरिक्त अशोक ने कम लेख लिखे हैं। मेरा ख्याल है कि अपने समकालीन साहित्यिक परिवेश के किसी एक कोण, किसी एक पहलू या किसी एक समस्या पर तेज-तर्रार और स्पष्ट वक्तव्य देने वाले लेख अशोक ने ज्यादा लिखे है। कुछ लेख ऐसे भी हैं जिन्हे एक खास तरह की जरूरत का दबाव महसूस करते हुए लिखा गया है। ऐसी स्थिति मे सामान्य कथन और साफ वक्तव्य की जरूरत होती है। शुरू के दिनों मे अज्ञेय के कविता-संग्रह पर और श्रीकांत वर्मा पर भी उन्होने गंभीर समीक्षाएं लिखी थी। फिर भी कुछ निश्चित कृतियों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए ऐसी समीक्षाएं अशोक ने कम लिखी है। साहित्यिक प्रवृत्तियो पर अपने प्रसंगानुकूल सामान्य वक्तव्य जरूर दिये हैं। लेकिन एक बात मैं कहना चाहूंगा कि सृजन को दिशा-निर्देश करने वाली ऐसी आलोचना जो उच्चकोटि की पत्रकारिता के स्तर की हो, वहां अशोक की प्रतिभा विशेष रूप मे प्रस्फुटित हुई है। खास तौर से जब उन्होने किसी विवादास्पद स्थिति मे हस्तक्षेप किया है। उनकी आलोचना की भाषा साफ-सुथरी और असरदार है। उन्होने कुछ नये शब्द भी दिये हैं। पर मुझे अशोक की भाषा के साथ एक दिक्कत महसूस होती है। उनकी भाषा पर अंग्रेजी के वाक्य-विन्यास का काफी असर है। और कभी-कभी तो अंग्रेजी के मुहावरे को हिंदी मे अनुवादित करने की कोशिश भी उनमें दिखाई पड़ती है, जैसे—एकांत नागरिकता, मानवीय अनुपस्थिति, धुंधई आलोचना वगैरह। जहां उन्होने आलोचना के लिए अच्छे शब्द अवश्य दिये हैं, वहीं वे, दुर्भाग्यवश, आलोलना को पत्रकारिता के स्तर तक गिरा देने के दोषी भी हैं, जिनका अनुकरण **पूर्वग्रह** मे लिखे अनेक लेखों में दिखाई पड़ता है। नये आलोचकों की एक पूरी पीढी सामने आयी है जो अशोक वाजपेयी की भाषा के सरोकार से बंधी है। जिस भाषा का उपयोग आलोचना [illegible] भाषा की शास्त्रीय जड़ता को तोडने के लिए होना चाहिये था उसे मे आलोचना [illegible]

मुहावरों में बदल चुके हैं।

उ० प्र० : आपने आलोचना में जिस ह्यूमन कन्सर्न की बात की थी उसके संदर्भ में अशोक जी जिन मूल्यों की बात करते हैं, उसके प्रति आप क्या कहना चाहेंगे ? उन्हें आप किस जगह रखेंगे ?

अगर रखना ही हो, तो वह ह्यूमन कन्सर्न मलयज में सबसे ज्यादा है। फिर कुवरनारायण मे और उसके बाद अशोक वाजपेयी मे। इस क्रम से सबसे नीचे रमेशचंद्र शाह है। दो ऐसे बिंदु और है जिनसे अशोक की आलोचना पर विचार करना चाहिये। एक ओर वे अज्ञेयवादियो के कलावाद की सीमाएं जानते हैं। दूसरी तरफ जीवन-संघर्षों से भरी सामाजिकता से संबद्ध ह्यूमन कन्सर्न की दिशा में वे एक सुरक्षित हद तक ही आगे बढते हैं। वे सामान्यत: मानवीय मालूम होते हैं। किसी कविता मे वे यदि मानवीय अनुपस्थिति महसूस करते हैं तो उसकी ओर संकेत करते है। लेकिन इस मानवीय अनुपस्थिति का मूर्त्त रूप सामाजिक संघर्षों मे साधारण जनता के अनुभवो से कहा तक जुडा है ? इस पर भी वे चुप रहते हैं। मुक्तिबोध एक ऐसे कवि हैं जहा अशोक अपने आप को चरम बिंदु तक उद्‌घाटित कर सकते थे लेकिन वहा भी वे मुक्तिबोध के ह्यूमन कन्सर्न से बहुत पीछे दिखाई पड़ते हैं। यानी अकेले मुक्तिबोध को कसौटी मानकर हम यदि कुवरनारायण, मलयज, अशोक वाजपेयी और रमेशचंद्र शाह—इन चारों आलोचकों को परखें तो फीते से नाप सकते हैं कि कितने इच कौन सा कन्सर्न मुक्तिबोध के निकट या दूर है। देखा जा सकता है कि कौन क्या स्वीकार करता है, क्या अस्वीकार कर देता है या कहा चुप रहता है। इसलिए मुक्तिबोध एक हद तक आपके लिए एक सुविधाजनक परिमापक हैं।

उ० प्र० . उस समय जब साहित्य में लगभग अनुभूतिवाद और क्षणवाद ज्यादा उभरकर सामने आ रहा था और जब विचार और राजनीति के साथ रचना या कविता के संबंधों को काट देने की बात की जा रही थी तब जिन आलोचकों ने पहली बार विचार और रचना या राजनीति और कविता के संबंधों की स्पष्ट बात की थी उस संदर्भ में अशोक वाजपेयी की भूमिका के बारे में आप क्या कहेंगे ?

आलोचना का संभवत: छठा अंक मैंने मुक्तिबोध पर निकाला था। कविता और राजनीति के सबंधो पर मैंने अशोक वाजपेयी और श्रीकांत वर्मा से निबंध लिखवाये थे। यह बात बहुत पुरानी है, १९६८ के आसपास की। उसमे भी

कविता और राजनीति के संबंध की बात अशोक ने की है। यद्यपि वह बहुत सामान्य है फिर भी खास तौर से अज्ञेय आदि की भूमिका की तुलना मे उसका अपना महत्व है। कविता और राजनीति का रिश्ता सामान्य धरातल पर तय करने से बात नही बनेगी। राजनीति जब अमूर्त्त होती है। तो बडी सुरक्षा महसूस होती है। वह लेख सामान्यताओ से घिरा हुआ लेख है। प्रश्न यह है कि कौन सी राजनीति ? व्यवहार मे अशोक प्रगतिशील लेखकों से अपना संबंध जोडते हैं। हरिशंकर परसाई, मुक्तिबोध, शमशेरबहादुर सिंह आदि कई पुराने-नये प्रगतिशील लेखको से उन्होने संबंध जोडा है। दूसरी तरफ संतुलन बनाये रखने के लिए उन्होने दूसरे लेखको से भी अपना सबध बनाये रखा है जिससे एक निष्पक्षता का रूप तो खड़ा हो ही। मैं नही जानता कि प्रगतिशील लेखको—जैसे हरिशंकर परसाई के लेखन के बारे मे उनका क्या स्पष्ट दृष्टि-कोण है ? मुझे लगता है कि विशेष प्रकार के राजनीतिक चिंतन की कुछ कवि-ताओं या कृतियों को यदि अशोक पसंद करते है तो सिर्फ एक मानवीयता के धरातल पर। बहुत सारी चीजों को वे आपत्तिजनक मानते हुए चुप रह जाते हैं।

उ० प्र० : अगर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों को ध्यान में रखे तो शीतयुद्धीन मानसिकता से परिचालित ऐसे घोर प्रतिक्रिया-वादी विचारक, लेखक आपको मिलेंगे जो विचारधारा की शून्यता 'एण्ड आॅव आइडियालॉजी' की बात करते हैं। उनकी तुलना मे अशोक वाजपेयी कम-से-कम समाज, विचारधारा और राजनीति के साथ रचना के संबंधों को नकारने की बात नहीं करते।

ऐसी बात बूर्ज्वा लिबरल या बूर्ज्वा डेमोक्रेट भी करता है कि राजनीति और साहित्य मे संबंध है। अगर ध्यान दें तो अशोक वाजपेयी के करीब आज की जो नयी पीढी है वह अपने को प्रतिपक्ष का कवि, साहित्यकार या सामान्य जनता का साहित्यकार कहती है। मोटे तौर पर, वह अपने को वामपंथी भी कहती है। यह सही है कि चिंतन और लेखन के धरातल पर अशोक का सीधा संबंध वामपंथ से नही है। इसे वे खुद स्वीकार करते हैं। लेकिन इसी आधार पर जो कुछ लोग अशोक को शुद्ध कलावादी, शुद्ध कवितावादी या मार्क्सवाद-विरोधी कहना चाहते है, मैं उनसे सहमत नही हूं।

उ० प्र० . अगर उनकी तुलना कुछ दूसरे ऐसे लेखकों से की जाये जिनमें सामाजिक और मानवीय चिंता तो है लेकिन किसी निश्चित विचारधारा या विचारदृष्टि का अभाव है जैसे 'सी० एम० बावरा' या प्रारंभिक दिनों के 'रेमण्ड विलियम्स'। क्या अशोक जी को

हिंदी का ऐसा ही लेखक मानना चाहिये ?

नहीं भाई। बावरा तो ऐसे आलोचक थे जैसे हिंदी में आचार्य नन्ददुलारे वाज-पेयी। उनमें अशोक की तुलना करना ठीक नहीं होगा। यदि तुलनीय नाम देना ही हो तो तत्काल एक नाम मेरी जुबान पर आ रहा है— ए० अल्वारेज। इसका यह मतलब नहीं कि वे बिल्कुल वैसे ही आलोचक हैं लेकिन सहज रूप से मेरे सामने इस समय वही नाम आ रहा है। अशोक वाजपेयी, रमेशचंद्र शाह की तरह आस्वादवादी नहीं है, उनमे एक निश्चित लड़ाकूपन है।

> नेमिचंद्र जैन : साहित्य या किसी भी सृजनात्मक अभिव्यक्ति को समझने के लिए यह जरूरी होता है कि एक विचार-दृष्टि हो। आपकी विचार-दृष्टि क्या है ? इस जमाने में जबकि आपके लेखन को कई साल गुजर चुके हैं उसकी स्थिति क्या है ? कौन-से ऐसे बुनियादी विचार हैं जो प्रासंगिक हैं ?
>
> वि० ख० : एक ऐसे अच्छे खाते आलोचक से, जिसे एक जमाने में लोग क्रिटिसिज्म का प्रतीक मानते रहे हों, यह पूछा जा सकता है कि आखिर आपकी आलोचना के बेसिक 'टेनेट्स' क्या हैं ? कोई भी आलोचक यह कहकर नहीं बच सकता कि मेरे तो कोई 'नार्म्स' ही नहीं हैं, मैं तो कृति की राह से गुजरता हूं···
>
> वि० मो० सिंह : आपने व्यावहारिक समीक्षाएं भी लिखी हैं। आपकी व्यावहारिक समीक्षा में कौन-सा ऐसा बुनियादी 'स्टैंडर्ड' है जिसके आधार पर आप निर्मल वर्मा को 'इवैल्यूएट' करते हैं। अमरकांत को भी कहते हैं या किसी और भी लेखक को।

मैं सृजनात्मक साहित्य से आलोचनात्मक साहित्य को बहुत भिन्न नहीं मानता। यह तो वैसी ही बात है। जैसे किसी भी सर्जक से आप ये पूछें कि आप पहले से क्या-क्या तय करके वास्तविकता का चित्रण या अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करने चलते हैं ? यानी जैसे किसी सर्जनात्मक कृति को कुछ मुख्य सिद्धांतो में रिड्यूस नहीं किया जा सकता वैसे ही मेरी पक्की धारणा है कि किसी आलो-चनात्मक कृति को भी कुछ सूत्रों में रिड्यूस नहीं किया जा सकता।

> वि० मो० सिंह : फिर आप प्रतिमान की बात क्यों करते रहे हैं ?

मैने तो प्रतिमान-निर्माण के सामने प्रश्नचिह्न लगाया है। कविता के प्रतिमान में स्पष्ट कहा गया है कि निष्कर्षस्वरूप नये प्रतिमान एक जगह सूत्रबद्ध नहीं हैं क्योंकि इससे रूढ़ियां बनती हैं जो अनुपयोगी ही नहीं बल्कि घातक भी हैं।

आपको तो लीविस-वेलेक विवाद याद होगा। सन् ३६ मे जब डॉ० एफ० आर० लीविस की पुस्तक **रिवैल्यूएशन** निकली तो रेने वेलेक ने उसकी प्रशंसा करने के साथ ही लीविस से यह मांग की कि वे अपने प्रतिमानो को स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत करें। जवाब मे लीविस ने **लिटरेरी क्रिटिसिज्म एण्ड फिलासफी** शीर्षक लेख लिखा, जिसमे उन्होंने कुछ इस तरह की बात की है कि मूल्यांकन के प्रतिमानों को सूत्रबद्ध करना आलोचक का काम नहीं है, दार्शनिक का काम हो तो हो, क्योंकि आलोचना की प्रक्रिया दर्शन से भिन्न है। कविता के एक पाठक के नाते आलोचक निश्चय ही मूल्याकन करता है किंतु वह कही बाहर से मानदड लाकर कृति पर न तो लागू करता है और न उसे इस तरह मापता ही है। किसी कृति के काव्यानुभव को वह यथा संभव अधिक से अधिक आयत्त करने का प्रयत्न करता है, निश्चय ही आयत्तीकरण की इस प्रक्रिया मे मूल्याकन भी अंतर्निहित होता है। किंतु अंतिम मूल्य निर्णय करते समय वह आलोच्य कृति की किसी सैद्धातिक प्रणाली के अंतर्गत स्थित नही करता, बल्कि अन्य सजातीय कृतियों के बीच उसका स्थान निश्चित करता है। अब कोई चाहे तो मूल्याकन की इस प्रक्रिया मे से अपनी सुविधा के लिए मूल्यो की प्रणाली को खोजकर सूत्रबद्ध कर सकता है, किंतु यह आलोचना-कर्म का अनिवार्य अंग नही है, बल्कि गौण पक्ष है। इसलिए किसी आलोचक से स्पष्ट प्रतिमान की मांग वही करते हैं जो आलोचना की प्रक्रिया से या तो सर्वथा अनभिज्ञ हैं या उससे बचाना चाहते है। दरअसल यह बहुत कुछ अध्यापकीय माग है।

इस प्रसंग में मैं राजनीति के क्षेत्र से भी एक उदाहरण देना चाहता हूं। तीसरे दशक में **बुखारिन** ने मार्क्सवाद का एक **मैनुअल** लिखा। जानते हैं, **ग्राम्शी** ने उस **मैनुअल** की आलोचना करते हुए क्या कहा ? ग्राम्शी ने यह सवाल उठाया कि जो सिद्धात अभी विकास की प्रक्रिया मे है, जो बहस-मुबाहसे के दौर से गुजर रहा है, उसका **मैनुअल** तैयार करना कहां तक संगत है ? जवाब साफ है कि वर्तमान स्थिति मे मार्क्सवाद विवाद-प्रतिवाद और निरंतर संघर्ष के रूप मे ही प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रसंग में ग्राम्शी ने मार्क्स की **अठारहवीं ब्रूमेर, फ्रांस में गृहयुद्ध** जैसी उन रचनाओ को ज्यादा मूल्यवान माना जिनमे ठोस ऐतिहासिक विश्लेषण के द्वारा मार्क्सवादी सिद्धातो को प्रकाशित किया गया है।

ऐसी स्थिति में आज यदि मैं मार्क्सवादी आलोचना के सिद्धातो को सूत्रबद्ध करने से इनकार कर रहा हूं तो वह किसी प्रकार का बौद्धिक पलायन नही, बल्कि मार्क्सवाद और आलोचना दोनों की अंत:प्रकृति के सर्वथा अनुरूप ही है।

ने० जैन : आप किस विचारधारा के आलोचक रहे हैं ?

वह विचारधारा साहित्य मे जिस रूप में लागू करता हूं उसको आप कहे कि कुछ सूत्रों में एक, दो, तीन, चार, पांच करके गिना दू, रिड्यूस कर दू तो मैं इस रिडक्शनिज्म का विरोध करता हूं। लेकिन इसका यह अर्थ नही कि मेरे सिद्धांत ही नही रहे।

वि० मो० सिंह : अच्छा आप अपने सिद्धांत तो बतलाइये ?

सिद्धांत बतलाने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? सिवा इसके कि उससे आपको हवाई सैद्धांतिक बहस मे कुछ सुविधा होगी। अन्यथा किसी कृति को समझने मे उससे क्या मदद मिलती है ?

उ० प्र० : एक प्रश्न है कि आलोचना रचना की संवेदना, अनुभूतियों, भाषा आदि का विश्लेषण करने के साथ-साथ कुछ आगे बढ़कर एक काम और करती है जिसे हम वैल्यू जजमेंट कहते हैं, मूल्यपरक निर्णय। जब हम आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बारे में बात करते हैं तो कहते हैं कि मूलतः उनकी आलोचना लोक-मंगलवादी है या आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के बारे में कहते हैं कि बुनियादी रूप से वे मानवतावादी चिंतक हैं। इसी तरह की कैटेगरीज में आपकी आलोचना के बारे में कुछ तो कहा ही जा सकता है।

आचार्य शुक्ल जिस तरह से साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन 'विश्लेषण' कर रहे थे उसी के आधार पर उनके बारे में ऐसा कहा जाता है। लेकिन स्वयं शुक्ल जी ने अपने सिद्धांत की कोई अलग से चर्चा नही की। उनके बारे मे इन कैटेगरीज का इस्तेमाल हम कर रहे हैं, शुक्ल जी नही। इसी तरह मेरी आलोचना के बारे में कोई समग्र कैटेगरीज की बात कोई और चाहे कर सकता है, मुझे अलग से उसे कुछ सूत्रों या सूक्तियों के भीतर समेटना गलत लगता है।

वि० मो० सिंह : आप बताइये कि वो कौन से टूल्स हैं, या वह मेथडॉलॉजी कौन सी है जिसके आधार पर आप निर्मल वर्मा की कहानी 'परिंदे' की भी प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर अमरकांत की 'हत्यारे' की भी। शिवप्रसाद सिंह की 'कर्मनाशा की हार' की भी प्रशंसा करते हैं ?

कर्मनाशा की हार की प्रशंसा मैंने नही की है। हां, हत्यारे की और निर्मल वर्मा की परिंदे की तारीफ मैंने जरूर की है।

वि० मो० सिंह : कविताओं के बारे में भी यही बात है।

ने० जैन : नामवर जी ने पहले क्या-क्या लिखा है— इसके बजाय यदि हम सामयिक रचनाओं के बारे में, आज की हालत के बारे में बात करें, तो ज्यादा सार्थक होगा। बार-बार निर्मल वर्मा के 'परिंदे' और 'लंदन की एक रात' के बारे में बात······।

बात होने दीजिये, अगर सरलीकरण ही चाहते हैं ये लोग, संक्षेप मे ही सुनने की आकांक्षा है तो सुन लीजिये कि रचना को जाचने का काम मैं सौदर्यशास्त्र की दृष्टि से करता हूं।

वि० ख० : यानी 'ऐस्थेटिक प्वाइंट ऑव् व्यू' से। कला की शर्तों पर···।

हा, और एक बात यह भी स्पष्ट हो जानी चाहिये कि कला की शर्तें जीवन की शर्तों के अतिरिक्त भी होती है। मसलन जैसे भीष्म साहनी का नया नाटक है कबीर, अब उसमें जीवन-दृष्टि ठीक है, मूल्य ठीक है, विचार ठीक है, इसके बावजूद अगर नाटक के रूप मे कबीर कमजोर है तो इसका कारण क्या हो सकता है ? यही न, कि कला की दृष्टि से उसमें कोई खामी है। नाटक के अपने कुछ नियम है कि नही ? यानी कबीर में जो विचार हैं, जो दृष्टि है, *वह नाटक के रूप मे ठीक से व्यक्त नही हो पाये, नाटक के समूचे स्ट्रक्चर मे* वे मिल नही पाये।

ने० जैन : क्या आप यह मान रहे हैं कि नाटक में बुराई या किसी भी रचना में बुराई विचारो के अच्छा होने के बावजूद भी हो सकती है ? जिसे आप कहते हैं कि एक स्तर और है जो रचना का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

वे विचार, जिनकी घोषणा लेखक करता है नाटक मे, और वे विचार अच्छे हैं, सही हैं······तो प्रश्न यह है कि उस नाटक की रचना-प्रक्रिया, जिसके दौरान वह पूरा किया गया है, उसमे वे विचार कितनी गहराई तक सम्मिलित हुए हैं। उन विचारों को लेखक ने अपने अनुभव-जगत् का, अनुभूति का, अपनी संवेदना का हिस्सा बनाया है या नही।

वि० ख० : ऐसा माना जाता है कि किसी भी व्यक्त रचना में दो पक्ष होते हैं, कला-पक्ष और भाव-पक्ष। आप बताएं कि कौन प्रधान होता है ? अच्छा कंटेंट ही अपना फॉर्म निर्धारित करता है

या अच्छा फॉर्म ही अच्छे फॉर्म में व्यक्त होता है ? भीष्म साहनी के नाटक के बारे में आपका कहना है कि उसमें विचार तो उत्तम हैं, आइडियालॉजी ठीक है लेकिन नाटक खराब है। इसका अर्थ यह हुआ कि भीष्म साहनी 'इनकम्पीटेंट' हैं, एक लेखक के रूप में।

भीष्म साहनी नाटककार के रूप मे अयोग्य तो नही है। इसका प्रमाण है उनका उत्कृष्ट नाटक हानुश। अंतर्वस्तु और रूप की जिस एकता की बात आप करते है, वैसी बात रोमेण्टिसिस्ट भी किया करते थे। दूसरी बात आपने कही कि अंतर्वस्तु ही बिना किसी निश्चित प्रक्रिया से गुजरे अपना रूप धारण कर लेती है, यह बात मेरी समझ मे सही मार्क्सवादी दृष्टि नही है। रोमेण्टिसिस्ट ने जिस अंतर्वस्तु और रूप की एकता की बात की है वह अन-डाइलेक्टिकल है। वस्तु और रूप दोनों होते हैं और दोनों में द्वंद्वपूर्ण तनाव होता है। कभी-कभी यह अंतर्विरोधी लगता है, कभी-कभी नही।

वि० मो० सिंह : यह बात 'मार्क्सवादी' है या 'नयी समीक्षावादी' ? वे भी टेंशन की बात कहते हैं, टेक्सचर और स्ट्रक्चर के बीच।

टेक्सचर और स्ट्रक्चर दोनों फॉर्म ही हैं जिनके बीच नये समीक्षावादी तनाव की बात करते हैं। मैं रूप और अंतर्वस्तु के बीच संबंधों की बात कर रहा हूं। भारतीय काव्य-शास्त्र मे इसी तरह शब्द और अर्थ के संबंध को नित्य माना गया है और नित्य संबंध हमेशा अनडाइलेक्टिकल ही होगा।

वि० मो० सिंह : 'रैन्सम' ने भी 'तनाव' का इस्तेमाल किया है।

रैन्सम का तनाव बिल्कुल भिन्न है। वह फॉर्म और कंटेंट के बीच द्वंद्वपूर्ण तनाव की बात नहीं करता। आप लोग पहले भ्रम दूर कर लें फिर बातें की जाएं तो ज्यादा अच्छा होगा। दूसरी बात कि स्ट्रक्चर और टैक्स्चर के बीच तनाव की बात रैन्सम ने नही एलन टेट ने की है। जहां तक मैं जानता हूं न्यू क्रिटिक रूप और वस्तु के डाइलेक्टिकल संबंधो की बात नही करते। ये दोनो समीक्षक भी नहीं करते। जब मैं कला के कुछ अतिरिक्त नियमों की बात करता हूं तो वह भी गैर-मार्क्सवादी बात नही है। विचारधारा के हर रूप और क्षेत्र के कुछ अपने विशेष नियम होते हैं। यदि आप किसी बहुत अच्छे मार्क्सवादी रचनाकार को राजनीतिक गतिविधियों मे डाल दें तो क्या होगा ? या किसी सही मार्क्सवादी राजनीतिज्ञ से क्या एक अच्छे चित्र या एक अच्छी कविता की आशा की जा सकती है ? लेनिन जो काम कर सकते थे वह गोर्की नही कर सकते थे फिर भी गोर्की गोर्की थे, उनका अपना स्थान है। सामाजिक चेतना

के विविध रूपों के अपने कुछ विशेष नियम होते है इसीलिए रचना के क्षेत्र में क्रॅफ्टमैनशिप जरूरी है, रचना के अपने नियमों की जानकारी और उनकी दक्षता जरूरी है। वस्तु और रूप की एकता के बावजूद ये विशिष्ट नियम लुप्त नही हो जाते।

वि० मो० सिंह : 'कबीर' नाटक के बारे में आपने कहा कि जीवन-दृष्टि और विचार उसमें श्रेष्ठ हैं फिर भी नाटक कमजोर है। अगर उस नाटक में विचार खराब होते लेकिन नाटक अच्छा होता तो आप क्या निर्णय लेते ?

आलोचना का दायित्व यह देखना भी होता है कि कोई कलाकृति जिन विचारों को व्यक्त करने की घोषणा करती है कहीं अपनी संपूर्णता में वह स्वयं उसका विरोध तो नहीं कर रही है। यदि सैक्युलरिज्म को लेकर लिखे गये नाटक को देखकर दर्शक को सैक्युलरिज्म से ही चिढ़ हो जाये तो कोई-न-कोई कमी नाटक में ही है। इसका मतलब यह है कि एक कलाकृति के रूप मे नाटक ने स्वयं घोषित विचारों के साथ दगा किया है।

उ० प्र० : इस बातचीत से एक बात यह लगती है कि हम 'अंतर्वस्तु' को सिर्फ 'विचार' तक सीमित कर रहे हैं। अंतर्वस्तु ज्यादा व्यापक टर्म है। नाटक में नाटक की पूरी बनावट, उसकी सरचना, घटनाएं, पात्रों के आपसी रिश्ते, उनका चरित्र आदि बहुत-सी चीजें अंतर्वस्तु के ही अंतर्गत आती हैं। केवल विचार ही नहीं।

यह बिल्कुल ठीक है कि अंतर्वस्तु सिर्फ विचार ही नही है। कभी-कभी सुविधा के लिए अंतर्वस्तु को सिर्फ विचार तक रिड्यूस कर दिया जाता है। वस्तु और रूप की एकता तो एक आदर्श है। व्यावहारिक रूप मे बडी-से-बडी रचनाओं मे भी ऐसी एकता नही मिलती। तोल्सतोय के वार एण्ड पीस मे भी यह अंतर्विरोध है। अन्ना केरेनीना मे भी फांक है। महान् से महान् रचनाओ मे भी वस्तु और रूप की वैसी एकता की अवधारणा जो आपके दिमाग मे है, वह नही होती। शेक्सपियर के बारे में ही यह माना गया है कि उसमें रूप और वस्तु की एकता ज्यादा है। यह कोई कसौटी भी नही है कि रूप और वस्तु में एकता होते ही रचना श्रेष्ठ हो जाती है। मलार्मे मे आपको कभी-कभी लगेगा कि रूप और वस्तु में कोई डाइकोटॉमी नही है।

वि० मो० सिंह : 'मलार्मे में' तो फॉर्म ही फॉर्म है। कंटेंट तो है हो नहीं।

ऐसा कभी नही होता। हर रूप का कोई-न-कोई कंटेंट जरूर होता है। यह कहना कि मलार्मे की कविताओ मे कोई कंटेंट ही नही है, गलत बात होगी। अगर मलार्मे की कविताए आपकी संवेदना को, आपके ऐंद्रिक तत्र को प्रभावित करती हैं तो यह केवल फॉर्म का ही प्रभाव नही है। फॉर्म और कंटेंट दोनों अलग होकर अस्तित्व मे रह ही नहीं सकते।

आप मेरे आलोचनात्मक लेखों को ध्यान से देखें तो पाएंगे कि मैंने रचना के विश्लेषण के दौरान रूप के स्तर पर जहां उसमें मौजूद अंतर्विरोधो और दुर्बलताओ की ओर सकेत किया है वही उस रचना के समूचे नैतिक स्खलन की बात भी की है। यह नैतिक स्खलन रचना की जीवन-दृष्टि और विचारधारा से भी सबधित है। निर्गुण या ऊषा प्रियम्वदा की कहानियो के मेरे विश्लेषण की यही पद्धति है। अज्ञेय की कविता असाध्य वीणा का जो विश्लेषण मैंने कविता के नये प्रतिमान मे किया है वह भी इसी पद्धति पर है। रूप-विश्लेषण से अंतर्वस्तु के विश्लेषण की ओर और अंत मे समग्रत मूल्य निर्णय।

> ने० जैन : अपने आलोचनात्मक लेखन में जिस तरह से आपने अपनी आलोचना-दृष्टि रखी है उस पर या अपने समकालीन आलोचकों के बारे में या फिर परवर्ती मार्क्सवादी आलोचना के बारे में आपकी क्या राय है? क्योंकि वहां मान्यताओं की घोषणा, उनकी परिभाषा पहले हुई है और रचना से उन्हीं मूल्यों के आग्रह पर जोर देकर उसका मूल्यांकन किया गया है। क्या एक पद्धति के रूप में मार्क्सवादी आलोचना की भी कोई सीमा है या आपकी यह निजी धारणा है कि पद्धति के रूप में मार्क्सवादी आलोचना चल सकती है? इस मार्क्सवादी दृष्टि की आलोचना से क्या परिणाम पैदा हो रहे हैं? साहित्य की पूरी समझ में उसका क्या असर पड़ रहा है?

इस संदर्भ में मैंने लिखा है कि पहले कह भी चुका हूं कि आलोचना मे अपने विचारो या सिद्धातो की बार-बार दुहाई जरूरी नही है।

> ने० जैन : बार-बार की बात छोड़िये। आप तो सिद्धांत ही बना रहे हैं कि विचारों और सिद्धांतों की घोषणा ही नहीं करनी चाहिये।

आलोचना की वह पद्धति जिसमे बार-बार सिद्धातो की दुहाई हो, रचना के मूल्याकन, विश्लेषण मे असंबद्ध और अलग उनका उल्लेख हो, मुझे गलत लगती है। कुछ मार्क्सवादी आलोचक किसी कृति का मूल्यांकन करते समय

पहले मार्क्स, एंगिल्स, लेनिन या माओ के प्रमाण पर सामान्य सिद्धात कथन करते हैं फिर उस कृति की जांच करते हैं। यह प्रणाली पुरानी शास्त्रीय आलोचना से भिन्न नहीं है : कोई भी बाबा वाक्य प्रमाण विश्लेषण की अक्षमता का पूरक नहीं हो सकता। मार्क्स या लेनिन का प्रमाण किसी आलोचना के प्रामाणिक होने की गारंटी नहीं है। उसी तरह जैसे किसी कविता मे समाजवादी आस्था की घोषणा उस कविता के अच्छे होने की शर्त नहीं है।

ने० जैन : आपकी दृष्टि से मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के साथ राजनीतिक बहस की क्या संभावना है? मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की जो सैद्धांतिक मान्यताएं हैं, अलग से उनका विश्लेषण, उनका विवेचन करना या उन पर बातचीत करना जरूरी है?

जरूरी है।

ने० जैन : आप कहते हैं कि अलग से सैद्धांतिक बातें नहीं होनी चाहिए।

मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र पर या मार्क्सवादी साहित्य पर कोई अलग से विचार करना चाहे, कुछ पूछना चाहे तो उस पर बातचीत होनी चाहिये। मैं सिद्धांतों को एकदम खारिज नहीं कर रहा हूं लेकिन सामान्य सिद्धात निरूपण करते हुए किसी कृति के मूल्यांकन मे प्रवृत्त होना अवांछनीय मानता हूं। जो रचना पर आरोपित हो, उस सामान्य सिद्धात का मैं विरोध करता हूं। ऐसे आलोचनात्मक लेखों मे जहा सामान्य सिद्धात कथन की बहुतायत होती है उनमें आपको प्राय: मौलिकता का भी अभाव मिलेगा।

ने० जैन : यदि हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना में इस कमजोरी को आप मानते हैं तो आपने स्वयं मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र पर गंभीरता से लिखने की कोशिश क्यों नहीं की?

लिखने का संकल्प मैंने किया है और लिखूगा भी लेकिन जब सिद्धात ऐसे डेड एंड पर पहुच जाएं कि पहले की ही कही हुई बातों का पिष्ट पेषण ही करणीय रह जाए तो उस सिद्धात का विकास तभी संभव होता है जब सर्जनात्मक साहित्य की आलोचना मे से कोई पद्धति या कोई मूल्य विकसित हो। राजनीति मे भी यही होता है। हिंदी के मार्क्सवादी सौदर्यशास्त्र का विकास अगर हो सकता है, और उसकी पूरी सभावना है, तो उसका यही तरीका है कि शुरुआत सर्जनात्मक साहित्य की दिशा से की जाय।

ने० जैन : हम अभी आपसे पूछ रहे थे कि कभी अपने सिद्धांतों को आर्टिकुलेट करने की जरूरत आपको महसूस हुई है ? हुई है तो उनको आप या तो लिख नहीं रहे हैं या उन्हें आर्टिकुलेट ही नहीं करना चाहते या कोई और कारण है ? फिलहाल स्थिति यह है कि मार्क्सवादी आलोचना के सिद्धांतों के संबंध में आपकी जो कुछ भी मान्यताएं हैं वे सब आपकी लिखी हुई रचनाओं में ही हैं।

यह सही है और इसके लिए कोई बड़ा-सा नाम लेकर इसकी आड़ मे मैं अपने कार्य का औचित्य तो प्रमाणित नही करना चाहता, लेकिन यदि आप देखें तो मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का निर्माण भी व्यावहारिक आलोचना के माध्यम से ही हुआ है। जैसे—लुकाच की स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म इस पुस्तक का मार्क्सवादी सौंदर्यशाशास्त्र के विकास मे अपना महत्व है। लेकिन यह नितांत व्यावहारिक आलोचना है जिसमें तोल्सतोय के उपन्यास को विशेष रूप से केंद्र मे रखकर यानी व्यावहारिक आलोचना करते हुए यथार्थवाद के एक निश्चित सिद्धांत की स्थापना करने की कोशिश की गयी है। लुकाच का विकास भी क्रमशः व्यावहारिक आलोचनाएं करते हुए अंत मे मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के निर्माण की दिशा मे हुआ। मैं उन्हीं का अनुसरण कर रहा हूं। मुझे यही रास्ता सही लगता है।

अनिवार्य अंतर्विरोध

व्लादिमीर सोलोविओव से अशोक वाजपेयी की बातचीत

व्लादिमीर सोलोविओव लेनिनग्राद में रहते हैं और युवा रूसी आलोचकों में इनका प्रमुख स्थान है। वे मुख्यत. कविता के आलोचक हैं। इवतेशेंको और आंद्रे वाज़्नेसेंस्की जैसे समकालीन रूसी कवियों से उनकी गहरी मित्रता है।

□□

ठंड वैसी ही थी—यानी खासी लेकिन असह्य नही। हमें पुश्किन और उसके पास के प्रसिद्ध ऐतिहासिक पार्क पावलोस्क जाना था। दोनो ही स्थान आकर्षक और सभावना-भरे है और उन्हें देखने की स्वाभाविक उत्सुकता थी लेकिन उससे भी अधिक उत्सुकता थी युवा आलोचक **ब्लादिमीर सोलोविओव** से मिलने और बात करने की। मेरे आग्रह पर लेनिनग्राद लेखक संघ से इस मुलाकात का आयोजन हुआ था। बातचीत इतनी दिलचस्प और विचारोत्तेजक रही कि कम-से-कम मैं दूसरी चीजों की ओर ज्यादा ध्यान नही दे पाया। *गनीमत यह थी कि पार्क मे मूर्तियों को बर्फ आदि से बचाने के लिए लकड़ी के* बक्सों में जाडे भर के लिए ढांका जा चुका था और पार्क के प्रसिद्ध संग्रहालय मे चीनी मिट्टी की बनी वस्तुओं का अद्वितीय संग्रह उस दिन दर्शको के लिए बंद निकला। सो देखने को अब कुछ खास था ही नही। इसलिए ज्यादातर वक्त हम तीनों याने सोलोविओव, दुभाषिया अलेक्जेंडर और मैं लगभग तीन घंटे पुश्किन की गलियो और पार्क मे बतियाते घूमते रहे।

लेनिनग्राद की एक चौडी सडक पर कार में बैठते ही सोलोविओव ने कहा कि वे एक साहित्यिक आलोचक है जिनका विचार-क्षेत्र उन्नीसवी सदी के रूसी साहित्य के अलावा समकालीन लेखन भी रहा है। वे मेरे प्रश्नों का उत्तर देने को तैयार हैं—एक तरह सहज आत्मविश्वास उनमे था। मुझे यह बात थोड़ी अखरी कि उन्होने यह जानने की कोई कोशिश नही की कि मैं कौन हूं, क्या करता हूं और कैसे वहा आया हूं। यों बाद मे अलेक्ज़ेंडर ने बताया कि उन्हें लेखक संघ की ओर से मेरे बारे में आवश्यक जानकारी दे दी गई थी। बहरहाल, बातचीत निहायत औपचारिक ढंग मे शुरू करने के अलावा कोई चारा नही था जो उस वक्त मुझे संभावनापूर्ण नहीं लग रहा था। लेकिन बहुत जल्दी मैंने पाया कि साहित्य के प्रति इतनी गहरी निष्ठा और पैशन उनमें है कि वे अक्सर ऐसे बोलने लग जाते थे जैसे आपसे बातें कर रहे हों, हालांकि यह भी जाहिर था कि वे आलोचना को एकालाप नही मानते है।

मास्को के लिटरेरी गजट में सोलोविओव ने हाल ही में **कविता के अनिवार्य अंतर्विरोध** शीर्षक लेख लिखा था जो उन दिनों विवाद का विषय बना हुआ था क्योंकि उनकी मूल स्थापना यह थी कि कविता में ठहराव आ गया है। उनके अनुसार रूसी कवि **इवतेशेंको और वाज्नेसेंस्की** दोनों की कविता में गतिरोध है और वे अपने सफल मुहावरों को तोड या छोडकर कविता के लिए कोई नयी नही खोज पा रहे हैं। वाज्नेसेंस्की की उन्होंने तीखी आलोचना की और एक रूसी कहावत का उल्लेख करते हुए कहा कि वे एक चक्के के अदर गिलहरी के समान हैं जो चक्के से बाहर नही निकल पाती और उसी के अंदर घूमती रहती है। उनकी कविता मे इसी तरह दुहराव-तिहराव है। दोनों मे वे इवतेशेंको को बेहतर और आधुनिक कवि मानते हैं: इवतेशेंको समकालीन स्थितियो के प्रति गहरे स्तर पर प्रतिक्रिया करते हैं जो कभी-कभी दार्शनिक तक हो जाती है जबकि वाज्नेसेंस्की की प्रतिक्रिया महज शारीरिक होती है। सोलोविओव ने समकालीन फ्रेंच कविता का उदाहरण देते हुए कहा कि हमारे समय के प्रति वफादार या प्रामाणिक कविता बिना दर्शन और चिंतन मे जड़ें जमाए नही हो सकती। उन्होने यह स्पष्ट किया कि यह उनका निजी आकलन है और प्रतिष्ठाप्राप्त कई आलोचक अभी भी वाज्नेसेंस्की के पक्ष मे हैं।

सोलोविओव, इवतेशेंको के निजी दोस्त हैं और अक्सर कविता और उसके भविष्य के बारे में दोनों के बीच चर्चा होती रही है। हाल ही मे लेनिनग्राद में उनका एक सार्वजनिक काव्यपाठ आयोजित हुआ था जिसकी अध्यक्षता सोलोविओव ने की थी। ख्याल था कि बडी भीड़ होगी, स्टैंपीड आदि की आशका थी इसलिए वे अपने बेटे को इवतेशेंको से मिलाने सभा-स्थल नही उनके होटल ले गए थे लेकिन जब कार्यक्रम शुरू हुआ तो उन्होने पाया कि इतनी भीड़ नही थी। हाल तो पूरा भरा था पर लगता था कि श्रोताओं के बराबर या शायद कुछ ज्यादा ही पुलिस के लोग थे। दूसरी उल्लेखनीय बात यह थी कि श्रोताओं मे युवा पीढी के लोग कम थे। मेरे पूछने पर सोलोविओव ने पुश्किन की एक ठडी और गीली गली पर चलते हुए कहा कि इसका एक कारण तो यह हो ही सकता है कि युवा पीढी की कविता में बहुत दिलचस्पी नही है। दूसरे, जैसे कि खुद इवतेशेंको को लगता है, कोई भी कवि बीस साल तक लगातार लोगों का प्रवक्ता नही रह सकता। उन्हें लगता है कि उनकी किसी कमी की वजह से उनकी कविता लोगों से दूर हो रही है और इसे लेकर वे बहुत चिंतित रहते हैं। वाज्नेसेंस्की मे अपनी कविता की कमियों का ऐसा सजग और तीखा अहसास नही है। ऐसा नही लगता कि वे कविता के कायाकल्प के लिए सघर्परत या उत्सुक भी हैं'''सोलोविओव बोले कि लोकप्रिय कविता, बड़ी सभाओं में पसद की जाने वाली कविता, एक तरह की आदिमता पर आधारित होती है

और उसे ही उकसाती है—यह महत्त्वपूर्ण नही हो सकता और समकालीन कवि-कर्म और स्थितियो की बुनियादी जटिलता के विरुद्ध भी है । ऐसे सरलीकरणों में फंसकर कविता लोकप्रिय भले होती हो नि.संदेह नष्ट भी होती है ।

कविता पर पड रहे दबावों की चर्चा हमने की । मैंने उनसे पूछा कि क्या हमारे समय में कविता को किसी हद तक राज्य, सत्ता, विज्ञान, विचारप्रणाली, धर्म आदि के विरुद्ध नही खड़ा होना पड रहा है ? गोलोविओव ने कुछ चौकन्ना और साथ ही उत्तेजित होकर जवाब दिया कि कविता को हमेशा अनेक दबावों के विरुद्ध काम करना पड़ता है —आप पत्नी, बच्चों, प्रेमिका, मौसम आदि के दबावों का जिक्र क्यों नही करते ? मैंने पूछा कि क्या इन दबावों और आलोचना के बीच वे आलोचना का कोई 'नेगोशिएटिंग' रोल मानते है ? वे असहमत हुए और बोले—इन्ही दबावों का सामना आलोचना को करना पडता है । उलटे कविता मे उसे इसके लिए शक्ति और प्रेरणा मिलती है । मैंने टिप्पणी की कि बेचारी आलोचना के लिए तो स्वय कविता ही एक भारी दबाव है । वे बोले—बेशक ।

बातचीत के दौरान यह जतन से याद करके कि मैं वे जगहें देखने आया हूं, वे मुझे प्राचीन रूसी स्थापत्य की विविध शैलियों आदि के बारे मे भी बताते रहे । मैं देख सका कि उनकी जानकारी प्रामाणिक और विश्वसनीय थी, भले ही उन चीजों से एक तरह ऊब भी उनके मन मे भी ।

एक पुराने अठारहवी सदी के महल की सीढ़ियां चढ़ते हुए वे रुके और बोले कि इवतेशेंको और वाजनेसेंस्की के बाद भी युवा कवि हैं—जैसे फाजिल इस्कन्दर, एलेक चुखोन्सेक, यूना मारित्स, ब्रॉडस्की आदि जो महत्त्वपूर्ण कविता लिख रहे हैं । बल्कि कुछ पुराने-बुजुर्ग कवि भी अच्छी और प्रासंगिक कविता लिख रहें है—अपने समय को लिखना युवा पीढ़ी का एकाधिकार नही । बल्कि जैसा एक रूसी विचारक ने कहा है आधुनिकतावादी सबसे जल्दी पुराना पडता है । मैंने कहा कि इनमें से ब्रॉडस्की के बारे मे हमें पता है—हाल ही में उनका एक संग्रह अंग्रेजी मे छपा है । उन्होंने कुछ व्यंग्य से कहा कि आप ब्रॉडस्की को जानते हैं क्योंकि पश्चिमी प्रेस ने उन्हें उपलब्ध कराया है । मैंने प्रत्युत्तर में कहा कि और तरीका क्या है ? आपके यहां से जो सामग्री हमें मिलती है उसमें इतना कूड़ा-कचरा भी होता है, हमें अन्य भाषा-भाषियों के लिए अच्छे-बुरे में भेद करना असंभव हो जाता है । यूरोपीय कविता की समकालीन उपलब्धियों को अगर ध्यान मे रखें तो शायद इवतेशेंको, वाजनेसेंस्की की उपलब्धियां महत्त्व उल्लेखनीय नही रह जाती लेकिन उनका शुद्ध साहित्यिक से अधिक सामाजिक-राजनैतिक महत्त्व है—ऐसी कविता का रूस मे उदय । उन्होंने सहमति व्यक्त की ।

मैंने सोचा पूछूं कि अगर युवतर और बुजुर्ग पीढ़ियों में प्रतिभासंपन्न कवि हैं जो महत्त्वपूर्ण कविता लिख रहे हैं तो फिर उनकी कविता में ठहराव की स्थापना कैसे सही हो सकती है ? क्या यह दो विरोधी बातें नहीं हैं ? लेकिन तब तक प्रसंग बदल गया था। हम महल में नहीं गए थे और पास के ऊंचे से दरख्तों में एक गिलहरी बिल्कुल हमारे नजदीक आ गई थी—वे मुझे उनकी ओर आकर्षित करने लगे। शायद उनके मन में वाज्नेसेंस्की की स्थिति रही हो जिसकी तुलना थोड़ी देर पहले चक्के में बंद घूमती गिलहरी से उन्होंने की थी। इसलिए बात टल गई और फिर उसे पूछने, स्पष्ट कराने का प्रसंग दुबारा नहीं आया।

सोलोविओव के अनुसार सच्ची और महत्त्वपूर्ण कविता अंतर्विरोधग्रस्त ही होती है—वह मनुष्य की स्थिति के विभिन्न पर्यायों को एक साथ देखती-पहचानती है। जो है और जो उसके विरुद्ध है, प्रतिलोम में है जब इन दो प्रतीतियों को काव्यकर्म में साधा जाता है तभी रचनात्मक समृद्धि आती है। उन्होंने अस्तित्ववादी दार्शनिक कीर्केगार्द के शब्द उधार लेते हुए कहा कि कविता की स्थिति आइदर आर की निरंतरता में होती है—वह दो विकल्पों में किसी एक को अंतिम रूप से नहीं चुनती, वह जैसे दोनों के बीच मधी, संतुलित रहती है। यही कविता को राजनीति से बिलकुल भिन्न बना देता है। वहां कई विकल्पों में से एक विकल्प को चुनने, उसे तार्किक परिणति तक ले जाने की बाध्यता होती है जबकि कविता इस बाध्यता से मुक्त होती है। उन्होंने एक रूसी कवि की दो पंक्तियों का उदाहरण दिया : "कविता यातना का इलाज करेगी" और "यातना का कोई इलाज नहीं है"। मैंने उनसे पूछा कि अगर कविता का धर्म यही है तो उसका परिवेश उसे निबाहने की पूरी छूट या मौका देता है या नहीं, क्या यह सवाल बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हो जाता है। इस पर वे शायद चौकन्ने हो गए और कुछ देर चुप रहे। मैंने आगे कहा कि जाहिर है ऐसी कविता सिर्फ साक्ष्य नहीं हो सकती, उसे एक तरह की आत्माभियोगी जासूसी होना पड़ेगा। क्या वे आधुनिक तकनीक से ग्रस्त समाज में साहित्य के लिए कोई सब्वेर्सिनियस रोल नहीं देखते हैं ? उन्होंने मेरी कई बातों का एक साथ उत्तर दिया। ऐसा रोल, उन्होंने कहा, हो सकता है लेकिन ये सब बातें अतत. प्रतिभा पर, एक अपेक्षाकृत सादी लगने वाली चीज़ पर निर्भर करती हैं। हम साहित्य और उसकी अनेक समस्याओं पर घंटों बहस कर सकते हैं लेकिन अगर प्रतिभा नहीं है तो सब बेकार होगा। लेकिन आज भी अगर अस्तित्ववादी दृष्टि जीवित और प्रासंगिक है तो इसका कारण उसकी मौलिक सचाई है। हर समय दो तरह के साहित्य होते हैं—एक तो वह जो संस्कृति को प्रिजर्व करता है और दूसरा वह जो उसे एक हद तक नष्ट या विध्वंस करता है।

प्रजनात्मक साहित्य के मुकाबले विध्वंसात्मक साहित्य का काम अधिक कठिन होता है—उसे ठीक से लिख पाने के लिए जीनियस से काम प्रतिभा से काम नही चलता मसलन् काफ्का या जॉयस को लीजिए।

अस्तित्ववादियो पर कुछ देर बात होती रही। मैंने कहा कि इधर विकसित और विकासशील दोनों ही तरह के समाज एक तरह से लगातार सकटो मे रहते आए हैं और संकट समकालीन रचना का स्थायी सदर्भ लगभग शर्त बन गया है। ऐसी हालत में बार-बार सकट की बात करना मुझे शकास्पद लगता है। शायद ऐसा करके कुछ लेखक अपनी रचना मे गैर-साहित्यिक ढंग की अर्जेंसी का आयात करना और अपना औचित्य सिद्ध करना चाहते हैं। सोलोविओव ने कहा—यह बिलकुल मुमकिन है कि ऐसा ही हो। उन्होने बात आगे बढायी और कहा कि अगर कविता जीवन के सनातन प्रश्नो से नही जूझती तो वह महान् या महत्त्वपूर्ण हो ही नही सकती; मनुष्य की नियति, जिंदगी का अर्थ, मनुष्य के सामने चुनने या वरण का प्रश्न, स्वतंत्रता, मृत्यु आदि चिरंतन प्रश्न हैं और कविता मे ये बार-बार नये प्रसगो मे उठते हैं, उठना ही चाहिए। जो कविता इनसे बचती या उदासीन है वह न तो कलात्मक से विचारणीय हो सकती और न ही सामाजिक रूप से उपयोगी या प्रासंगिक। मैंने कुछ टोहने की गरज से कहा कि वरण की, चुनने की समस्या कविता के लिए केंद्रीय है पर इस समस्या को राजनीति से काटकर कैसे देखा जा सकता है। मैंने मुक्तिबोध का उल्लेख करते हुए बताया कि उन्होने एक युवा कवि की कुछ ताजी अच्छी कविताएं देखने के बाद उससे कहा था, "पार्टनर, तुममें प्रतिभा है, अब अगर कविता लिखते हो तो पहले अपनी पालिटिक्स तय कर लो।" सोलोविओव ने कहा, राजनीति का सवाल अलग और व्यापक है। तभी मुझे लगा कि मुक्तिबोध का पालिटिक्स से अर्थ संकरी राजनीति नहीं बल्कि एक तरह के विजन, दृष्टि से था जिसमे मनुष्य के शाश्वत प्रश्नो से जूझना शामिल था।

सोलोविओव ने बताया कि उनके जिस विवादग्रस्त लेख का उल्लेख ऊपर है उसकी शुरुआत उन्होने उन्नीसवी सदी के एक फ्रेंच लेखक जूल जैने के उस कथन से की थी जिसमें उन्होने कहा था कि जब कविता मे चुप्पी हो तो आलोचना को कविता, गद्य और रंगमंच का काम करना पड़ता है। मुझे यह धारणा अतिवादी और विवादास्पद लगी। सोलोविओव ने बताया कि लिटरेरी गजट मे जो बहस हो रही है उसमे काफी विवाद इसी को लेकर हुआ है। मैंने जानना चाहा कि आलोचना किस तरह से यह काम कर सकती है ! उन्होंने कहा कि उनके लिए आलोचना और रचना में कोई बुनियादी फर्क नही है। आलोचक भी अपने समय मे, उसके उन्ही प्रश्नो, दबावों से जूझता है जिनमे कि

रचनाकार। आलोचना ईमानदार अच्छा गद्य है और यही रचना है। फ्रेंच पत्रिका 'तेलकेल' का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि हालांकि यह पत्रिका आलोचना की है, इसकी लोकप्रियता ने उपन्यासों की लोकप्रियता को मात कर दिया था। यह एक ताज़ा प्रमाण है कि कभी-कभी समाज को कविता के बजाय आलोचना की ज़्यादा ज़रूरत होती है।

कविता मे ठहराव के कुछ कारण बताते हुए सोलोविओव ने कहा कि रूस मे इस समय कविता का नही गद्य का जमाना आ गया है। उन्होने दो-तीन युवा कवियो के नाम लिये जिन्होने कविता लिखना छोडकर गद्य लिखना शुरू कर दिया है। उपन्यास गद्य की मुख्य विधा है। मैंने उन्हे बताया कि हिंदी में ऐसा नही है—वहा कहानी ने अधिक केंद्रीय स्थान बना रखा है। कथा-साहित्य की अधिकतर कीर्तिया कहानीकारों की हैं और उनमें से ज्यादातर असफल उपन्यासकार हैं। सोलोविओव कहानी को इतना महत्त्व देने पर कतई राजी नही हुए। उन्होने कहा कि कहानी जैसी छोटी सीमित विधा में आधुनिक जटिल चेतना का प्रवाह समाहित हो ही नही सकता। मैंने कहा कि यह हालत हिंदी में ही नही बल्कि मुझे यही एक लेख पढने से पता चला, अरबी कथा-साहित्य मे भी है। हो सकता है इसका एक कारण इन भाषाओं में उपन्यास का अपेक्षाकृत नयी विधा होना और औपन्यासिक परंपरा का न होना हो। उन्होने कहा, कारण जो भी हो, बिना उपन्यास के गद्य महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकता और महान् साहित्य छोटी कहानियो मे नही लिखा जा सकता।

खासी ठंड थी। लंच का वक्त हो रहा था। हम घूमते-घूमते थक चुके थे। इसलिए तय किया कि वापस चलें। उसके पहले मैंने सोलोविओव से कहा कि आपके विचार मुक्त मालूम पडते हैं, क्या आधिकारिक दृष्टिकोण से ये अलग नही हैं? उन्होने कहा, मुझे तो अपने विचार ही ठीक और आधिकारिक लगते है। आधिकारिक दृष्टि क्या है? ब्रेजनेव के पास कविता पढ़ने की फ़ुरसत तो है नहीं और न ही उन्होंने कविता पर कोई विचार व्यक्त किए हैं इसलिए कोई आधिकारिक दृष्टि वैसे नही है। लेकिन प्रतिष्ठा और पदप्राप्त कुछ लेखक अपने विचार को आधिकारिक कह कर प्रचारित और प्रतिष्ठित करते हैं। उनकी नजर मे मैं शांति मे खलल डालनेवाला हूं···लेकिन मैं अपने को विचारप्रणाली की दृष्टि से गलत या पथभ्रष्ट नही मानता। मै मार्क्सवादी विचारप्रणाली को ही आगे बढ़ा रहा हूं।
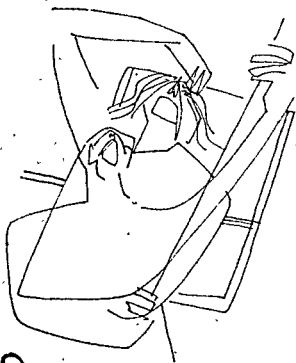
क्रांति और बुद्धिजीवी

ज्यां पाल सार्त्र से ज्यां क्लादगारो की बातचीत

ज्यां पाल सार्त्र ऐसे साहित्य चिंतक हैं जो न केवल फ्रांसीसी साहित्य, बल्कि विश्व साहित्य में भी कोई चौथाई सदी तक एक तरह से छाये रहे। सार्त्र का अस्तित्ववाद दूसरे विश्वयुद्ध के बाद प्रायः बहस के केंद्र में रहा। उन्होंने कई उपन्यास और नाटक लिखे जिनमें **नाउ सी एंड दि दिलागी, दि रोड्स टु फ्रीडम** (उपन्यास), **हुई क्लास, क्राइम पेशनल, कीन एंड एल्टोना** (नाटक), **पॉलिटिक्स एंड लिटरेचर** (निबंध और बातचीत) काफ़ी चर्चित रहे। आपकी कुछ कृतियों पर गोदार जैसे शीर्षस्थानीय फिल्मकारों ने फिल्में भी बनाईं।

●

ज्यां क्लादगारो : फ्रांसीसी लेखक-समीक्षक। 'ल पाइंट गांविस', 'रिव्यू द एस्थेटिक' आदि महत्त्व की पत्रिकाओं के प्रायः नियमित लेखक।

वामपंथी बुद्धिजीवी की स्थिति के आज मानी क्या हैं ?

उव्वल तो मैं नहीं समझता कि बिना वामपंथी हुए कोई बुद्धिजीवी भी हो-सकता है। यों ऐसे लोग है जो किताबें और लेख वगैरह लिखते है और दक्षिण-पंथी है। मैं समझता हूं कि अपनी बुद्धि का इस्तेमाल ही किसी को बुद्धिजीवी बनाने के लिए काफ़ी नहीं है। यदि ऐसा हो तो एक मजदूर और उन लोगों में कोई फ़र्क न हो जो पढ़ते और अपने दिमाग़ो को बेहतर बनाते है। विप्लवी-श्रमिक-संघवाद के युग में अपनी हालत पर सोचने की कोशिश करने वाले पेशेवर मजदूरो और लेख वगैरह लिखनेवाले बुद्धिजीवी मे आप कहां फ़र्क करते है ? मजदूर अपने हाथों मे लिखता है। इस मायने मे उनमे कोई फर्क नहीं है। दरअसल, जो आपको करना है, वह है—समाज द्वारा सौंपे गए काम की बुनियाद पर ही बुद्धिजीवी को परिभाषित करना। जिसे मैं बुद्धिजीवी कहता हूं वह सामाजिक पेशेवर समुदाय से आता है। इसे हम व्यावहारिक ज्ञान के सिद्धांतकारों का समुदाय कह सकते है।

इस परिभाषा का जन्म इस हकीकत से होता है कि हम अब यह जानते है कि सारा ज्ञान व्यावहारिक होता है। सौ साल पहले वैज्ञानिक खोज को निस्वार्थ मानना मुमकिन था, वह एक बूर्जुआ धारणा थी। आज यह एक गई-गुजरी विचारधारा है। हम जानते है कि विज्ञान का मशा देर-सवेर व्यावहारिक प्रयोग है। नतीजतन ऐसा ज्ञान पा सकना असंभव है जो बिल्कुल अव्यावहारिक हो। व्यावहारिक ज्ञान के सिद्धांतकार एक इंजीनियर, एक डाक्टर, एक अन्वेषक एक समाजशास्त्री वगैरह हो सकते है। मसलन् एक समाजशास्त्री अमरीका मे इसका अध्ययन करता है कि मालिक और मजदूरो के रिश्तो को कैसे सुधारा जाए कि वर्ग-संघर्ष टल जाए। कहने की जरूरत नहीं कि परमाणुविज्ञान का भी एक तात्कालिक और व्यावहारिक उपयोग है। किसी भी किस्म का पेशेवर, अपने ज्ञान की बुनियाद पर सक्रिय होता है और उसके कार्यक्षेत्र को उसकी कार्रवाई के नियम परिभाषित करते हैं। उसका मक़सद अग्रिम ज्ञान की उपलब्धि होता

है। यह मतवाद तात्कालिक रूप से व्यावहारिक तो नहीं होता लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से हो सकता है बल्कि — मसलन् एक डाक्टर के प्रसंग में—यह व्यावहारिक ही होता है। मैं ऐसे व्यक्ति को व्यावहारिक ज्ञान के सिद्धान्तकार के रूप में तो परिभाषित करूंगा लेकिन उसे बुद्धिजीवी नहीं कहूंगा। दूसरी ओर हमारे समाज में जो बात एक बुद्धिजीवी को परिभाषित करती है वह बूर्जुआ समाज द्वारा उसके ज्ञान को दी गई सार्वजनीनता और उस विचारधारा और राजनीतिक ढांचे का गहरा अंतर्विरोध है जिसमें वह सार्वजनीनता के प्रयोग के लिए मजबूर है। एक डाक्टर जब तक सार्वजनीन वास्तविकता के रूप में रक्त का अध्ययन करता है तब तक 'रक्तवर्ग' हर जगह यकसां होते हैं, इसलिए उसके सैद्धांतिक व्यवहार में जातिवाद का सहज ही तिरस्कार होता है, लेकिन उसे इस जैविकी सार्वजनीनता का अध्ययन बूर्जुआ समाज की व्यवस्था में करना होता है। इस हैसियत से वह मध्यमवर्गीय बूर्जुआ के एक खास स्तर की नुमाइंदगी करता है, जो हालांकि खुद पूजी-उत्पादक नहीं है मगर बूर्जुआ समाज को जिंदा बने रहने में सहायता के ज़रिये वह मुनाफ़ा-मूल्य के एक अंश का भागीदार जरूर होता है। इस तरह बुद्धिजीवी की मंशा रखनेवाला, एक ऐसे विशेष समाज के संदर्भ में सार्वजनीन शिक्षा पा चुकता है जिसके अपने विशेष स्वार्थ और एक वर्ग-विचारधारा होती है। यह विचारधारा जो स्वयं विशिष्ट होती है, बचपन से उसके दिलो-दिमाग में जमाई जाती है। सामाजिक क्रिया सार्वजनीनतावाद का विरोध इस विचारधारा की खासियत होती है।

बहरहाल, बुद्धिजीवी शासक वर्ग की विचारधारा पर निर्भर होता है। इस हद तक कि खुद शासक वर्ग आय का नियंत्रण और बुद्धिजीवी की नियुक्तियां और कार्यविभाजन भी तय करता है। याने बुद्धिजीवी दुहरे अर्थों में बूर्जुआ समाज की उपज होता है। अव्वल तो वह एक शक्तिसंपन्न, खास विचारधारा वाले विशिष्ट वर्ग की उपज होता है जो उसे एक खास व्यक्ति के रूप में ढालता है, दूसरे वह एक बूर्जुआ समाज की ऐसी तकनीकी सार्वजनीनता की उपज भी होता है जो संगठित विज्ञान के सीमित क्षेत्र को उसकी वैधानिक सार्वजनीनता का स्पष्ट विवेक सौंपता है। और इस प्रकार उसे सार्वजनीन तकनीशियन के रूप में निर्मित करता है। यों उसका एक विलक्षण चरित्र बनता है : आजकल के समाज की एक सच्ची उपज।

एक ऐसी विचारधारा उसके दिलो-दिमाग में बचपन से जमा दी गई होती है जो स्वभावतः जातिवाद और सार्वजनीन रूप में प्रस्तुत लेकिन दर-असल सीमित और विशेष प्रकार के मानववाद की बूर्जुआ धारणाओं की सारी विशेषताओं से निर्मित होती है। तो एक ओर ऐसी विचारधारा और दूसरी ओर अपने पेशे की सार्वजनीनता के बीच वह एक लगातार अंतर्विरोध की

स्थिति में जीता है। यदि वह समझौता करता है, यथार्थ से मुह तोड़ लेता है, एक गलत आस्था के अनुशासन मे वह एक किस्म का संतुलित कर्म करके इस अतर्विरोध से पैदा होने वाली अनिश्चयता से बचने मे कामयाब हो जाता है तो मैं उसे बुद्धिजीवी नही मानूगा। मैं उसे महज कामगर और बूर्जुआ वर्ग का एक व्यावहारिक सिद्धांतकार मानूगा। यदि वह लेखक या निबंधकार है तब भी कोई फर्क नही पड़ता। वह उसी विशेष विचारधारा की रक्षा करेगा जो उसे पढाई गई है।

लेकिन जैसे ही वह अतर्विरोधो के बारे मे मुस्तैद होता है, नतीजतन सार्वजनीनता के नाम पर उसके भीतर का विशेष हर जगह उसके कार्य को चुनौती की ओर ले जाता है तभी वह बुद्धिजीवी होता है। याने बुद्धिजीवी ऐसा आदमी है जिसका विलक्षण भीतरी अतर्विरोध, यदि वह व्यक्त हुआ तो, उसके लिए न्यूनतम सुविधाजनक स्थिति का कारण बनता है। ऐसी ही स्थिति मे आम तौर पर सार्वजनीनता मिलती है।

ऐसा बुद्धिजीवी किन सैद्धांतिक मानदंडों से परिभाषित किया जा सकता है ?

पहला सैद्धांतिक मानदड उनके कामधधे से बनता है। वह है : बौद्धिकता। उनके लिए व्यावहारिक बुद्धि और द्वंद्वात्मकता की उपज सार्वजनीनता और नकारात्मक अर्थ में सार्वजनीनता की हिमायत करनेवाले वर्गों मे एक खास रिश्ता होता है। मार्क्स ने कहा है कि वर्ग-सिद्धांत को खत्म करके ही न्यूनतम विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग, एक सामाजिक सार्वजनीनता का निर्माण और अपने-अपने लक्ष्यों की प्राप्ति कर सकता है। इसका मतलब हुआ कि सार्वजनीनता, ऊपरी तौर पर ग़ैरज़िम्मेदार लगनेवाले विज्ञान के क्षेत्र मे वहिष्कृत नही हो गई है, बल्कि फिर एक बार मानवता की सामाजिक और ऐतिहासिक सार्वजनीनता हो जाती है। कारण दरअसल वह व्यावहारिक सार्वजनीनता है जिसने वैज्ञानिक विकास और मजदूरो के तकनीकी अम्बार को मुमकिन बनाया है। उसमे दुनिया पर आदमी की ताक़त का सबूत है जिसे बूर्जुआ वर्ग ने खुद के अनुरूप बना लिया है।

इसलिए पहला मानदंड है कि सारी अबौद्धिकता खत्म की जाए, किसी भावुकतावादी दृष्टिकोण से नही, बल्कि इसलिए कि दरअसल अंतर्विरोधों को खत्म करने का एक ही तरीक़ा है : विचारधारा का मुकाबला करने के लिए बुद्धि का उपयोग, लेकिन एक सैद्धांतिक दृष्टिकोण से इसमे व्यावहारिक स्तर तक का रास्ता भी शामिल है। जिस हद तक उसकी बुद्धि जातिवाद के विरुद्ध है, उस हद तक बुद्धिजीवी उनमे शामिल है जो जातिवाद से पीड़ित है। बुनियादी रूप से उनकी सहायता करने का महज एक तरीका यह है कि खुद से

उठकर यह जातिवाद की बौद्धिक आलोचना को रूपायित करे।

बुद्धिजीवी का दूसरा सैद्धांतिक मानदंड जरूरी तौर पर क्रांतिकारी होना है। विशेष और अबौद्धिक और सार्वजनीन के संघर्ष में कोई समझौता मुमकिन नहीं है। विशेष के पूरे खात्मे के अलावा कुछ भी नामुमकिन है। इसके अलावा बुद्धिजीवी बुनियादी कर्म के विचार की ओर इशारा करता है। उसका व्यावहारिक ज्ञान चूंकि व्यावहारिक है, अपनी हिमायत सिर्फ उन सामाजिक वर्गों में ही पा सकता है जो खुद क्रांतिकारी कर्म की मांग करते हैं।

इसका मतलब यह है कि पार्टियों और राजनीतिक वर्गों के मामले में चुनाव के हर मौक़े पर बुद्धिजीवी उसे चुनने के लिए मजबूर है जो सबसे ज्यादा क्रांतिकारी है ताकि सार्वजनीनता फिर से पाई जा सके।

दरअसल बुद्धिजीवी की हैसियत से हम सब सार्वजनीन व्यक्ति हैं याने हमारे निर्णय अभी भी हर चीज के बावजूद कुछ अबौद्धिक घटकों से जुड़े होते हैं। समाज में अपनी स्थिति के विश्लेषण के नजरिये से बेशक वे निहायत बौद्धिक हैं लेकिन जहां तक भावना का ताल्लुक है वे अबौद्धिक ही हैं। नतीजतन अबौद्धिकता एक ऐसा तत्त्व है जो सार्वजनीन व्यक्ति के व्यवहार के जरिये विकल्पों तक पहुंचने का कारण होता है। मगर जो तय है वह यह कि बुद्धिजीवी का काम अपने अंतर्विरोधों से खुद को मुक्त करना है: अंतर्विरोध जो आखिरकार खुद समाज के होते हैं। इस मकसद में वह सबसे अधिक क्रांतिकारी स्थिति में होता है। लेकिन क्रांतिकारिता हमें कुछ खतरों की ओर भी ले जा सकती है। उन खतरों में से एक है . वामवाद। याने सारे व्यावहारिक, सैद्धांतिक और दरअसल कई बार इस प्रकार के संकल्पवाद में शामिल लाक्षणिक और काल्पनिक नतीजों सहित सार्वजनीन की तुरंत और आनन-फानन मांग। शुक्र है कि बुद्धिजीवी के मामले में इस प्रकार के वामवाद पर रोक मानिंद दो तत्त्व कारगर होते हैं।

अव्वल तो यह हकीकत कि बुद्धिजीवी सत्य के रास्ते व्यवहार पर आता है, आना चाहता है और यही उसे करना है। सत्य वही है जो सच्ची संभावना के विस्तार में कर्म की खोज करता है। जिस हद तक बुद्धिजीवी रूप से व्यावहारिक ज्ञान का सिद्धातकार है. उस हद तक उसका कर्म सिर्फ संश्लिष्ट उपयोग और संभावनाओं के निश्चय में ही परिभाषित किया जा सकता है। एक प्रयोग के सिलसिले में कुछ संभावनाएं होती हैं। प्रयोगशाला में उपकरण किस तरह जमाए जा सकते हैं, यहीं तक वे महदूद नहीं होतीं बल्कि प्रयोग करनेवाले के अपने माली उपायों पर भी मुनहसिर हैं। एक डाक्टर के पेशे में कई संभावनाएं होती हैं। वे महज समकालीन चिकित्साविज्ञान की संभावनाएं नहीं हैं, यह हकीकत भी है कि एक रोगी के लिए जो सबसे अधिक उपयुक्त आपरेशन

है वह नही किया जा सकता क्योंकि रोगी ठीक जगह पर नही है। वह या तो कही दूर-दराज़ गांव मे है या ट्रेन दुर्घटना के बाद रेल लाइन के किनारे पड़ा है।

इस मायने मे सभावनाओं के दायरे के लगातार मूल्यांकन का असर, बुद्धिजीवी पर एक सीमा की मानिंद होता है और उसकी क्रांतिकारिता को वामवाद मे बदलने से रोकता है। यो जब तक कि बुद्धिजीवी वाकई वामवाद का शिकार न हो जाए तब तक कभी नही कहेगा कि 'बेल्जियम या फ्रांस मे कल क्राति आ रही है और तुरंत ताकत हथियाने की तैयारिया की जानी चाहिए।'

राजनेता ऐसा कह सकता है। कुछ सालों पहले पाबंदी लगी फ्रेंच कम्यु-निस्ट पार्टी के एक सदस्य ने तो वाकई कहा भी था : 'क्राति अनकरीब है। हम लोग अपनी जिंदगी मे ही समाजवाद देख लेंगे।' वह एक बुद्धिजीवी की तरह नही, प्रचार के मकसद से एक वामवादी की तरह बोल रहा था। सभाव-नाओ के दायरे की लगातार पडताल के जरिये बुद्धिजीवी की क्रातिकारिता नियत्रण मे रहेगी।

एक बार क्रातिकारी विकल्प तय हो जाने के बाद क्रातिकारिता पर दूसरा नियत्रण अगले अंतर्विरोधो से पैदा होता है। एक ओर अबौद्धिक और विचार-धारात्मक विशेष और दूसरी ओर व्यावहारिक और वैज्ञानिक सार्वजनीन के बीच पहला अंतर्विरोध होता है। दूसरा अंतर्विरोध होता है . अनुशासन और आलोचना के बीच। एक बुद्धिजीवी ज्यो ही किसी राजनीतिक पार्टी का सदस्य होता है, दूसरो की तरह, बल्कि दूसरों से कुछ अधिक ही, पार्टी के अनुशासन को मानने के लिए मजबूर होता है मगर साथ ही विशेष को सार्वजनीन के प्रसंग मे तय करने का जितना ही उसका स्वभाव होता है उतना ही वह आलो-चनात्मक होने के लिए भी विवश होता है। समाजवादी समाजो मे बुद्धिजीवी बिल्कुल ऐसे ही मसलो का सामना करते है।

इस तरह वामवाद की ओर रुझान पर दो बधन हैं . सत्य का सरोकार और अनुशासन का सम्मान। ये दोनों उस दुहरे अन्तर्विरोध मे पैदा होते हैं जिसे द्वद्वात्मक रूप से ही सुलझाया जाना चाहिए। एक ओर तो विशेष और सार्वजनीन के बीच वह अंतर्विरोध होता है जो व्यावहारिक ज्ञान के सिद्धात-कार को बुद्धिजीवी बनाता है और दूसरी ओर वह अंतर्विरोध है जो पार्टी के व्यावहारिक मकसदों और सार्वजनीन पेशे के बीच होता है जिसमे बुद्धिजीवी पार्टी के प्रति आर्कपित होता है। यही अनुशासन और आलोचना की प्रति-पक्षता है।

यों कि जैसे वही विशिष्टता जो बुद्धिजीवी की बौद्धिक क्रांतिकारिता को

प्रेरित करती है, पार्टी के भीतर फिर पैदा हो जाती है, इस हकीकत के बावजूद कि पार्टी, क्रांतिकारिता को चरितार्थ करने का सबसे कारगर हथियार है। लेकिन इस मामले में पार्टी की विशिष्टता सिर्फ सार्वजनीनता के नजरिये से पैदा की जाती है, बूर्जुआ समाज की तरह उसके विरोध में नहीं, चुनांचे बुद्धिजीवी खुद को उसके अनुशासन में रखने के लिए तैयार हो जाता है, साथ ही दक्षिणपंथी झुकाव और दूरगामी मकसदों को नजरंदाज कर देने के खतरों के प्रति भी मुस्तैद हो जाता है।

ऐसी सूरत में सार्वजनीनता के जरिये वामवाद की ओर जानेवाले बुद्धिजीवी भी बुद्धिजीवी ही हैं लेकिन भटके हुए। उन्होंने बेहतर ढंग से काम करने का चुनाव किया है लेकिन उन्होंने एक ऐसा वर्ग शुरू में ही तय कर लिया जो उनकी नजर में सार्वजनीन की नुमाइंदगी करता है। उन्होंने न तो उसकी स्थिति की वास्तविक संभावना की पड़ताल की और न ही निष्ठा के निहितार्थों की।

लेकिन हो अब यह भी सकता है कि एक दूसरा वर्ग, सार्वजनीन की नुमाइंदगी करे। इसमें एक बहुत नाजुक मसला पैदा होता है क्योंकि पार्टी बदलते समय सबसे पहले अनुशासन के संदर्भ में देखना यह चाहिए कि क्या पहली पार्टी वाकई ग़लत थी और क्या दूसरे वर्ग की ओर रुख करना मौजूं होगा।

चीनी भुष के संदर्भ में आपकी स्थिति क्या है ?

जाती तौर पर मैं न तो चीन के पक्ष में हूं, न विपक्ष में। न तो मैं तथाथित माओवादी ताकतों की हिमायत करता हूं और न ही दूसरों की। और यह इसलिए, महज इसी वजह से, कि इस सिलसिले में मैंने अभी तक जो कुछ भी पढ़ा है उसने मुझे कोई इत्मीनान देनेवाला सार्वजनीन नजरिया नहीं दिया है। मुझे जबरदस्त भावनाएं मिली हैं, बाजवक्त बेहद चतुर व्याख्याएं भी मिली हैं : मसलन् पियरे वस्त्रातें का एक मशहूर लेख, लेकिन वह महज अंधेरे में तीर की मानिंद है।

या फिर दूसरी ओर मुझे मिलते हैं ऐसे विश्लेषण जो खासी तारीफ के लायक तो होते हैं लेकिन आखिरकार किसी बुनियाद पर नहीं टिकते—खास तौर पर मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विश्लेषण। मुझे लगता है, यह एक ऐसा सवाल है जिस पर कई बुद्धिजीवी आनन-फानन इस या उस तरफ हो जाते हैं। उनका बुद्धिजीवी होना ही उनके इस या उस तरफ़ फ़ैसले को रोकना है क्योंकि उनसे यह उम्मीद की जाती है कि वे सत्य के पक्ष में होंगे : याने संभावना के क्षेत्र को पहले पूरी तरह तय करेंगे, मगर यहां एक संभावना—ज्ञान और

जानकारी—ही गायब होती है।

तथ्यो की पूरी जानकारी पर फ़ैसला करना अच्छा है। अज्ञान की हालत में फैसले करने का मतलब है—विशिष्टता मे पीछे फिसलना। इसका मतलब है बुद्धिजीवी को परिभाषित करनेवाले मानदड को छोड़ देना। वह मानदड है एक ऐसा नज़रिया जो सामाजिक दुनिया और उसमें रहनेवाले हरेक व्यक्ति के संबधो पर ज़ोर देता है कि ये दोनो आयाम अविभाज्य हैं। सार्वजनीनीकरण और शुद्धीकरण की यही तकनीक है।

फ़िलहाल रूस में क्रांति के बुनियादीकरण के ज़ाहिरा अभाव की रोशनी में क्या बुद्धिजीवी के लिए यह लाजिमी नहीं है कि यह उस शिविर पर एक तीखी, सधी हुई आलोचनात्मक निगाह रखे? दूसरे शब्दों में क्रांतिकारी पद्धति के मानदंड क्या अभी भी रूस में साफ़ हैं? ..

बिल्कुल। सोवियत दुनिया के विकास के बारे मे हम जितना कुछ जान सकते हैं, बुद्धिजीवी को आलोचनात्मक होना ही चाहिए और उन बुनियादों को भी देखना-समझना चाहिए जिन पर सोवियत पद्धति टिकी है। सार्वजनीनता और क्रातिकारिता ही बुद्धिजीवी के सिद्धांत है, इसलिए इन दोनों मक़सदो की शर्त और एकता—क्राति—को स्थायी होना ही चाहिए। ज़रूरी नही कि यह ट्राट्स्कीवाद के अर्थ मे हो लेकिन बिल्कुल सामान्य अर्थ मे यह ज़रूरी है कि सघर्ष शुरू हो चुका है और अभी भी खत्म नहीं हुआ है। किसी भी देश को सपन्नता पाने के बाद सघर्ष छोड़ देने का हक़ नहीं है। ऐसा करके वह एक विशिष्टता को परिभाषित करेगा जो देशीकृत और इसीलिए झूठी है कि सार्वजनीनता, सपूर्ण विश्व के पैमाने पर ही होनी चाहिए। हम देखते हैं कि वर्ग-सघर्ष के कुछ सारभूत घटकों ने अपनी स्थिति बदली है और उनके लागू होने का क्षेत्र बदल गया है। एक देश, उसके समाज की सरचना और उसके नतीजतन वर्गों में सघर्ष होने की बजाय वह एक देश और दूसरे देश मे हो गया है।

इस संदर्भ में गौर करने पर यह पूछना मुमकिन है कि क्या अभी समाज से अभी भी क्रांतिकारी समष्टि की शक्ल उभरती है। ऐसा विश्लेषण सैद्धांतिक रूप मे किया जाना चाहिए और इसीलिए तार्किक रूप से, सार्वजनीन स्तर मे किया जाना चाहिए। क्योंकि यदि बुद्धिजीवी समाज के प्रति सैद्धांतिक रुख अख्तियार करना चाहता है तो सबसे पहले अपने देश के अंतर्विरोधों से मुक्त होना चाहिए। और इसके लिए वह सिर्फ सार्वजनीनता का ही उपयोग कर सकता है।

जहां तक मेरी बात है, रूस के बारे में अपने ज्ञान की बुनियाद पर मेरा निष्कर्ष यह है : १९१७ में क्रांतिकारी विचार मूर्तिमान हुआ और पूरी दुनिया के प्रसंग में उसका व्यवहार अनिवार्यतः शामिल हो गया। इसके साथ ही बाहर और उसके प्रयोग के दौरान लगातार पैदा होने वाले खतरे भी जुड़ते चले गए। मैं देखता हूं कि कुछ अंतर्विरोध तुरंत उभरे; मसलन्—औद्योगीकरण के आकस्मिक कार्यक्रम की तत्काल जरूरत; जिसने बदले में डेमाग्राफिक करेंण्ट की प्रमुख व्यवस्था की जरूरत पैदा की। यह अकुशल किसानों को मजदूर वर्ग में ले आई और नये घटकों की बुनियाद पर उस वर्ग की लगातार पुनर्रचना में फलीभूत हुई। उसने प्रचार का एक हथियार बनाकर, मार्क्सवाद का स्वर मद्धम कर दिया। एक *साफ़-साफ़ स्तरीकृत और विभेदीकृत ऐसी व्यवस्था* निर्मित करने की जरूरत भी पैदा हुई जो सर्वहारा और उसकी तानाशाही से लैस हो। इस अंतर्विरोध का नतीजा यह हुआ कि सर्वहारा के लिए उस तानाशाही का प्रयोग असंभव हो गया, सर्वहारा जिस तरह बना था, उसने शक्ति के *समर्थ प्रयोग के खिलाफ ही संघर्ष किया।*

व्यवस्था को कुशल बनाने के लिए एवजी रूपों को पाना जरूरी हो गया : *विशेषाधिकार हो मुआवज़े देना जरूरी हो गया, मजदूरी का अंतर बढ़ गया* जबकि सिद्धांततः मकसद बिल्कुल उल्टा—माग और उसकी सहनामी सामाजिक असमानताओं को कम करना था। इसका नतीजा सोवियत समाज में एक लंबी-चौड़ी नौकरशाही श्रेणी का निर्माण है जो अक्सर नौकरशाही की सत्ता के खिलाफ की जाती है, उसका अभिप्राय एक पूरी सामाजिक व्यवस्था है क्योंकि यह श्रेणी अपने ढंग से व्यक्तियों और स्वयं मजदूरों के स्तरण का नतीजा है। *खतरा रूस के निजी नहीं वरन् राजकीय पूंजीवाद पर आधारित पेटी बूर्जुआ* की अजीब घटना में बदल जाने का है और मुझे लगता है कि वह जरूरी तौर पर कुछ ऐसा है जिससे बुद्धिजीवी का सरोकार होना चाहिए। दूसरी ओर रूस अभी भी साफ-साफ एक ऐसे देश की नुमाइंदगी करता है जिसने मजदूरी के साधनों की निजी मिल्कियत खत्म कर दी है।

इसलिए रूस के प्रति इस हद तक आलोचनात्मक रुख अख्तियार करना मुमकिन नहीं है कि उससे रिश्ते ही खत्म कर दिए जाएं। सवाल हालात की बारीकी से पड़ताल करने का भी है। हर किस्म की तरक्की की हिम्मत बढ़ाकर, हर किस्म के खतरे से बचकर याने सिद्धांतों की सही समझ की मुस्तैदी से हिमायत करके बुद्धिजीवी असर डाल सकता है और एक प्रक्रिया को प्रभावित कर सकता है, यह असंभव नहीं है। बुद्धिजीवी राजनेता से अलहदा है, इसलिए कि उसका सैद्धांतिक कर्म हर मुमकिन भटकाव के खिलाफ क्रांतिकारी कर्म की सुरक्षा होना चाहिए।

इसीलिए एक निरपेक्ष और स्वतंत्र आलोचनात्मक स्थिति के बहाने या सार्वजनीनता की खालिस और कोरी मांग के नाम पर रूस से रिश्ते खत्म करना मुझे गलत रूस और आलोचना और अनुशासन के बीच के संभावना-भरे अंतर्विरोध का गलत हल लगता है। ऐसा क़दम उठानेवाला कोई भी सच्ची संभावना की जमीन बना सकने मे नाकामयाब होगा, वह जमीन जो अपने अतीत और जो कुछ अब उसका अतीत बन गया है उसकी बुनियाद पर रूस की पहल का जुज बन चुका है। नतीजतन सार्वजनीनता की रक्षा के लिए आलोचनात्मक आकाक्षा के नाम पर और इसलिए सत्यनिष्ठा और क्रांतिकारिता की दो बुनियादी विशेषताओ को एक-दूसरे के खिलाफ रखकर वह स्थिति के असरदार विश्लेषण के सत्य को भी झुठलाएगा।

दूसरी ओर एक ऐसे देश के रूप मे रूस के प्रति निष्ठा पूरी तरह नकारात्मक नही हो सकती जिसने उत्पादन के साधनों को अपने अधिकार मे किया है, जो अभी तक पूर्वसमाजवाद के स्तर से शायद आगे नही गया है लेकिन जिसमे किसी हद तक समाजवाद की एक धारणा मौजूद है और इस तरह कमोवेश अपेक्षित रीति से समाजवाद के यथार्थ की नुमाइंदगी करता है। चूकि उसमे हर चीज के बावजूद क्रांतिकारी तत्त्व है, इस तरह के विश्लेषण पर आधारित निष्ठा पूरी तरह नकारात्मक नही हो सकती। इसलिए रूस से रिश्ते खत्म करने का कोई मतलब नही। जो जरूरी है और जिसका मैंने जिक्र किया है, वह है : एक किस्म की द्वंद्वात्मक निष्ठा।

इसी वजह से रूसी समाज की आलोचना करनेवाली चीनी स्थिति को भी बिना शर्त स्वीकार करना असंभव है। अव्वल तो इसलिए कि उसकी आलोचना खुद राजनीतिक और भावुकतापूर्ण है--क्योंकि उनमे से कुछ आलोचनाए बेहद तर्कपूर्ण भी हैं—और दूसरे जब तक कि उसे पूरी तरह यक़ीन न हो जाए--और ऐसा एक लंबे और सगठित विवाद के बाद ही मुमकिन है—तब तक इस बहाने कि फलां अधिक क्रांतिकारी है या अर्द्धविकसित देशों के लिए फलां बहुत कुछ कर रहा है, इस शिविर से उस शिविर की ओर लपकना बुद्धिजीवी की भूमिका नहीं है। उल्टे उसकी भूमिका ऐसी स्थिति बनाए रखने मे है जिसमे वह समाजवादी दुनिया के पुनर्निर्माण की संभावनाओ की खोज की लगातार कोशिश कर सके, भले फिलहाल वास्तविकता उसके खिलाफ लगती हो। किसी भी हालत में उसका काम संभावनाओं के दायरे—खासकर चीनी और रूसियों के बीच मुमकिन रिश्तो—के संदर्भ में मौजूदा वास्तविकताओ को देखना है। जिनसे मैं जापान में मिला था उन कुछ जापानी लेखको के रुख इस मामले मे बेहद दिलचस्प है, हालांकि मैं नही जानता कि वे यह रुख कब तक बनाए रख सकते है। वे अपने चीनी दोस्तो के यहां बेहद नियमित ढंग से

जाते हैं और फिर साल-छह महीने बाद या चीन से यात्रा करते हुए सीधे अपने सोवियत दोस्तों से मिलते हैं। उनका तर्क होता है : 'हमारा काम इसकी या उसकी भर्त्सना करना नहीं है क्योंकि इससे अलगाव पैदा होता है, विशिष्टताएं बनती हैं। हमारा काम उस सार्वजनीन की खोज और उसकी कोशिश है जिसकी बुनियाद पर दोनों नज़रिये यदि अनुकूल न सही तो कम-अज-कम एक-दूसरे को समझने लायक तो हो सकें। ल'सोशियलिज्मे दिफीसील में गोर्ज़ बड़ी कुशलता से यही करता है। वह बताता है कि फ़िलहाल यूरोपीय साम्यवादियों की स्थिति का मतलब यह होता है कि वे किसी हद तक रूस याने विकसित देशों की नीति को स्वीकार करते हैं लेकिन दूसरी ओर पूरी तरह क्रांतिकारी युद्धनीति के बारे में उनके लिए इतना तय है कि चीन की स्थिति में क्रांति के तत्त्व कहीं अधिक विकसित हैं, खासकर तीसरी दुनिया के प्रसंग में।

क्या क्यूबा चीनी और रूसी ध्रुवों की तुलना में एक बुनियादी क्रांतिकारी ध्रुव का निर्माण करता है ?…

एक बुद्धिजीवी के लिए क्यूबा का पक्षधर न होना बिल्कुल असंभव है। इस अस्तव्यस्त क्रांति के अपने निषेधात्मक क्षण थे लेकिन उसकी एक दिशा है जिसका अनुसरण उसने किया, एक दिशा जो क्रांतिकारी रही है और है। उन रिश्तों के प्रसंग में एकता की स्थिति न अपनाना भी असंभव है जो क्यूबा लातीनी अमरीका में शुरू कर रहा है। दूसरी ओर हमारी ऐतिहासिक स्थिति पर पूरी तरह क्यूबायी क्रांति की विधि का प्रयोग भी नामुमकिन है। दक्षिण अमरीकी संदर्भ में क्यूबा के द्वारा की गई कार्यविधि पूरी तरह उचित है लेकिन बिना संशोधन के उसका यहां आयात नहीं किया जा सकता। इस प्रकार कुछ लोग क्रांतिकारी देशों के पक्ष में अपनी पूरी एकता का इजहार कर सकते हैं और उसी तरह के क्रांतिकरण को यहां दुहराने का मौका दिये बगैर यह महसूस कर सकते हैं कि उन्होंने बेहद क्रांतिकारी कर्म किया है। कारण, उन्होंने शुरुआत की मसले की किंचित गलत समझ से, जिसने उनके क्रांतिकरण को उचित ठहराया लेकिन इसी के साथ उस क्रांतिकरण को दूसरी जगह ज्यों-का-त्यों स्थानांतरित करना असंभव बना दिया।

उनके लिए बुनियादी मकसद सेना थी। लातीनी अमरीका के अनेक राज्यों की तुलना में यह पहले ही एक क्रांतिकारी स्थिति थी। दरअसल, उन राज्यों के वामपंथी का बहुमत यह भरोसा करता है कि जनप्रिय घटकों के साथ जोड़कर सेना को वाम के द्वारा वश में किया जा सकता है। पहला क्रांतिकारी क़दम यह एहसास था कि जब तक सेना की बल प्रयोग की ताकत अबाध है तब तक स्वस्थ शासन नामुमकिन है। फिडेल ने एक बार मुझसे कहा था :

'यदि हमने समझौते की बुनियाद पर हुकूमत पाई होती तो बावजूद सारे नेक इरादों के हम लोग भी भ्रष्ट हो गए होते।'

सेना के प्रति यह नज़रिया पहली क्रांतिकारिता थी। दूसरी थी—सेना के पीछे अमरीकी स्वार्थों की खोज। फिडेल ने बतिस्ता के विरोध मे शुरुआत की और अपने कार्य की क्रांतिकारिता से उन्होने जल्द ही यह देख लिया कि बतिस्ता के पीछे सेना की ताकत है और सेना की ताकत के पीछे है : अमरीका की ताकत। क्रांतिवाद का तर्क बेरहम होता है। इसी तरह की क्रांतिकारिता के खिलाफ़ अमरीका, वियतनाम मे है।

तो यह एक वास्तविक स्थिति है लेकिन हम यूरोपवासियो के लिए यह एक उदाहरण, एक नमूने, एक लाक्षणिक और अक्षरश: सबक के रूप मे नही बल्कि एक द्वंद्वात्मक किस्म के बौद्धीकरण और क्रांतिकरण के रूप मे होनी चाहिए। यह दावा किया गया है कि चेगुएवेरा ने रेजिस द'ब्रे से कहा था : 'अपने घर—फ्रांस—जाओ और वहां गुरिल्ला सेनाओ का निर्माण करो।' यह दावा लचर है। चेगुएवेरा ऐसा कह नही सकता क्योकि उसे अच्छी तरह मालूम था कि औद्योगीकृत राष्ट्रो की परिस्थिति में क्राति की पूर्व शर्त की तरह गुरिल्ला सेना की अपेक्षा नही है। इसके अलावा द'ब्रे अपनी पुस्तक में इसे पूरी सफाई से समझाता है : 'कास्त्रोवाद लड़ाई के जरिये और खुद अपनी ज़मीन पर लातीनी अमरीका मे हर एक सिम्त मार्क्सवाद के सत्य की खोज कर रहा है।' कास्त्रोवाद के पास क्रांतिकारिता की इस मिसाल के अलावा पेश करने के लिए और कुछ नही है।

क्या इस तरह का आलोचनात्मक विश्लेषण अत्यधिक सैद्धांतिक नहीं है और व्यवहारतः क्या पश्चिमी बुद्धिजीवी को निष्क्रियता का अभिशाप नहीं देता ? पश्चिमी देशों, खासकर फ्रांस में क्रांतिकारी बुद्धिजीवी क्या कर सकता है ?

पहला और बुनियादी काम यहा, फ्रांस मे, दरअसल आलोचनात्मक विश्लेषण ही है। इसके कई नज़रिये है। बिना आवेग के लेकिन सख्त वस्तुपरकता से व्यावसायिक वर्ग के पूरे मम्बो-जम्बो की भर्त्सना करते हुए किताबें और लेख लिखना, इस विषय पर प्रकाशित छद्म वैज्ञानिक साहित्य का विरोध करना, उसका मुकाबला करना, उसकी कलई खोलना और यदि जरूरी हो तो जनमाध्यमो का उपयोग करना एक सार्थक श्रम है ताकि वे कारण सामने रखे जा सकें जो समझने मे आसान है, लेकिन जो सामान्यीकरण के स्तर पर उतर कर न रह जाय।

दूसरा काम फ्रांस की वास्तविक स्थिति का विश्लेषण होगा—अमरीका

पर उसकी आर्थिक निर्भरता, उसकी तथाकथित स्वतंत्र नीति, जबकि स्वतंत्रता की एकमात्र संभावित नीति वह आर्थिक नीति ही होगी जो फ़िलहाल हमारी अर्थव्यवस्था पर हावी अमरीकी पूंजी के विरोध में दरअसल वर्गसंघर्ष के भीतर फ्रेंच पूंजी के विकास की कोशिश करेगी। बुद्धिजीवी पहले तो आर्थिक परिस्थिति की झूठी व्याख्याओं का मुकाबला करेगा याने सार्वजनीनता के बहाने के पीछे छिपी उसकी विशिष्टता की कलई खोलकर, उसकी भूमिका और उसके वर्ग-दर्शन को उघाड़कर वह बूर्जुआ विचारधारा का विरोध करेगा, वह वास्तविक स्थिति को दिखाने याने फ्रांस आज जिस स्थिति में है उसका ठीक-ठीक आकलन करने की कोशिश करेगा। यह एक ऐसा नजरिया है जिसे मैं खास तौर पर बौद्धिक मानता हूं बशर्ते वह आलोचनात्मक हो। मुझे नहीं लगता कि खास योजना के मकसदों के स्तर पर सुझाव देना बुद्धिजीवी का काम है। यह काम पार्टी का है लेकिन बुद्धिजीवी जो कुछ और कर सकता है वह है : कुछ उन सिद्धांतों को पुनर्परिभाषित करने की कोशिश जो आज दरकिनार कर दिये गये हैं : मसलन् क्रांति के सिद्धांत।

क्या क्रांति से अलग कोई क्रांतिकारी प्रतिमान होते हैं ? इसी तरह क्या कर्म से परे कोई सैद्धांतिक अमिथकीयीकरण हो सकता है ?...

सैद्धान्तिक अमिथकीयीकरण और कर्म एक और अविभाज्य हैं। अमिथकीयीकरण कुछ ऐसी चीज है जो किसी किस्म के व्यावहारिक कर्म में रत लोगों के समुदाय के निमित्त ही की जा सकती है। इसीलिए मैंने कहा कि बुद्धिजीवी के सामने पेश मुश्किलों और उसके अंतर्विरोधों में से एक यह है कि जिस हद तक पार्टियां राजनीतिक ढांचे में होती हैं—और इसीलिए अक्सर उनकी रुझान ऐसी संभावनाओं के वरण की ओर होती है जो उन्हें क्रांतिकारी दिशा से भटका देती है—उस हद तक *वह पार्टियों के द्वारा अधिक पसंद नहीं किया जाता।* बुद्धिजीवी को सिद्धांतों का आग्रह करना चाहिए। इसके अलावा खुद को उन लोगों के काम में पेश करके वह अपने व्यावहारिक ज्ञान का विकास कर सकता है जो उसकी ही तरह सार्वजनीनता चाहते हैं। आखिरकार समुदाय के भीतर उसका काम समुदाय को उसके मकसदों की लगातार याद दिलाते रहना है जिसका आत्यंतिक लक्ष्य सार्वजनीन समाज है। और यदि जरूरी हो तो उसे यह भी बताना चाहिए कि एक विशेष भटकाव, भविष्य को खतरनाक ढंग से संकट में डाल सकता है।

लेकिन बुद्धिजीवी को कर्म की कौन-सी निश्चित दिशा सामने रखनी चाहिए ?

मैं उसी की बात करने वाला था। अव्वल तो जिस समुदाय का वह प्रतिनिधि
है उसके साथ बुद्धिजीवी को क्रांति के विचार पर पुनर्विचार और पड़ताल
करना चाहिए जैसा कि गोर्ज और इतालवी कम्युनिस्ट बुद्धिजीवी कर रहे हैं।
यह स्वीकार करते हुए कि सुधारवाद का मतलब वर्ग सहयोग की नीति के
पक्ष में क्रांति को तिलांजलि देना है और दूसरी ओर '५० या '६० साल पहले
क्रांति जिस रूप में परिभाषित हुई थी, घटनाओं के नतीजतन उसी रूप में आज
दुहरायी नहीं जा सकती, खासकर पश्चिम में उसकी कोई अनकरीब संभावना
नहीं है, उसका मक़सद यह तय करना है कि क्या दरअसल क्रांति सुधारवाद
के इकहरे द्वंद्व से ही हमारा साबिका है। इस सिलसिले में गोर्ज की-सी पुस्तकों
की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्रांति की दुनिया में भी मिथकीयीकरण होता
है। जब कोई व्यक्ति खुद को क्रांतिकारी कहता है तब वह जरूरी तौर पर
क्रांतिकारी नहीं हो जाता। आज की समस्या ठीक-ठीक यह जानना है कि क्रांति
क्या है? उससे क्या समझा जाए? हम जानते हैं कि उसका मक़सद पहले के
प्रभुत्वसंपन्न वर्गों के, कमोबेश खत्म कर दिये गये लेकिन फिर भी मौजूद, तत्त्वों
की बुनियाद पर मजदूर वर्ग की कामचलाऊ तानाशाही के जरिये मौजूदा
समाज की जगह एक वर्ग-विहीन समाज की रचना है। चुनांचे समस्या यह
जानना नहीं है कि मौजूदा हालात में क्रांति कैसे सफल हो बल्कि यह जानना
है कि उस तक पहुंचने की शुरुआत कैसे हो? जो पूरी तरह मजदूर वर्ग से
निर्मित होती हैं और जिनमें सैद्धांतिक और व्यावहारिक क्रांति की स्थिति
निहित होती है उन ट्रेड यूनियनों और दलों के समुदाय के लिए आखिरकार
अब उसका क्या मतलब है? फ्रांस में इसका मतलब है: एक समान कार्यक्रम
की बुनियाद पर वाम की एकता। यह निहायत जरूरी और बुनियादी काम है।
इस आधार पर कि वे निहायत बटी हुई और अक्सर आपस में बेमेल और
विरोधी हितों की नुमाइंदगी करती है, इसलिए सारी वामपंथी ताकतों को
नकारने में ही क्रांतिकारिता निहित है, ऐसा सोचना गलत है। उल्टे यह संघर्ष
की एकमात्र संभावना के निर्माण का सवाल है।
लेकिन बुद्धिजीवी कोई राजनेता तो है नहीं। जिस कार्यक्रम की एक मोटी
रूपरेखा उसने रखी है, पार्टी को उसे उस दिशा में प्रवृत्त करना चाहिए लेकिन
यह उसका काम नहीं है कि वह नियत और ठोस ब्योरों का हल पेश करे।
जिनको वह रूपायित कर सकता है उन सिद्धांतों के सारे विस्तार के साथ बुद्धि-
जीवी को कुछ क्रांतिकारी सिद्धांतों की लगातार हिमायत करनी चाहिए।
अल्जीरियाई युद्ध के मौके पर वह कहेगा कि यह एक उपनिवेशवादी युद्ध है।
वह बताएगा कि सेनाओं को अलग रहने के लिए उकसाने के किन व्यावहारिक
माध्यमों से किस सीमा तक उसका विरोध करना चाहिए। लेकिन उन शर्तों को

परिभाषित करना क़तई उसका काम नहीं है जिन पर एफ०एल०एन० द'गाल से सुलह करेगी। उसका काम एक, महज़ एक, बात कहना है कि : फ्रांस को वहां से हट जाना चाहिए। यह वह कैसे करे और बाद में दोनों देशों के बीच रिश्ते कैसे हों, यह सब दूसरे मसले हैं। हां, शर्त सिर्फ यह है कि स्वतंत्रता के रिश्तों के सिद्धांत की हिमायत की जाएगी।

> आपने एक न्यूनतम मंच का आह्वान किया है। वामपंथी पार्टियों के पारंपरिक संघों के ज़रिये *क्या हमारे पूंजीवादी समाज में* पर्याप्त बदलाव आ सकता है ताकि क्रांतिकारी संघर्ष की बजाय समाधान का वरण किया जा सके? प्रगतिशील बदलाव और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का यह विचार अमरीकियों की ओर से किसी आक्रमण की शुरुआत के पहले किसी समझौते की ओर भी ले जा सकता है। क्या हमें क्रांतिकारी कर्म और बदलते पूंजीवाद के बीच ही चुनाव करना है?···मसलन् यदि क्यूबा पर कल अमरीकियों ने आक्रमण किया तो वाम को कौन-सा रुख अख्तियार करना चाहिए? यह रेखा कहां है जिसका पूंजीवादी समाज को सुधारने और बदलने की उम्मीद में अतिक्रमण नहीं किया जाना चाहिए?

मेरी राय में उस रेखा का कई मौकों पर पहले ही अतिक्रमण किया जा चुका है। वाम का काम यह है—और यही उसकी समझ में नहीं आता—कि सबसे पहले कमोबेश वैधानिक तरीकों—याने हड़तालों और मतदान—से एक क्रांतिकारी स्थिति का निर्माण किया जाए। यदि वाम ताक़त हथिया लेता है तब—उस मौके पर—वह अपने बूर्जुआ की तुलना में नहीं बल्कि अमरीकी साम्राज्यवाद की तुलना में खुद को एक क्रांतिकारी स्थिति में पाता है।

> बहरहाल, फ्रांस में फ़िलहाल वामपंथी राजनेताओं द्वारा पेश विचार बहुत कुछ मद्धम हो गए हैं। वे बूर्जुआ को ग़लत तरीके से सबक़ सिखाने से डरते हैं और कम्युनिस्ट पार्टी को कुछ रियायतें देने के बहाने महज़ कुछ उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव रखते हैं। यों कर्म के प्रसंग में उनकी बहुत संभावनाएं नहीं हैं। वे कोशिश करेंगे और शासन करेंगे और यदि अगले चुनाव में प्रजातांत्रिक तरीके से हार जाएंगे तो शासन से हट जाएंगे। इससे कौन-सी संभावना सामने आती है?

नहीं, मैं समझता हूं होगा यह कि जैसे ही वे कुछ भी शुरू करेंगे, वे एक ऐसी कलह में फंस जाएंगे जो पहले तो प्रच्छन्न होगी लेकिन जल्दी ही अंतर्राष्ट्रीय हो

जाएगी। कारण यह है कि आजकल वाम की बजाय दक्षिण के द्वारा क्रांति-कारी स्थितियां ज्यादा निर्मित की जा रही हैं। प्रतिक्रांति वही भड़कती है जहां सिर्फ शांतिपूर्ण सुधार के आंदोलन की ही उम्मीद की जा रही होती है। मेरे सामने ग्रीस की मिसाल है। मेरा मतलब यह नही है कि ग्रीक खास तौर पर क्रांतिकारी थे। वे एक कुशल प्रजातंत्र चाहते थे। जो उनमे सबसे ज्यादा दिलेर थे, चाहते थे कि राजा गद्दी छोड़ दे ताकि एक माकूल बूर्जुआ प्रजातंत्र बन सके लेकिन उनमे से कई, अधिकार-प्रयोग से विलग राजा या उसके आशीर्वाद वाली केन्द्रीय सरकार से ही खुश हो जाते। आपने देखा कि किस तरह वह स्थिति भी अमान्य हो गई, क्योंकि अमरीका ने तुरन्त एक सैन्य-विप्लव संगठित किया। ग्रीस हमसे उतनी दूर नही है। हम खुद से यह नही कह सकते—वैसा यहा कभी नही होगा। १९३९ में लोगों ने पोलैंड के बारे मे भी यही कहा था और अब वियतनाम के बारे में यही कहते है। लेकिन ग्रीस ने हमारे लिए यह साबित कर दिया है: 'वह यहा भी हो सकता है।'
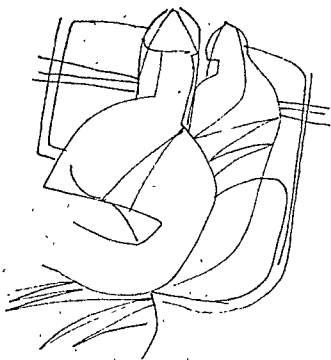
सच्चे क्लैसिक की आधुनिकता

हजारीप्रसाद द्विवेदी से रमेशचंद्र शाह, अशोक वाजपेयी और भगवत रावत की बातचीत

हजारीप्रसाद द्विवेदी की यह अद्वितीयता थी कि ऐसे समय में जब परंपरा और आधुनिकता के बीच कम-से-कम साहित्य की अंतर्क्रिया के सभी रास्ते बंद हो गए से लगते हैं, तब उन्होंने भारतीय अतीत और वर्तमान को एक निरंतर तथा अनिवार्य संबंध में न केवल देखा बल्कि उससे हमें भी परिचित कराया।

आपकी पुस्तकों में **बाणभट्ट की आत्मकथा, चारुचंद्र लेख, पुनर्नवा, अनामदास का पोथा** (उपन्यास), **नाथ संप्रदाय, कबीर, सूर साहित्य, फलित ज्योतिष** (समालोचना और विविध), **विचार और वितर्क, विचार प्रवाह, अशोक के फूल** (ललित निबंध) काफी चर्चित रहे हैं। हाल ही में राजकमल प्रकाशन ने संपूर्ण वाङ्मय ग्यारह खंडों में प्रकाशित किया है।

●

रमेशचंद्र शाह: महत्त्वपूर्ण कवि-कथाकार-आलोचक। **छायावाद की प्रासंगिकता, समानांतर** (आलोचनात्मक निबंध संकलन), **कछुए की पीठ पर, हरिश्चंद्र आओ** (कविता संकलन), **जंगल में आग** (कहानी संकलन) और **मारा जाई खुसरो** (नाटक) प्रकाशित।

भगवत रावत: एक कविता संकलन **समुद्र के बारे में** प्रकाशित। दूसरा संकलन शीघ्र प्रकाश्य। सभी महत्त्व की पत्रिकाओं के सक्रिय रचनाकार।

□□

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अक्टूबर '७७ की एक शाम मध्यप्रदेश कला परिषद् के ललित कला भवन में सूरदास पर भाषण था। उसके फौरन बाद हम उन्हें इस बातचीत के लिए घेरकर अपने घर ले आए जहां रमेशचन्द्र शाह, भगवत रावत, ज्योत्स्ना मिलन और आचार्य विनयमोहन शर्मा के साथ बैठे हुए हमारी यह बातचीत हुई। बिना किसी तैयारी या पूर्वाभास के, निहायत बेतकल्लुफी के साथ और उसे तभी टेप कर लिया गया था। कुछ अश इसलिए छोड़ देने पड़े हैं कि द्विवेदीजी की आवाज उसमे बेहद अस्पष्ट है। उन्हें जल्दी तो नहीं थी पर कुछ थक वे जरूर गए थे। इसलिए तब यह लगा था कि बातचीत *अधूरी रह गई और फिर कभी उसे आगे बढ़ाना चाहिए। इस संपादित* अंश में वह अधूरापन न जान पड़े इसका जतन किया है पर इसमे संदेह नहीं कि बातचीत आगे बहुत चल सकती थी।

□□

रमेशचन्द्र शाह : पंडितजी, मुझे कुछ बंगला उपन्यासों को पढ़ते हुए, हिंदी उपन्यासों को पढ़ते हुए, एक फ़र्क़ ये नजर आया दोनों के स्वभाव में···यहां ह्यूमर जो है काफ़ी है। मसलन् रवि बाबू के उपन्यासों के स्ट्रक्चर में, उसकी बनावट में ह्यूमर इतना अनिवार्य अंग होकर आता है। महज एक जो सिर्फ़ हल्का करने के लिए नहीं बल्कि उसके उपयुक्त समाज-संस्कार और दृष्टि को प्रस्तुत करने के *लिए ह्यूमर बहुत ही अनिवार्य होता जाता है। उसमें सिर्फ़ यह कारण है कि यह एक ज्यादा नगरीय संस्कृति थी जो यहां विकसित* हो सकी कलकत्ता के रूप में ? या कि हिंदी प्रदेश के लोगों में और बंगला लोगों में वास्तव में कोई सामूहिक संस्कार का ही कोई ऐसा अंतर है, क्योंकि हिंदी में औपचारिक ह्यूमर जो हमारे अच्छे उपन्यास भी हैं उनमें भी ये तत्व उस रूप में उतना नहीं मिलता है।

आपने शायद यह बताया है कि वो जिस रूप में, दूसरे रूप में मैंने जो अनुभव

किया कि एक तो बंगला उपन्यास और दूसरी ओर हिंदी उपन्यास लिखे जा रहे हैं, उनको मैंने पढ़ा है, तो वो मुझे ये लगता है कि अब उनको आप ह्यूमर कहते हैं। मैं ये कहता हूं कि उपन्यास लिखने के लिए मुहावरा होता है वो बंगाली लेखकों को ज्यादा सधा हुआ है, हमारे लेखकों की तुलना में।

इसमें खड़ी बोली कुछ भाषा ही हिंदी हमारी है; ये सच पूछिए तो ये न आपकी भाषा है, न मेरी भाषा है, ये हम लोगों ने एक बनाई है मिलकर। असली बात तो यह है कि ह्यूमर वगैरह जो होता है हमारी स्वाभाविक भाषा मे होता है। ये कुछ भाषा ऐसी बनावटी बन गई है कि इसमे गुरु-गंभीरता आ गई है। एक तो संस्कृत शब्दों का प्रयोग बहुत ज्यादा हो जाता है। संस्कृत भाषा में भी आप ज्यादा ह्यूमर नही पाएंगे। संस्कृत के नाटकों में ह्यूमर आप देखें तो बहुत ही बेकार-सा नज़र आता है "अरे सांप काट लिया रे···सांप काट लिया रे"···ये जो इस तरह के भांड लिखे गए हैं वे इतने अश्लील हैं कि उनमे क्या है बहुत ही रुचि मे गर्हित हो जाते हैं। एक ही संस्कृत का नाटक है जिसमे ह्यूमर बहुत अधिक है। अच्छा है, रिच है, वह है···मृच्छकटिक। तो मृच्छकटिक में जो ह्यूमर है उसको भी आप देखेंगे कि संस्कृत के गुण उसमे नही हैं।

शाह : प्राकृत के हैं ? प्राकृत में कुछ चीजें तो हैं।

क्योकि संस्कृत भाषा ही ऐसी गुरु गंभीर भाषा हो जाती है कि उसमे कोई चीज, हल्की चीज कहना चाहते हैं···नही मुंह से निकल पा रहा है तो उसको संस्कृत शब्दो मे कह देते हैं आप। इसकी तुलना हम फ़ारसी से करें। फारसी मे वो बात है, जिसके कारण उर्दू में है, लेकिन हम लोगो के देखते अभी भी जो अच्छा ह्यूमर हिंदी मे लिखता है कोई, तो वो भाषा का उतार-चढ़ाव उर्दू की तरह लाता है क्योंकि वो स्वाभाविक भाषा ऐसी बन जाती है। एक तो यह है कि वो एक ऐसी भाषा लिखते हैं जो उनकी वास्तविक भाषा है, वो नही है। कुछ अजीब भाषा और दूसरे उसका इतना अधिक संस्कृतकरण करते हैं कि उसमें गुरु-गंभीरता आने लगती है और सहज प्रवाह है, हल्का-फुल्कापन है, वो ज़रा कम हो जाता है। और बंगाली लेखकों में सस्कृतकरण का ये नहीं है। लेकिन आप इधर देखेंगे, बंकिमचन्द्र के बाद से ये चला है। बंगला उपन्यासों में बहुत कथ्य वाली भाषा हो जाती है। और उसको बंकिमचन्द्र की भाषा को या कि शरत्चन्द्र की भाषा को वो साधु भाषा कहते हैं। कथ्य भाषा को, जो बोलचाल की भाषा है, उसमे ऐसा आता है।

शाह : रवींद्रनाथ के उपन्यासों में भी, कहानियों में बहुत है ऐसी बात ?

हां, लेकिन वहां तो रवीन्द्रनाथ के बाद साधु भाषा एकदम छोड़ दी गई, जो कलकत्ते की वजह से है। लिते छे, नही लिखा, चोल छे, लिखा। लेकिन वो जो भाषा है लोकभाषा के बहुत निकट हो गई है। हमारी तरफ़ तो ऐसी भाषा तिरस्कार का विषय हो जाती है। एक पंडित है भाषाशास्त्र के, उन्होंने कहा कि भाषा का स्टैंडर्डाइज्ड रूप तो ये नही है। हमने कहा कि आपका क्या मतलब ? पटना मे जो हिंदी लिखी जाती है, बंबई में जो हिंदी लिखी जाती है वह दूसरे किसी तरह की हिंदी होती है। कलकत्ते मे चोलो छे, चोल छे, चोलिया छे, चोलिछिलम्, चिलिछिलाम्, चिलियाछिलाम् ये चार रूप मिलते हैं—एक क्रिया के। ऐसा ही हिंदी मे भी होता है तो उसको कहते है कि स्टैंडर्डाइज्ड रूप मे होना चाहिए। तो वे उल्टे घबराने लगे, जो आप कहना चाहते हैं, उसको मैं समझता हू। आप क्या इसको यू नही कह सकते कि हिंदी···टू स्टैंडर्डाइज्ड हो गई है हमारे यहा ?

> **शाह : मगर इस स्टैंडर्डाइज्ड को तोड़ने के लिए भी उपन्यास में जिन लोगों ने कोशिश की है···मसलन् उनका मूल संस्कार जैसे —मालवी या कुमाऊंनी या भोजपुरी का है, उससे भी क्या वह औपन्यासिक रचना के लिए उपयुक्त समाज संस्कार की कमी वाला सवाल कट जाता है ? जैसे—नरेश मेहता ने उपन्यास लिखे लेकिन ये कविता की तरह गद्य में भी हिंदी को बंगला की तरह मुलायम बनाने की कोशिश जो होती हैं, वह क्या सब जगह जरूरी और सही होगी ? आप क्या सोचते हैं उस तरह भाषा को कहां तक···**

कहां तक तोड़ना चाहिए···

> **शाह : मेरा मतलब···कई जगह अच्छा, बहुत अच्छा भी लगता है। भाषा की लोच बढ़े, घुलावट आए, मिठास आए, किसे अच्छा नहीं लगेगा ? पर आखिर खुरदरापन भी तो चाहिए और उसकी भाषा को हम अपनी शर्तों पर क्यों चलाना चाहें···**

उसमे कही कुछ ऐसा होना चाहिए कि भाषा मे थोडा सहज भाव आए। और दूसरी बात यह है कि हमारे उपन्यास साहित्यिक उपन्यास है। मैं यह नहीं कह रहा हूं, आपको सजेस्ट कर रहा हूं, चार-पाच नाम चुने है उपन्यासों के, जिस को मैं चाहता हूं कि मैं लिखने की कोशिश करूं ··(हंसी) स्टैंडर्डाइज्ड रूप मे ···कई लोगो के हैं, मगर हिम्मत नही होती कि क्षमा याचना के साथ इनका अनुवाद कर दू। साहित्यिक नहीं होती भाषा उसमे सब मिलाकर के वही हो

सकता है कि संस्कार'''मुझे लगता है कि जिस चीज को अधिक सहज कर सकते हैं, जैसे शिवानी, उसमें बगला प्रवाह है, ज्यादा साहित्यिक लिखती है। लेकिन साधारणतः खड़ी बोली वाले खड़े के खड़े रह गए हैं।

शाह : लेकिन मुश्किल यह है कि जिनमें यह सहजता और प्रवाह है उनमें उपन्यास लिखने में और दूसरी गड़बड़ियां हैं।

यशपालजी को लीजिए। यशपाल की कई कृतियों मे कई-कई जगह हमने देखा है कि कई जगह वो जैसा सवारने का प्रयत्न करते हैं, नही हुआ। कई जगह बहुत अच्छा है। जहा आजकल बोल-बोलकर लिखाने लगते हैं'''साहित्य थोड़ा-सा बैठक चाहता है। मैं नहीं मानता कि आप लोग जैसे अशोकजी, रिपोर्ट लिखवा लेते हैं वैसे साहित्य भी लिखवा सकते हैं। थोड़ा-सा प्रयत्न करना पड़ता है। काटना-छांटना पड़ता है। संवारना पड़ता है। खूब प्रयत्न करके लिखना पड़ता है। ऐसा मेरा अनुभव रहा है'''ये मेरा व्यक्तिगत रूप से है, मैं गलत भी हो सकता हूं। याने लोग ज्यादातर बोल-बोलकर लिखाने लगते हैं। निरालाजी ने भी लिखाया।

अशोक वाजपेयी : शायद इसमें एक आग्रह यह भी था कि निराला भाषा को निरलंकार कर देना चाहते थे।

जरूरी थोड़े ही है कि अलंकार की भाषा ही साहित्यिक हो सकती है। स्वाभाविकता भी एक अलकार ही है तो मेरा मतलब यह नही कि कादंबरी लिखी जाए। लेकिन ऐसा तो होना ही चाहिए कि शब्दों का चयन बहुत सावधानी से, कुछ अनावश्यक अशों को छांटना और थोड़ा एक बार लिखने के बाद उसको फिर से आलोचक की दृष्टि से स्वय पढना। तो जब-जब ऐसा हुआ है तब-तब अच्छा लगता रहा है और जब-जब ऐसा नही हुआ तब-तब वो स्पष्ट लग जाता है। यहां पर एक कहानी सुना दूं। खाली तत्व की बात ही तो नही होनी चाहिए। (हसी) गुरुदेव के साथ नंदलाल बोस गए थे चीन और वहा से जापान। जापान मे एक बड़े आर्टिस्ट थे। ये भी आखिर आर्टिस्ट थे। इन्होंने उनका दर्शन करना चाहा, उन्होंने व्यवस्था कर दी। गुरुदेव और नंदलाल बोस को जिस कमरे मे ले जाकर बिठाया गया उसमे कोई सज्जा नही थी, बस एक फूल का गुच्छा था, जो एक कोने मे रखा था और गुरुदेव ने बाद मे लिखा है कि वह कमरा इतना भरा हुआ लग रहा था कि एक पुष्प-भर वहां था, लेकिन वह पुष्प इस तरह रखा हुआ था कि पूरा कमरा जैसे भर उठा था। फिर वहां ले जाकर बिठाया इनको। नंदलाल बोस उस समय नौजवान थे। तो उन्होंने विशेष रूप मे बुलवाया। आर्टिस्टों मे बातचीत कराने का उद्देश्य

था। वे आये और आ करके पहले देखा इनको। ये बैठे थे। उन्होंने चटाई अपनी बिछाई। फिर उनकी बहू आई। उसने उसको साफ-वाफ करके खूब जमा दिया। फिर उनके परिवार की और लड़कियां आयी। उनके पीछे फूल का गुच्छा रख दिया। उसके बाद उनकी पत्नी आयी। वे अपने साथ-साथ उनके चित्र भी लिवा लायी। ये सब चीजें आयी तो वे वृद्ध चित्रकार घुटनों के बल बैठ गए और ध्यान करने लगे। तब ध्यान के बाद कुछ बातचीत का सिल-सिला चला। गुरुदेव ने कहा कि एक चित्रकार को ले आए है आपके पास कि वे आपको देखें, आपके चित्रों को देखें और आपको समय हो तो आप थोड़ा चित्रांकन भी कर दें तो ये देखें कि कैसे इतना बड़ा चित्रकार, चित्राकन का काम करता है। उस वृद्ध चित्रकार ने चित्रांकन किया फिर उस वृद्ध चित्रकार ने कहा कि कभी तुम्हारा आर्टिस्ट भी कुछ बनाए तो मैं भी देखू। बाद में नंदलाल बोस ने भी चित्रांकन किया। इनके चित्राकन को बस वृद्ध चित्रकार ने देखा। उन्होंने चित्र देखने के बाद सिर्फ इतना कहा कि किसी चित्रकार को इतना···यह ध्यान रखना चाहिए कि कोई चीज कम महत्त्वपूर्ण नही है।

कोई चीज ज्यादा महत्त्वपूर्ण नही है सब मिला करके एक चित्र बनता है। यदि आप चित्र के किसी भी छोटे हिस्से को भी कम महत्त्व देंगे तो चित्र भी कमजोर हो जाएगा।···तो यह कहानी हमको नंदलाल बोस ने सुनाई। तो हमारी बात यह है क्या उपन्यास लेखन में, क्या कहानी लेखन मे कोई चीज कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रत्येक शब्द का, एक्सप्रेशन का महत्त्व है। प्रत्येक बोल का महत्त्व है। उसको जहा-जहां आप नैग्लेक्ट करते देते हैं तो वहां-वहां चीज कमजोर हो जाती है। अपने ही लेखन मे कभी-कभी अनुभव करता हूं कि जल्दी-जल्दी में लिख दिया है। किसी ने कहा कि कुछ लिख दीजिए। मैंने लिखा, संतोष नही हुआ। तो ये मेरा कहने का मतलब है, वह यह कि Too much Production करने लगे है लोग। बात ये है कि ऐसा नही कि हम रोज कोई नयी चीज दे सकें। थोड़ा-थोड़ा रुककर लिखें तो चीज अच्छी बन सकती है। कई लोग तो ऐसा लिख रहे है कि एक उनकी किताब पढ़कर खत्म नही की कि चार-छ: और आ गयीं···तो इतनी तेजी से लिखोगे तो श्रेष्ठ बिल्कुल नहीं होगा। यह मेरी अपनी···मैं नहीं जानता कि···मैं किसी के लिए नही कह रहा हूं. लेकिन ये हो रहा है। हिंदी मे, हिंदी उपन्यास मे। एक कमी तो यह है कि हमारी भाषा मे लोकभाषा की ताजगी नही है, मुहावरा किसको कहते हैं। देखिए, उपन्यास के लिए, भाषा के लिए, एक अपूर्व मुहावरा होता है। बगाली लेखको को मुहावरा मिल चुका है। उर्दू लेखक को भी वह मुहा-वरा मिल चुका है। अंग्रेजी लेखक को भी। हिंदी लेखक को अभी भी प्रयत्न करना पड़ रहा है। दूसरी बात ये है कि हमें अपनी भाषाओं को···भाषा को···

कुछ ज्यादा सहज, कुछ ज्यादा प्रभावशील बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। अनायास नही होता, थोडा आयास करना होगा। ये मेरा, देखिए ना, आपने ये प्रश्न मुझसे क्यों किया ? आपको जवाब पूछना चाहिए। दूसरो के बारे मे करेंगे तो वे मारने दौड़ेंगे। (हंसी)

अ० वा० : तो इस···इस बात का, वो भी बंगाली समाज में उपन्यास का जो स्थान है, जिस तरह की भूमिका उपन्यास बंगला समाज में अदा करता है, वैसी भूमिका हमारे यहां नहीं है।

हमारे यहा नही है। तो ये वहां एक लोअर मिडिल क्लास काफी पहले से बना हुआ है। एक तो ये परमानेंट सेटलमेंट की व्यवस्था थी जमीदारी की। उसमे ये अपने यहां बिहार मे तो था लेकिन बिहार में तो वह भाषा की वह कठिनाई थी कि जिस हिंदी वो उन्होने अपनी भाषा कही वो उर्दू है। वह एक्चूअली बोली जाने वाली भाषा से नही मिलती, काफ़ी बदली हुई थी। और जहां की ये भाषा है, वहा के लोग क्या लिख रहे हैं, भगवान जाने। मैंने कही सुना कि खड़ी बोली बोलने वाला आदमी भी कोई साहित्यिक हुआ है···(हंसी) एक जैनेन्द्र जी को छोड़कर। दूसरे लोग खड़ी बोली में लिखते है, ये क्या हमारी रुटीन है ? उनके यहां एक निश्चित मिडिल क्लास बन गया है।

शाह : उपन्यास की मांग और कैसे उत्पन्न होती है ?

वहा एक पुस्तक निकलने पर घरो मे स्त्रियां पढ़ने लगती हैं। घर-घर मे उपन्यास पढा जाता है। कहानिया पढ़ी जाती हैं। हमारे यहां अभी तक वो··· अब कुछ हो रहा है। लेकिन···कोई ऑफिस जाने वाले हैं, उन्हें कहां उपन्यास पढने की फ़ुरसत है ? घरों में जहां ऐसे सुसंस्कृत परिवार मे, बंगाली परिवार में आप देखेंगे कुछ गान और नाटको की तरह प्रवृत्ति, जहा दस बंगाली जुटेंगे, वहां एक थिएटर मडल खुल जाएगा। अपने यहां थिएटर उस तरह डेवलप नही हैं। अभी वह चीज नही आ पाई है, जिस तरह बंगाली समाज मे है।

शाह : वहां की संस्कृति का एक नागरिक केंद्र रहा है कलकत्ता। कलकत्ते से यह हो गया है···

इसमें कोई शक नही।

शाह : हिंदी प्रदेश इतना बिखरा हुआ रहा है···

बड़ा कोई, वैसा केंद्र नही बना। कुछ केंद्र थे हमारे।

शाह : केंद्र भी बना है तो दिल्ली। जैसे हमारे···

हां, जैसे इलाहाबाद था। कुछ शायद भोपाल हो जाए। कहो, और कुछ है ?

शाह : आपके चार उपन्यासों ने हिंदी उपन्यास विधा को बहुत कुछ नया और अद्वितीय दिया है। विधा के स्तर पर। उनमें सबसे बड़ी बात लगती है कथा कहने की अद्भुत कला। ये ऐसे उपन्यास हैं जिन्हें न किसी समकालीन प्रवृत्ति के उदाहरण के रूप में रखा जा सकता है। और न ये कि हिंदी उपन्यास जिसे परंपरा कहते हैं उसके दायरे में रखा जा सकता है। आपके उपन्यासों में कहीं ये भी है कि अच्छे साहित्य में नया या पुराना अप-टू-डेट या आउट-ऑफ़-डेट कुछ नहीं होता। आप भी शायद ये मानते हैं ?

अ० वा० : या आपने उपन्यास क्यों लिखे ?

हमने उपन्यास क्यो लिखे ? (हसी) जिसको आप उपन्यास कहते है वे सचमुच उपन्यास हैं, तो उनके लिखने का कारण यह है कि मैं, आप तो जानते हैं सस्कृत का पढ़ा-लिखा विद्यार्थी हूं। बहुत कुछ, बहुत पुराने दिनो से मास्टरी करता रहा हू। कभी-कभी शोध-वोध भी करना पडता है। और खुद भी कुछ ऐसी पुस्तक लिखना हू, जो बडी नीरस होती है। अब यू तो आप पूछ सकते हैं कि बाणभट्ट की आत्मकथा लिख सकते हो तो नाथ संप्रदाय क्यों लिखा ? (हंसी) तो कई बार तो होता है कि उससे ऊब जाता हूं।

अ० वा० : लेकिन उसके लिए तो आपने···

शाह : लेखन कर्म को अपना ही लिया है।

हर बात को सापेक्ष करके कहना पडता है। कोई बात ऐसी तो नहीं कह सकते कि इसमे देखिए ना हमारा···कल्पना मे जो घूमना चाहते है, उसमे तो नही कर सकते। कितना भी रचनात्मक हो, झूठ तो नही बोला जा सकता ना। जो कही पर किसी पुस्तक मे लिखा न हो उसको तो नही बनाया जा सकता। नाथ संप्रदाय वगैरह के बारे मे इतना ही कहा जा सकता है जितना कि प्रमाण मिलता है। लेकिन मन कुछ अटपटा जाता है ऐसी छोटी-छोटी बातों से और कई तरह की प्रतिक्रियाए···अब सबको इकट्ठा करना बडा कठिन है। जैसे एक प्रतिक्रिया हुई, 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखने के पहले मैं रत्नावली पढ़ाता था। ये···वहां कलकत्ता विश्वविद्यालय के कोर्स मे था···बी० ए० मे। और शाति निकेतन मे वही कोर्स पढ़ाया जाता था जो लड़के लेना चाहते थे। परीक्षा मे सुविधा थी यह। 'रत्नावली' में एक मंगलाचरण है जिसे होना चाहिए था भरत वाक्य मे···मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ क्यो यह आ गया। यह भरत वाक्य मे होता तो ठीक था। यह मंगलाचरण मे कैसे आ गया। यह भी एक था कि

'भाव का भी नाम का श्री हर्षादि भाव का भी नाम···' कविता धन के लिए लिखी जाती है जैसे श्रीहर्ष ने भावक वगैरह के लिए···। मानो भावक का नाम कोई कवि था। तो उसको दिया जाए। कुछ लिखा हो···वैसे कुछ न कुछ कही कुछ पैसा दिया गया हो। एक अंग्रेज समालोचक ने भावक शब्द का अर्थ किया धोबी। (हंसी) और राहुलजी ने उसी सबोधन में एक कहानी लिखी। *लेकिन उसमे उन्होंने बाणभट्ट का···सामंती चरित्र ही उजागर किया।* यह बहुत अप्रामाणिक नही है, क्योंकि हर्ष-चरित्र में कही-कही इंगित है इसका तो हमने सोचा कि ये सारे के सारे अच्छे भी तो हो सकते है। राहुलजी ने कुछ ऐसी सामती सभ्यता की कब्र खोदी, कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा था कि जो कुछ सामंती सभ्यता है सब खराब है।···ये शायद हो सकते हैं रगमंडलिया बनाना, लडको को लेकर भाग जाना, और लडकियों मे से किसी-किसी को घर से भगा ले जाना। ये बुरा काम तो है लेकिन बाणभट्ट के साथ जुड़ा हुआ है तो कुछ अच्छा भी होना चाहिए। ये मेरे मन मे था, ये सारी चीज़ें हमारे मन मे जमी हुई थी। मैंने, मेरे मन मे दुष्ट बुद्धि आई। दुष्ट बुद्धि इसलिए आई कि इस समय जो आलोचना पढ़ा करता था तो बहुत से नोट्स लिखा करता था कि अमुक ने अमुक लिखा, अमुक ने अमुक लिखा। जैसे भावक को धोबी कह देना, ये सब कुछ ऐसा लगा कि ये सब चीजें जिस तरह की है ये आलोचना हो रही है, जिस तरह रिसर्च हो रहा है, इसका कुछ मजाक बनाना चाहिए। इसलिए दुष्ट बुद्धि आपको बता दूं बिल्कुल सीधी-सादी दुष्ट बुद्धि से हमने लिखना शुरू किया कि एक ऐसा लिखो और उसकी काटकर फिर आलोचना लिखो और फिर ये बताओ कि नही ये गलत हैं। ताकि आलोचना ही इस तरह की जो है, बहुत बेकार चीज़ है ये साबित करना···कि ये मैं जानता नही कि दुनिया मे कही किसी ने ऐसा किया है या नही ये बिल्कुल नही मालूम है। स्वयं मेरे मन में ये बिल्कुल समझो कि गंवारपन से बात मेरे मन मे आई कि कल्पित रचना बनाओ। फिर उसकी उसी शैली में आलोचना करो और अत मे कह दो कि ये सभी झूठ है। *यही दुष्ट बुद्धि है तो इसी पर मैंने 'बाणबट्ट की आत्मकथा'* को शुरू किया। एक कल्पित पात्र बनाया। सबसे पहले राहुलजी का लबा पत्र आया जब दो अक उसके निकल गए विशाल भारत मे। *और हिंदी साहित्य सम्मेलन मे एक भाषण मे उन्होंने बड़ी प्रशंसा की* इसकी। हमने कहा कि देखो अब हम राहुलजी को कैसे जवाब देने जाएं। और उन्होंने इतनी प्रशंसा कर दी, लेकिन वो छोड दी आलोचना वाली बात। लेकिन जान-बूझकर हमने उसमें ऐसे बहुत से अंश दिए जिसके ऊपर मन मे था कि आगे चलकर ये कहेंगे कि ग़लतफहमी होना चाहिए। और ये कि वे आलोचना का एक फ्रेम तैयार करके कहे···जैसे उसमें दंष्ट्रा स्त्रीलिंग में प्रयोग

होता है तो उसको हमने जानबूझकर पुल्लिंग में प्रयोग किया। जैसे एक ये कहा जाता है कि यवनिका, पर्दा ग्रीक लोगों से लिया है। जबकि यवनिका उनके यहां पर्दा होता ही नही था। और अब नया ये निकला तो जमनिका मिलता है। ज…म…निका संयमन की जाने वाली ऐसी चीज जिसको लपेट दिया जाए तो जमनिका को संस्कृताईज करके बाद में बाकी लोगों ने यवनिका कर दिया। यवनिका करने के बाद लोगों ने कहा कि ये यवनों का है। तो इस तरह से एक तो हमने उसमे यवनिका का प्रयोग बार-बार किया है, खूब किया हालांकि बाद में काट-काटकर ठीक कर दिया। तो हमने देखा, ये अभ्यास का प्रयास है, जो लिखा है उसको उसी रूप में लिखो, अब ये बुद्धि, दुष्ट बुद्धि है इसीलिए उसको त्याग दिया। उनको भी हमने कहा कि हमारे मन मे दुष्ट बुद्धि थी, तो आप उस पर प्रसन्नचित्त होकर…(हंसी)। तो हमने इस तरह से 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उस समय लिखी। उस समय हमारा कुछ तंत्रों की ओर झुकाव हो गया। तो कुछ किताबें पढ़ने लगे। पहले मैं तंत्रों को बहुत वाहियात चीज समझता था। तो समझे थे कि ऐसे लोगों से सत्संग होगा ही तो मुझे उसका उत्तम पक्ष सामने रखते हुए फ़िलॉसफ़ी और बोल्डनेस, मोस्ट बोल्ड फिलॉसफी जो हमारे देश की है, वो इन तंत्रों में है। तो वो उसकी तरफ थोड़ा झुकाव हुआ था और फिर मुझे नाथ संप्रदाय लिखना पड़ा। महानीरस वस्तु। बीच में कोई अस्सी लाइन से ज्यादा भूल गया…(हंसी) और लेकिन खैर फिर से तैयार हुआ। बड़ी मेहनत की है। इस बार सामग्री कुछ कम मिली हमको, लेकिन परिश्रम करके उसको लिख ही दिया। उसके दो बरस बाद मैंने एक ग्रंथ और लिखी। उसके पहले भी एक दे चुका था। आचार्य नंदलाल बोस ने हमसे कहा कि तुम कुछ दो। तीन लेक्चर पढ़ाना, जिसमें संस्कृत नाटकों में, काव्य में जो कला के संबंध में है, कलात्मक जीवन के संबंध में जो बातें हैं उसको वे आ जाएं तो प्राचीन भारत की कला पर भी लोग जानें। तो मैंने डरते-डरते ये लिखा। लेकिन लोगों ने बहुत पसंद किया। तो ये थी बाणभट्ट की पृष्ठभूमि इसी तरह से नाथ संप्रदाय और तत्रों का…नाथ साधनाओं का और फिर Tibetan Religion का अध्ययन करने के बाद चारु-चंद्र लेख लिखा। पर मेरी कुछ ऐसी विवशता है कि मैं स्थिर नहीं रह पाता हूं। मेरा दोष सबसे बड़ा जो है वो ये कि हमने जो प्लान बनाया, वो प्लान कभी टिकता नहीं है। लेकिन उसमें शुरू ये किया था कि तीन प्रकार की साधनाएं उसमें हमने की थी। एक तो प्रथम पुरुष की साधना जहां चंद्रलेखा जो अपने को हमेशा थर्ड परसन में देखेगी 'मैं' अपने को नहीं कहेगी 'वह' कहेगी, पर यह मैंने कुछ देर तक लिखा बाद में वो गड़बड़ होने लगा। फिर मुझे समय नहीं मिला…जिसे किसी ने हमसे कहा नहीं पर, मैं सब समझता हूं कि मेरा

प्रयत्न निष्फल था। इसीलिए उस उपन्यास को किसी ने बहुत सम्मान नही दिया। किसी एक ने कहा कि टूटा दर्पण है तो मैंने कहा टूटा है तो क्या हुआ चेहरा तो ठीक ही दिखता है।

शाह : आप कह रहे थे···

चारुचद्र लेख···

शाह : नहीं। वो आप कह रहे थे कि···

हां। मुझे ये प्रच्छन्न रूप से दिखाना था ना कि अपने उपन्यास में कोई अपने को, अपने से अलग करके देख रही है। ये जो 'मनसा मन समीक्षित', ये जो समाधि की स्थिति है, ये अपने को थर्ड परसन मे देखती है। ौर नागनाथ, ये योगी है थोडा प्रेमी तो वो अपने मध्यम पुरुष की साधना करता है। तुम कहता है। और ये जो राजा है, गृहस्थ है। ये केवल शुद्ध प्रेमी है, और प्रेम की शुद्ध कमी है, तो इसको हमने उत्तम पुरुष कैसे मान लिया, ये अपनी कहानी है। 'मैं कलकत्ते गया' व्याकरण की टर्म्स है, लेकिन मैं निश्चित करना चाहता था कि उत्तम ये है और बाकी ये सब जो है ये सब मध्यम हैं या उससे भी गये-गुजरे हैं, लेकिन ये हमारी प्लानिंग थी। लेकिन वो प्लानिंग बाद मे टिकी नही रही।···मैं कोई बहुत दुष्ट पात्र नही बना पाता। कुछ लोगों को पर-काया-प्रवेश विद्या अधिक सिद्ध होती है, मुझमें उतनी अधिक सिद्ध नहीं है। वे यदि अच्छे आदमी की बात करते हैं तो बिल्कुल पूर्ण रूप से परकाया-प्रवेश कर जाते हैं, अच्छे आदमी के गुणों में। और दुष्ट आदमी की बात करते हैं तो हद से ज्यादा उसमे घुस जाते हैं। दुष्ट आदमी में मेरी परकाया-प्रवेश विद्या इतनी दूर तक सिद्ध नही है तो मैं बहुत दुष्ट पात्र नही बना पाता। कोशिश भी एकाध बार करू तो नही सफल हो पाता। हमने ये इसमे काल को, समय को विलेन बनाने का मन मे सोचा था कि बस मध्यकाल का ये जो पीरियड है ये itself Villain है। ये मैंने प्रच्छन्न रूप से बतलाने की कोशिश की भी, लेकिन किसी ने मुझसे आज तक नही कहा कि इसमे तुमने ये करने की कोशिश की है। तो हमने ये समझा कि भई हमको तो चीज नही आई होगी। आई नही तो हमारे कहने से क्या होता है। हम कहते फिरें तब वो कहे कि हम बोलना चाहते थे। पर बोले नही। (हंसी) लेकिन उसमें हमने ये कोशिश की थी कि परकाया-प्रवेश तो हमारी बुद्धि के बाहर है। हम दुष्ट पात्र की, खल-नायक की सृष्टि नही कर पाते, तो हम टाइम को ही विलेन के रूप में बनाएं। मारे प्रयत्न उसी···सारी···समय कुछ ऐसा है कि उसके ऊपर आकर फिर टूटकर के बिखर जाता है तो मेरी आंतरिक इच्छा थी।

और पूछो भाई जल्दी पूछो···

शाह : तो ये जो काल तो खलनायक···

हां, ये हमारे यहां तुलसीदास में है।

शाह : तुलसीदास में है, जहां काल सबसे बड़ा खलनायक है।

तो कलिकाल जैसी महान् पृष्ठभूमि, वहां तुलसीदास भी रावण को बढ़िया खलनायक नही बना पाते।

शाह : वाल्मीकि बना पाते हैं।

वाल्मीकि बनाते हैं। तो भई यह शक्ति होती है। हर किसी में नही होती है, जिसमे नही है उसके लिए क्यों चिंता करते हो ? जितना है उतना लो। नही है उसको जाने दो। (हंसी)

अ० वा० : तो ये जो कन्सर्न था टाइम को···

हां, ये मैंने सोचा था कि हमारी इस पुस्तक मे ये भाव आना चाहिए कि ये जो काल है मध्यकाल का एक विशेष पीरियड, वह अपने आप में एक विलेन है जिसके कारण सारे प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। तो ये मेरे मन में था कि लोग कहें···छोड़ दू···(हसी)

अ० वा० : तो बाद की पोथियों में कभी ये बात···

बाद की पोथियों में क्या होगा कौन जानता है। कोई लिखता थोड़े ही है, लिखा लेता है। ये तो ऐसा ही बन गया है। मैं सच कहता हूं। अब 'चरा-नामराशि' जो ज्योतिषियों ने पकड़ा है, वह उनमे फंसा है। दूसरा ये जो प्रश्न तुम्हारा अंत में है। आधुनिक युग मे एक समस्या है लेकिन बहुत ही पंडिताऊ समस्या है। बुरी तरह से पडितो की।

शाह : प्राचीन उपन्यासों में···

उनमें लोच ज्यादा है। प्राचीनकाल मे ये **अनामदास का पोथा** है जो बानगी है अभी तक···(हसी) ऐसा ही कभी-कभी मन में आ जाता है। इसमें ये जो पुरानी कविता कभी-कभी लगता है लोग आ जाते हैं, हम तीन चाहते थे, तीन कैरेक्टर। लेकिन वो अब नही दिखाई दे रहे। दो को रखा है इसलिए। इसी तरह यही कहानी मध्यकाल की कहानी के संदर्भ में देखी जाए, और ठीक यही कहानी यानी चाहे वो, चाहे यही कहानी ठीक आधुनिक काल के संदर्भ में रखी जाए। ये जो दो भिन्न-भिन्न सवालों को रिफ्लेक्ट करती है एक ही चीज, ये

शाह : बिल्कुल । एकदम से आ जाते हैं ।

'रह रह मुनि उकसहि अकुलाहीं' (एक चौपाई उद्धृत करते हैं ।) क्या बढ़िया प्रयोग है । ऐसी संस्कृत भाषा है, यहां भाषा है, पात्र है, उसके अनुकूल वो भी वही भाषा बनती है हम लोगों को कुछ करना था, समझते है । अब उसमे कुछ गहरा पाते हैं, कुछ ऊपर-ऊपर । खाली हाथ कोई नही लौटता । इतनी साधारण भाषा जन-साधारण के निकट की···

शाह : ये तो एक परमानेंट अभिशाप जैसा हो गया कि अगर ये हिंदी अगर इस तरह से बन गई तो···

नही तो, मैं ऐसा थोड़े ही कह रहा हूं कि ऐसी कोई निराश होने की बात है । लेकिन हमारे लिए तो कठिनाई रही है ऐसी । जितनी कठिनाई उन्नीस सौ बीस में थी उसकी तुलना मे बहुत कम है अब । अब तो साधारण हिंदी धीरे-धीरे फैल गई है, लोग भी एन्जॉय करते हैं ।

शाह : संस्कृत के जो महाकाव्य हैं उनको क्या साधारण जनता समझती थी ? वह विशिष्ट समाज का साहित्य है या···

संस्कृत तो थी ही नहीं । वाल्मीकि रामायण, महाभारत जरूर साधारण समाज के थे ।

शाह : कथा है सो उसके कारण···

रामायण व महाभारत ये दो काव्य हमारे ऐसे रहे हैं । इनको थोड़ा-सा तो पढ़ना ही चाहिए । एकदम अनपढ़ आदमी के लिए तो संभव नहीं कि वो पढ़ सके···

शाह : हमारे यहां आज ये आम आदमी की बात कही जाती है । लेकिन आम आदमी तक कवि कहां पहुंचता है, साधारण पाठक···

पहुंचना चाहिए ।

शाह : नहीं पहुंचता पर ।

सारे समय के···समाज तक साहित्य जाए या नही जाए ये कुछ प्राणघातक नहीं होना चाहिए । सभी लोग पढ़ें या न पढ़ें । इतना तो होना चाहिए कि···

शाह : तब भाषा की कठिनाई थी । प्योर गद्य नहीं बना था । जयशंकर प्रसाद ने ऐसे उपन्यास लिखे जिनमें उस सेन्स में ह्यूमर न हो । लेकिन एक विट है, विद्रूप है···

हां, हां, थोड़ा ह्यूमर भी है । बहुत-सी कविताओं में निरालाजी बल्कि ज्यादा ·

निकट रहे गद्य के, लोक के। अगर कवि का निकष लोक की निकटता है।

शाह : तो सुमित्रा नंदन पंत फिर कवि ही नहीं हैं। (हंसी)

पंतजी की जैसे वो 'पल्लव' कविता। कविता क्या है ? वो कविता के कारण उतनी प्रसिद्ध नहीं है जितनी भूमिका के कारण'''

अ० वा० : एक धरातल पर ये जो मुझे लगती रही कि उपन्यास के सामने भी यह था एक तरह का ऐतिहासिक समय'''जैसा पश्चिम ने एक ऐतिहासिक समय का कान्सेप्ट विकसित किया था। तो हमारी जो धारणा थी समय की, कालचक्र की जातीय धारणा, वो बिल्कुल दूसरे स्तर की थी। हमारे उपन्यासकारों में अक्सर काल की इस विकराल समस्या का अहसास ही नहीं लगता। काल की दो *धारणाओं का टकराव कहीं उनमें होना चाहिए या जो* हमारे मन में होता है। लेकिन उस टकराव से फ़ॉर्म के'''स्ट्रक्चर के लेवेल पर फ़ॉर्म के लेवेल पर डील करने की कोशिश ही नहीं की गई। वो इस टकराव को जैसे मंजूर ही नहीं करते। एक आकर्षण जो आज के उपन्यासों का मेरे हिसाब से है कि वे पढ़ने वालों को उसके होने की निरंतरता का बोध कराते हैं। जैसे, जार्ज एलियट का 'एडव बीड' हमको एम० ए० में पढ़ना था। बहुत ही नीरस उपन्यास लगता था। हमने पढ़ना शुरू किया और पढ़ने के बाद ये अद्भुत बात पाई कि उसमें बाइबिल की जो मूल कथा है और *उसकी प्रतीकात्मकता* जितनी है उसके मिथों का उपयोग, इसका-उसका, सारों का उपयोग इस उपन्यास में है और जब ये उसके नायक को एक तरह की अंतर्दृष्टि प्राप्त होती है तो जो भाषा है वो यकायक बाइबलीकल हो जाती है। जार्ज एलियट बहुत बड़ी लेखक न हों लेकिन वो याद दिलाती थीं कि आप पहले कभी थे। कविताओं में किसी हद तक यह फिर भी बचा रहा यानी कविता जो लिखते हैं, किसी लेवेल पर थोड़ी बहुत भी कोशिश *करती रही कि वे याद दिलाती रहें, लेकिन जिस तरह* की जातीय स्मृति हमारी थी वह उपन्यास में वैसे भी बहुत आई नहीं।

शाह : लेकिन पश्चिम के उपन्यासों में ज्यादा जातीय स्मृति आई है।

अ० वा० : ओल्डमैन इन द सी। जैसा मैंने कहा वो बाइबिल की कथा का पुनराविष्कार जैसे ईसा क्रास पर चढ़ता है, वैसे यह जो आदमी है जो लड़ रहा है, कीलें हैं। रस्सी की रगड़ से खून

निकालना आदि। आधुनिकता के जैसे 'काफ़्का' में, ईसाइयत की मूल धारणा है, अथारिटी के कान्सेप्ट और जो फ़ॉर्म हैं। लेकिन हमारे यहां यथार्थवादी उपन्यास···

बहुत अधिक हो गया है। यथार्थवाद का आतंक···(हंसी) आतंक बहुत है। और हर आदमी कुछ अंडबंड लिख कर चाहता रहा कि अपने को साबित कर दे कि वो बिल्कुल यथार्थवादी है जो अच्छे-अच्छे उपन्यासकारों में आजकल जो प्रवृत्ति दिखाई देती है कि कुछ गलत नहीं लिखोगे तब तक कोई यथार्थवादी नहीं कहेगा।

शाह : ये बड़ी अजीब बात है कि रूस का एक कथाकार 'अब्राहम टर्ज' छद्म नाम से कहते हैं उसको, तो उसकी एक बहुत लंबी कहानी है, एक लघु उपन्यास जैसा है 'आइसेकिल'। तो उसमें पुनर्जन्म के सिद्धांत का साहित्यिक उपयोग है। इसके कारण उसने खुद ही लिखा है कि मैं पुनर्जन्म में विश्वास करता हूं या नहीं करता हूं यह अलग बात है। शायद मैं नहीं ही करता हूं अपनी बुद्धि से। लेकिन इस सिद्धांत का उपयोग करने से कहानी, इस कहानी से मैं बहुत कुछ ऐसा कह सका जो कि अगर पश्चिम के लीनीयर कार्य मतलब ये कि सिरे पर घटनाएं घटती चली जाती हैं डेव्हलप होकर, उससे नहीं कह सकता था। तो लेकिन उस तरह की बात जैसे हम···

ये किसकी बात कह रहे हैं?

शाह : एक अब्राहम टर्ज है। ये तो छद्म है एनकाउंटर में एक कहानी छपी थी। उसी तरह की कहानियां लिखी गई हैं।

क्या नाम है कि···एक थे, जिनका आग का दरिया उपन्यास है। कुर्रतुल-एन-हैदर। उसने भी कुछ ऐसी टेकनीक अपनायी है।

शाह : अच्छा?

अ० वा० : ये तो पढ़ी-लिखी महिला हैं।

शाह : कहानी का बिल्कुल ठेठ, बिल्कुल हमारी···यद्यपि वो, उसका नाम 'कोल्डवार' है, तो वहां पुराने विश्वास और पुराने मन के संगठन की जरूरत पड़ी उन्हें अपने नये कथ्य को एक्सप्रेस करने के लिए।

हममें, हमारे प्रदेश में, हिंदी-भाषी क्षेत्र में सांस्कृतिक दृष्टि से जितनी दरिद्रता है। हम नहीं जानते कि यह हमारी कला समृद्धि है, क्या इसकी देन है, हमारे

शास्त्र कितने हुए हैं, हमारे थिंकर्स कौन हैं, हम लोग उस रूप मे बिल्कुल परिचित नही हैं। तो हम लोगों को कुछ इस तरह का प्रयत्न करते रहना चाहिए कि कुछ तो लोगों के मन में, कला के प्रति, शास्त्र के प्रति, चिंतन के, थिंकर्स के प्रति, समृद्धि के प्रति जानकारी बढ़े। इतनी चीजों को एकदम भुला देना। यथार्थवाद के नाम पर, अत्याधुनिकता के नाम पर सब भूल जाना इसमे कोई तर्क नहीं। दिक्कत यह है कि हम सब लेकर जो कुछ है वह सब लेकर'''हम यह नही कहते कि हम इन सब चीजों से लेकर ऐसी चीज का प्रचार करें कि बुद्धि जकड़ जाए, Absjont हो जाए। यह तो सीधे नहीं होना चाहिए। मैं यह नही कहता हूं कि मैं जकड़ता हूं। हम बांध लें, इन विचारों को ही लाद लें और ये ही वास्तव मे तुम्हारा कल्याण करेंगे, लेकिन इसका ज्ञान तो होना चाहिए। और किसी ग्रंथ को पढ़ने के बाद अगर ये प्रेरणा आए उनके बारे में तो श्रद्धालु होकर हम देखें कि वो क्या थे, महाभारत क्या था, उनमें क्या लिखा था। तो मैं क्या समझता हूं कि वह सार्थक बन जाता है। हर चीज का केवल उपन्यास अपने आप मे ही बड़ी चीज के रूप में ही नही एक प्रेरक तत्त्व के रूप मे हो तो मैं समझता हूं उसकी सार्थकता है। बाणभट्ट की 'कादंबरी' पढ़कर मुझे प्रेरणा मिली। यह उपन्यास हुआ, कि क्या गद्य हुआ, क्या हुआ भगवान जाने, भाड़ मे जाए लेकिन उस आदमी के चित्त में ऐसी प्रेरणा क्यों आई कि वो उन ग्रंथों को पढ़े। मूल बातों को जानने की कोशिश करे, तो इसको कम सार्थकता मैं नही समझता।

अ० वा० : ये तो हमारे देश का हिंदी-भाषी क्षेत्र हो शायद ऐसा है कि इसमें आधुनिकता की एक ऐसी विचित्र धारणा है, जिसमें वहां अतीत से कोई संबंध ही नहीं है जबकि आधुनिकता की मूल भावना, अतीत से आपका क्या संबंध हो इससे ही पश्चिम में पैदा हुई थी। तो ये एक तरह की निःसंबंधता की धारणा को'''

शाह : आप आधुनिकता कहते हैं।

कुछ मेरे लिए भी छोड़ दीजिए''' (हंसी) तुम लोग समझते होगे कि मैं पुराना आदमी हूं।

जो चीज आनी चाहिए थी वह नही आई। आधुनिकता के नाम पर ऐसा कुछ उन्होंने जाना सब हमारा कुछ संसार से कट गया। हमारे जैसा आदमी भी यह नही जानता कि भोपाल में कोई, सांची में कोई महत्त्वपूर्ण चीज है कि नहीं। उसका क्या हमारे जीवन पर प्रभाव है, कि प्रभाव पड़ सकता है कि नही, अवाइड किया जा सकता है कि नही, कि उससे क्या लिया जा सकता कि नही, कि ये मैं सोच सकता हूं कि क्या करूं।

अ० वा० : जैसे मसलन्, पिछले दिनों कुंभ हुआ तो कितने लोग वहां पहुंचे होंगे, एक करोड़ ? शायद दो करोड़ लोग। अच्छा, न सही आपको अतीत से कोई मतलब नहीं। आपको परंपरा से मतलब नहीं, आपको किसी चीज से मतलब नहीं। पर एक नदी में दो करोड़ लोग एक दिन एक साथ नहाने जाएं, ये किसी भी दृष्टि से महान् घटना है।

सोचिए जरा। सचमुच ही है। ये तो रोमाच है।

अ० वा० : लेकिन पूरा···

देखिए पानी बरस रहा है, सर्दी गिर रही है, और ऐसे मे एक बुढिया कापते हुए चली जा रही है। कही खाने की व्यवस्था नही, पीने की व्यवस्था नही, मर जाऊंगी···मर जाऊंगी कहते हुए। तो दो करोड लोग थर्टीएथ पापुलेशन है हमारा। तीस मे से एक आदमी हमारा वहां पहुंच गया।

अ० वा० : इस बात को लेकर हिंदी साहित्य में कोई एक्साईटमेंट नहीं है। सिर्फ एक 'दिनमान' से निर्मल वर्मा गए। उन्होंने थोड़ा-बहुत कुछ लिखा। बाक़ी अंग्रेज़ी अख़बारों को तो छोड़ दीजिए। उन्होने एकाध कोई तस्वीर-वस्वीर छाप दी। और कुछ ऐसे सैलानी आए हुए थे वो इटली और न जाने कहां-कहां के। वो वहां भाग-भागकर जा रहे थे। और हम लोग, अपने आधुनिक लोग बैठे हुए थे अपने हाथ पर हाथ धरे हुए···

धीरे-धीरे रे मना
धीरे सब कुछ होय
माली सीचे सौ घड़ा
ऋतु आए फल सोय। (हंसी)

चलो अब बहुत हो गया।

शाह : नहीं चलने दीजिए ना ?

भगवत रावत : पिछले दिनों आपने 'धर्मयुग' में एक निबंध लिखा था 'मुक्तिबोध' पर। मैंने आपको एक पत्र लिखा था उसमें आपने लिखा था कि वे एक जंगल में भटक गए हैं। तो आपने कहा था कि··

अब कह दिया सो कह दिया। (हंसी)

मैंने सबसे पहले विश्व भारती पत्रिका मे देखा मुक्तिबोध को। उस समय उन्हें कोई नही जानता था। मुक्तिबोध की कविताओ पर आगे कभी बात

करेंगे, अगर आप चाहेंगे तो। अभी मुझे याद नहीं रहा कि किन-किन बातों के आधार पर मैंने कहा था। हां उनकी कामायनी की जो आलोचना थी वो अब भी हृदय को छूती है। कोई चीज आपको अच्छी लगती है, पर जो चीज आपको अच्छी लगती है वह मुझे भी अच्छी लगे जरूरी नही है। बहुत पहले जब हमने पढा···

रावत : सात-आठ साल पहले की बात है या और ज्यादा···

हां और भी ज्यादा। बाद मे कविता-वविता पढ़ना छोड़ दिया है।

शाह : 'अज्ञेय' की कविताएं···

काहे को हमसे कहलवाते हो। (हंसी) हम किसी के बारे मे कहते-वहते नही हैं। एक के बारे मे कह बैठे तो आज ये एक्सप्लेनेशन माग रहे है।

अ० वा० : बाद में अज्ञेय की कविताओं में जो परिवर्तन आया, 'आंगन के पार द्वार', उसको लेकर काफ़ी विवाद रहा।

सब तरह की चीजें पढना चाहिए।

शाह : आपने कहा था कि मैं उपन्यास एक ड्राफ़्ट में लिखता हूं।

(हसी) अरे कह दयिा तो कह दिया।(हंसी) मुझे डर लग रहा है कि जितना कह रहा हूं, सब पूछोगे बाद मे। (हसी)

रावत : उपन्यास से रिश्ता तो आपने···

कोई रिश्ता नही। उपन्यास था जो किसी चीज का उपन्यास है। फिर कहते हैं कि उपन्यास मे अमुक गुण होना चाहिए, अमुक बोध होना चाहिए इसमे। क्योकि उपन्यास एक सैट हो गया है इसका अर्थ तो उपन्यास के बारे में लोगों की अपेक्षाएं हैं इसमें यह होना चाहिए यह नही होना चाहिए, इतनी मात्रा होनी चाहिए ऐसी कुछ लोगो की धारणा है। परंतु लोग गिना देते थे इसलिए अच्छा लगे··· (हंसी) परंतु अब गिनाता तो नही कोई पर वैसी कुछ धारणा बनी हुई है किसी चीज को हम उपन्यास कहते हैं तो आपने कुछ कसौती कर ली है आपके मन मे। और इसीलिए मैं कहता हूं ऐसी कोई कसौटी से मत कसो···

एक कसौटी तो आपने ही गढ़ी थी। उपन्यास गप जैसा होता है या कि होना चाहिए।

वो इसलिए कहता हूं कि लोग उपन्यास जो कहते हैं तो बहुत अधिक अच्छे उपन्यास हैं। मेरे उपन्यास, चलो उन्हें गप ही कहो।
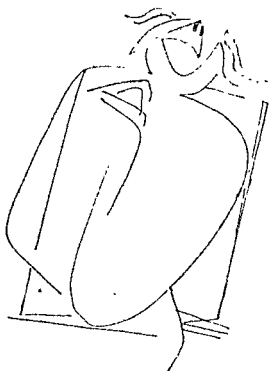
आधुनिक की चिंताव्यथा

निर्मल वर्मा से अशोक वाजपेयी, रमेशचंद्र शाह, विजयदेव नारायण साही, गीता कपूर, सत्येन कुमार और भगवत रावत की बातचीत

निर्मल वर्मा के पास प्रखरता, वैचारिक निष्ठा, गहरी व्यथा, मर्म की पहचान सभी है। उन्होंने भाषा की एक निर्वैयक्तिक परंपरा के घेरे में अपनी निजी भाषा के मर्म को पहचाना और उसे स्वायत्त भी किया है। वे निरंतर भारतीय फ़ॉर्म की खोज में तल्लीन रहे हैं।

अब तक उनकी लाल टीन की छत, एक चिथड़ा सुख (उपन्यास); हर बारिश में, चीड़ों पर चांदनी (संस्मरण), परिंदे, पिछली गर्मियों में, बीच बहस में, जलती झाड़ी (कहानी संकलन)। आपके कृतित्व पर केंद्रित पूर्वग्रह का एक पूरा अंक भी प्रकाशित हुआ है।

निर्मल जी फ़िलहाल भोपाल में निराला सृजन-पीठ के लिए सृजन-कार्य में सक्रिय हैं।

●

विजयदेव नारायण साही : नयी कविता आंदोलन में महत्त्वपूर्ण कवि-व्यक्तित्व।

गीता कपूर : कला-आलोचना में मूल्यात्मक अवधारणाओं और गंभीर विवेचनों के कारण सुचर्चित। समकालीन भारतीय चित्रकला पर एक पुस्तक भी प्रकाशित।

सत्येन कुमार : चर्चित कथाकार-नाटककार। 'जहाज़ और अन्य कहानियां' (कहानी-संकलन), 'एक था बादशाह' (नाटक) प्रकाशित। एक और नाटक गौतम शीघ्र प्रकाश्य।

अशोक वाजपेयी : एक विधा की कोई कृति या लेखक उस विधा को किसी एक ख़ास बिंदु पर इस हद तक 'ब्रेक' कर देते हैं कि वह बाकी लोगों के लिए एक चुनौती बन जाता है; उसे नजरन्दाज करके कुछ महत्वपूर्ण नहीं किया जा सकता। कविता में ठीक यही हुआ। धूमिल ने एक ख़ास तरह की राजनैतिक चेतना और स्थिति को एक बहुत ही निजी ऐंद्रिकता के साथ पकड़ा और जब यह एक बार एक कवि ने कर दिया तो, जब तक आपकी राजनीतिक चेतना की बुनावट, वैचारिक या मौलिक रूप से, उससे अलग न हो तब तक दूसरों से कविता में कुछ महत्वपूर्ण नहीं हो सकता।

अगर्चे दूसरे व्यक्ति के भी वही अनुभव है…

अ० वा० : इसीलिए बहुत सारी कविताएं ऐसी हुईं जिनमें धूमिल की गूंजें हैं—अचेत और असावधान गूजें। धूमिल ने जो दुनिया राजनैतिक *यथार्थ की बनायी थी, अगर उसी को विस्तृत किया* जाता तो भी कोई बात बनती। धूमिल में एक तरह की रहस्योद्-घाटन वृत्ति है, एक तरह की तात्कालिकता है। इधर १०-१५ साल की कविता पढने से बार-बार यह भ्रम होता है कि जैसे क्रान्ति बस अब होने ही वाली है कि जैसे सब कुछ तैयार है और समाज का संघर्ष, प्रगतिशील ताकतों की लड़ाई अब एक निर्णायक मोड़ पर है। हम जानते हैं कि यह भ्रम है। अगर क्रान्ति की कोई प्रक्रिया चलती रही है तो उसमें एक तरह की मृगमरीचिका कविता से पैदा हो रही है जो उसे तेज करने में मददगार साबित नहीं होगी बल्कि उल्टे एक तरह की आत्मतुष्टि ही बढ़ेगी।

उसमे एक तरह का अतिरंजक शब्दाडम्बर भी होता है। आधुनिक कविता बहुत ज्यादा 'रेहटॉरिकल' हो गयी है, बहुत ज्यादा कोलाहलपूर्ण। इसको तुम उन पिछले कवियो से कैसे मिलाओगे, जो काफ़ी सजग रहे हैं, जैसे शाही या

अ० वा० मुझे यह विचित्र लगता है, किसी हद तक विलक्षण, कि किसी भी समय में वह पीढ़ी अपना सबसे प्रासंगिक काम न करे जो सबसे अधिक सक्रिय और मुखर हैं; बल्कि यह काम करें जो उस समय की उपज नहीं है। मुझे लगता है कि सातवें दशक में जो महत्वपूर्ण काम हुआ वह या तो उन कवियों ने किया जो दरअसल छठे दशक में व्यक्तित्व ग्रहण कर रहे थे; एक तरह की उपलब्धि ग्रहण कर चुके थे और सातवें दशक तक जो लगभग बुजुर्ग होने लगे थे जैसे केदारनाथ सिंह, साही जी या कुंवर नारायण। युवा लोगों में धूमिल और विनोद कुमार शुक्ल ने यह काम किया। तो उन लोगों ने अपने युवतर कवि बंधुओं से सबक़ लेते हुए, उनसे एक ज्यादा निजी स्वर, सामान्यीकृत पागलपन के खिलाफ़ एक निजी विवेक कायम रखा। माहौल जब ऐसा हो कि बहुत 'रेहटॉरिकल' और बहुत सामान्यीकृत राजनैतिक मनोभावों की निरंकुशता हो, तब एक राहत इन कविताओं से मिलती है। वह इसीलिए ज्यादा महत्वपूर्ण और प्रासंगिक लगती है। युवा प्रगतिशीलों की कविता से 'क्रांति बिल्कुल मोड़ पर है', 'अब रण छिड़ने ही वाला है' का यह जो भ्रम बार-बार होता है, एक तरह की तात्कालिकता, जो कविता के लिए शायद जरूरी भी हो मगर चूंकि वो कविता से बाहर एक राजनैतिक स्थिति, एक वस्तुनिष्ठ यथार्थ को बराबर अपना संदर्भ बनाती है; इसलिए अगर वह बिल्कुल अवास्तविक न सही, तो कम से कम उस यथार्थ के बारे में एक बहुत ग़लत तस्वीर तो पेश करती ही है।

इसका कारण यह भी हो सकता है कि छठे दशक के आखीर मे एक किस्म की काव्यात्मक पूर्णता, राजनीतिक माध्यम से उपलब्ध की जा चुकी थी; धूमिल या कुछ दूसरो के द्वारा अपनी धारदार ओजपूर्ण रचनाओ में। अब उसी तरह कविता पढ़ने की कोई चाहत पैदा नही होती जो कोई नई जमीन नही तोड़ते और किसी भी तरह बस उसी को, थोड़ा आगे और बढ़ाते है। उससे कोई प्रतिक्रिया नही जागती।···पूर्वग्रह मे साही की कविताएं मैंने पढ़ी। मुझमे एक खास किस्म की सवेदनात्मक प्रतिक्रिया हुई। केदारनाथ सिंह से मैं उन पर *बात कर रहा था।* उन कविताओ को लेकर अपने मे जागी संवेदना को परखने की कोशिश कर रहा था। लेकिन दूसरी बहुत-सी कविताओं, मसलन् मणि मधुकर की कविताओं के प्रति, जो धूमिल द्वारा अनुभूत यथार्थ का थोड़ा सहज

और फैला हुआ भापान्तर है उनके प्रति संवेदनशील हो पाना मेरे लिए लगभग असंभव हो जाता है।

अ० वा० : यही बात तो निराशा पैदा करती है कि एक पूरी पीढ़ी, या उसके ज्यादातर लोग इस बात को न देख पायें कि वो कुछ ऐसा कर रहे हैं, कुछ ऐसा करने की शिद्दत के साथ कोशिश में लगे हुए हैं जो थोड़े दिन पहले ज्यादा बेहतर और लगभग पूरी तरह किया जा चुका है।…जब अपनी पूरी राजनीतिक समझ का ढांचा या अनुभव की संपदा बदले तब ही कविता में वह परिवर्तन हो सकता है। अगर उसी बुनियादी समझ को लेकर और उस समझ के कारण जो अनुभव कविता के लिए चुना जाता है, वह भी लगभग वही होगा तो एक तरह की चतुराई, एक तरह की 'विट्,' एक तरह का कहने का अन्दाज भी एक खास हद तक पहुच कर खतम हो जाता है। निराशा इसी बात से है कि एक पूरी पीढी उस सब में मुब्तिला है जो करना जरूरी नहीं है।

वलिक यह भी ज़रूरी नही है कि कोई कवि अपनी राजनीतिक बुनावट ही बदले।…चूंकि इस तरह की कविताएं लिखी जा चुकी है और अनुभव सपदा का अंग बन गयी है, इसलिए जब वह कवि के रूप मे आज की परिस्थिति पर प्रतिक्रिया करेगा, अपने जिए जाते समय के रूबरू होगा तो वह छठे दशक के कवियो की तरह प्रतिक्रिया नही करेगा…मगर वही, ज्यादातर, कमोवेश, वही हो रहा है जो कि पहले हो चुका था।

अ० वा० : यह दिलचस्प है कि धूमिल का स्त्री के प्रति जो रुख है, जिस तरह की पूरी बिम्बमाला वो स्त्री को लेकर गूंथते हैं, उस रुख को किसी दूर तक स्त्री के प्रति अपमानजनक कहा जा सकता है। वह ऐसा रुख ही नहीं है जिसमे स्त्री की हिस्सेदारी या जरूरत आदमी स्वीकार करता है।…तो पूरा एक संसार है प्रेम का, निजी कोमलता का, जो धूमिल को उपलब्ध नहीं था और जो किसी भी समय में आदमी की पूरी जिंदगी का एक बहुत बडा, महत्वपूर्ण हिस्सा होता है। अगर इन कवियों ने उस दुनिया का विस्तार इस तरह भी किया होता, उन भावनाओं के प्रति स्वयं को संबोधित किया होता तब भी एक तरह का पूरक काम वो कर सकते थे, एक दूसरे तरह की संभावना हो सकती थी लेकिन…

हां, यह भी एक ढंग होना चाहिए। इस बात पर भी गौर किया जाना चाहिए

कि आपातकाल के पहले भी एक तरह का उबाल था और धूमिल इस उबाल के साथ थे। लेकिन आपातकाल का समय बिल्कुल ही अलग था। उसकी हताशा और बुनावट भी अलहदा थी। एक समय ढलान का ऐसा भी आता है जैसे '६८ मे, फ्रास और चेकोस्लोवाकिया मे···और उसके बाद एक गहरा मोहभंग और निराशा, जिसमे एक विशेष सवेदना और कविता का सृजन हुआ। जबकि आपातकाल के दौरान रचे गये साहित्य का झूठापन तो उसी वक़्त सिद्ध हो चुका था; क्रान्तिकारी मुहावरेबाज़ी का खोखलापन भी उजागर हो चुका था; उस वक्त भी इनमे से कई कवि खामोश हो गए थे···अब लगता है कि आपातकाल के बाद फिर वही तरन्नुम शुरू हो गया है।

> अ० वा० : मतलब आपातकाल एक तरह का अंतराल था और गाना फिर शुरू हो गया है।

लेकिन यह बड़े अचरज की बात है इन कवियो मे आपातकाल के दौरान अधिक संवेदना होनी चाहिए थी, उस मानसिकता के प्रति जिसे आपातकाल ने पैदा किया। मेरे ख्याल से हमे उस निराशा के संदर्भ मे भी कुछ सोचना चाहिए जो आपातकाल मे हमारी पूरी सवेदनशीलता के प्रसंग मे पैदा हुई।

> अ० वा० : आपातकाल को लेकर प्रतिक्रियाएं दो-तीन तरह से हुईं। एक तो बहुत सारे लोगों ने एक तरह का अन्तर्मुखी साहस बताने की कोशिश की; ऐसा साहस जो उस वक़्त बहुत ज़ाहिर नहीं था मगर वाहवाही लूटने की एक अदा थी। दूसरे बहुत सारे ऐसे लोग हैं जो अभी भी उसी अन्दाज़ में लिखे जा रहे हैं कि जैसे हमारी ज़िन्दगी में यह १५-१७-१८ महीने हुए ही नहीं और तीसरे ऐसे लोग हैं जो उस अनुभव से थोड़ा बहुत जूझने की कोशिश में हैं। लोग या तो उस पुराने, झूठे, खोखले क्रांतिकारी मुहावरे में वापस घिर जाते हैं या फिर उस काले समय का एक बहुत ही भावुकतापूर्ण वर्णन करते हैं, जो बहुत सतही तो है ही, उस दौरान आए मानवीय अन्तर्विरोधों को भी किसी तरह छूने की कोशिश नहीं करता। दरअसल एक गहरी निराशा इससे पैदा होती है कि कविता ने अन्तर्विरोधों से अन्तर्विरोधों को हल करने की जो ताक़त पायी थी, उसे जैसे हमने खो दिया।

यह अच्छा मुद्दा है।

> अ० वा० : जो हमारा अनुभव है और जो दूसरा, विपरीत अनुभव

है, उसकी जो प्रतीति कविता में बराबर बनी रहती है वह उसे एक तरह की पूर्णता देती थी। यह 'डुएलिटी'; जो नहीं है; आज जो इस होने के विरुद्ध है, उसकी एक द्वन्द्वात्मक स्थिति कविता में बनती थी, वह खत्म हो गयी है। उसमें एक इकहरापन छा गया है। कविता या साहित्य लिखने का एक बहुत बुनियादी कारण किसी के लिए भी यही है कि संसार का जो अनेकत्व है, महज ऊपरी अनेकत्व भी, उसका साक्षात् करे, उससे जूझे। यह जो सातवां दशक है उसमें यह लगभग नहीं है। अब ये कहना, एक तरह का झगड़ा मोल लेना तो है ही···

नहीं, ऐसा तो नहीं।··

अ० वा० : अगर इसे बहुत ही सीधे कहा जाए तो ये साल कविता के बांझ बरस रहे हैं। रचना में शक्ति के ह्रास के, बौद्धिकता, काव्यात्मक बौद्धिकता के ह्रास के बरस रहे हैं। यहां सब इतना सरलीकृत और एक-सा बहता हुआ रहा है कि आलोचनात्मक मुहावरे में, इन कविताओं के घटते हुए को पकड़ने की कोशिश भी असम्भव-सी लगती है।···किसी राजनीतिकता या समाजशास्त्रीयता में भटके बिना कलाकृति की समग्रता का साक्षात्कार अब मुमकिन नहीं लगता।

लेकिन क्या यह अन्तर्निहित सीमा, कला आलोचना की ही नहीं है? महज सातवें दशक की ही खासियत क्यों?

अ० वा० : नहीं, ऐसा हुआ इसलिए कि सातवें दशक ने ऐसी कविता दी जिसमें निजता, निजी धार की बहुत कमी थी, जहां अधिकांश कविताएं दूसरी कविताओं की तरह थीं। ऐसे में आलोचनात्मक संवेदनाओं को, आलोचना के लिए, कोई चुनौती नहीं उभरती। मेरा मतलब है कि अगर कोई रचना ऐसी है जो अपनी बुनावट में बहुत अद्वितीय, निजी बोध वाली है तो वह आलोचनात्मक बुद्धि को भी किसी न किसी वैचारिक द्वन्द्व के लिए उत्तेजित करेगी ही।

ऐसा नहीं कि आलोचनात्मक मस्तिष्क को आकर्षित करने वाला कोई बिन्दु न हो इसलिए यह महज एक तरह की, जिसे तुम बांझपन कहते हो, ही स्थिति है।

अ० वा० : छठे दशक के अंत में मैंने आलोचना लिखनी शुरू की। मैंने धूमिल पर पूरा एक लेख लिखा। तब उनकी किताब भी नहीं निकली थी। मैंने कमलेश पर भी लिखा। उनकी भी किताब नहीं निकली थी। उनकी तो अभी तक नहीं छपी। एक आलोचक की हैसियत से मैंने तब भी महसूस किया था कि यह एक महत्वपूर्ण आवाज है जो गौर किए जाने की मांग करती है और उसकी अधिकारी भी है। इसी तरह मैंने विनोदकुमार शुक्ल पर भी लिखा लेकिन अब मुझे नहीं लगता कि दृश्य में ऐसे लोग हैं जिनकी कविता मुझे याने मेरे आलोचक के कर्म को चुनौती दे।

लेकिन उनके पहले के कवियों—मसलन् रघुवीर सहाय की 'हंसो-हंसो' के बारे मे क्या कहना है तुम्हारा ?

अ० वा० : मुझे यह लगता है कि 'हंसो-हंसो' वाली कविताओं में एक आदमी का भय और उसका एक यातनादायक उत्पीड़ित अनुभव है। चाहे इसके कारण सही हों या न हों पर यह भय और एक खास तरह का उत्पीड़न भाव आदि उससे संगठित होता राजनैतिक अनुभव तो है और उसमे से एक तरह की निजी परिभाषा बनती और एक निजी प्रखरता आती है। हालांकि 'हंसो-हंसो' की कविता राजनीतिक स्थिति या अनुभव या कहें यथार्थ को उस तरह से पेश नहीं करती। जैसे 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताएं कर पायी थीं। पर जो भाव है, भावों का व्यक्तित्व है, वह बहुत स्पष्टता से हस्तक्षेप करता है। वह ऐसी कविताएं रचता है जो अलग ही व्यक्तित्व की हैं। रघुवीर सहाय के बारे में एक महत्वपूर्ण आलोचनात्मक मुद्दा है कि वे अधूरे संवाद बनाते हैं, इस अर्थ में कि आप एक खास अनुभूति पर खास कोणों से हाथ रखते हैं—जैसे भाषा। वे उसे लगभग अमूर्त कर देते हैं और लगता है जैसे किसी आदमी से उसकी भाषा छीन ली गयी है, भाषा और व्यक्ति के बीच अलगाव की हालत बन गयी है और उनकी कविता उन शक्तियों की पहचान कराने में असफल हो जाती है जिन्होंने यह हालत की है। वे उन ताकतों के और क़रीब पहुंचने की बजाय उन सबके बारे में कुछ-कुछ रहस्यवादी हो जाते हैं। अब जैसे उन्होने बजट पर एक संपादकीय लिखा तो अंत तक पहुंचते-पहुंचते वे उसे भी भाषा और मनुष्य के अलगाव के मुद्दे पर ले आएंगे कि वह उसकी जरूरत पूरा नहीं करता। वे उस 'भाव' और 'मूड' को जहां का तहां छोड़

देंगे, उसे आगे खोजने की कोशिश नहीं करेंगे जबकि इस तरह की कविता में जरूरी करम है। इधर जो नये प्रगतिशील हैं ऐसी किसी भी निजी संवेदनशीलता और काव्यात्मक यथार्थ के लिए अक्षम मालूम होते हैं बल्कि ज्यादा सरलता और फूहड़ता से उद्घाटित करते नजर आते हैं। वे उन चीजों तक, यथार्थ में बिना जड़ें जमाए, आसानी से पहुंचने की कोशिश करते दीखते हैं।

शायद यही वह चीज है जो रघुवीर सहाय को थोड़ा उबाऊ बनाती है। यह तो सच है कि रघुवीर सहाय में जो 'प्रवाह' है वो एक सीमा के बाद उनको अमूर्त कर देता है। मसलन् वे सत्ता पर भी कभी अपना ख्याल, अपना भाव प्रकट नहीं करते, लेकिन जिसकी तुम बात कर रहे हो वह रास्ता शायद यह नहीं होगा कि वो बतायें कि दुश्मन कौन है; लेकिन जिस उत्पीड़न वर्ग, उत्पीड़न की बात तुमने की, उसका जो काव्यात्मक संकाय है, उसे उस शंका में तो कम से कम प्रकट होना ही चाहिए जैसा कि तीसों के कवियों ने इंग्लैंड में एक-दूसरे स्तर पर किया था : राज्य के बारे में, सत्ता के बारे में, राजनीति के बारे में। लेकिन रघुवीर सहाय जिस ढांचे, काव्यात्मक ढांचे में पिछले १०-१५ वर्षों से काम करते रहे हैं, उसमें वे उस आतंक, उस पीड़ा को ठोस आकार देने की कोशिश नहीं करते, जो उस व्यक्ति की है जो एक खास राजनैतिक दुनिया में रह रहा है और जो कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण शंकाएं और प्रश्न उठा रहा है। मुझे उनके लेखों में भी…

अ० वा० : मुझे यह भी लगता है, हालांकि इस पर बहुत कम बातचीत हुई है ''बहुत सारे कवियों ने कहानियां लिखी हैं : रघुवीर सहाय ने, कुंवर नारायण ने, श्रीकान्त ने। इनकी कहानियों और जो बाकायदा कहानीकार हैं उनकी कहानियों में कभी आपको कोई ऐसा अंतर दिखाई दिया है जो सिर्फ लोगों के अलग होने की वजह से ही नहीं बल्कि एक दूसरे माध्यम में काम करने की वजह से पैदा हुआ है : याने उस विधा में जहां बहुत कुछ हुआ है, उसके दबाव और उस सबको अर्जित करने के बावजूद एक कवि कहानी का माध्यम चुनता है तब…

मुझे इन सबमें रघुवीर सहाय सबसे कमज़ोर जान पड़ते हैं। वो एक खास बिन्दु पर पहुंच कर जिस तरह कहानी में अपनी निजी चेतना प्रक्षेपित करने लगते हैं, वो कम-से-कम मुझे ठीक नहीं लगता। दूसरी तरफ़ कुंवर नारायण बिल्कुल अलग मुहावरे, एक दूसरी दृष्टि, कवि की दृष्टि से कहानी बुनते हैं, उनकी दृष्टि

को मैं बहुत मूल्यवान मानता हूं और मुझे नहीं लगता कि किसी भी अन्य कहानी लेखक में यह है। उनकी कहानियों में इस तरह की ताजगी, कोई फर्क या असाधारणता नहीं होती जो कुंवरनारायण में मिलती है। उन्होंने निश्चय ही *कहानी विधा को देखने की एक अनुपम दृष्टि दी है : खासकर 'आकारों के* आसपास' में। श्रीकांत वर्मा की कहानी काफ़ी पारम्परिक है। वे धन्धई या कहें कहानी ही लिखने वालों के बहुत करीब पड़ते हैं। ऐसा नहीं कि श्रीकांत कोई बुरे कहानीकार हैं। वे बहुत अच्छे कहानीकार हैं लेकिन उन्हीं मायनों में जिनमें दूसरे कहानीकार। तुम रघुवीर सहाय की कहानियों के बारे में ठीक-ठीक क्या सोचते हो ? मैं अपना मत बदल सकता हूं क्योंकि वह अभी दृढ़ नहीं है। वैसे मैं उनकी कहानियां पसन्द करता हूं लेकिन उनमें जो नकलीपन''' एक तरह की'''

> अ० वा० : एक बात जो मुझे रघुवीर सहाय के सारे लेखन में बहुत आकर्षक लगती है, वह भाषा का उनका प्रयोग है। बहुत ताजा और संवेदनशील। वह उनकी कहानियों में भी है। लेकिन जरूरी नहीं कि किस्सागोई का तत्व बहुत हो। कहानी में तो वह बहुत पुराना है। किस्सागोई का अन्दाज, उसकी शक्ति या औचित्य उसकी मानवीयता रहा है। किस्सागोई मानवीय हिस्सेदारी का ही रूप होती थी। अगर वो न भी हो यानी बयान के अलावा किसी तरह की मानवीय पड़ताल, मानवीय संबंधों के साथ अपनी चिंता भी हो तो आदमी को काफी गहरे उभार सकती है। रघुवीर सहाय की कहानियों में बखान का अंदाज बहुत उभरा हुआ नहीं है।

लेकिन शायद, यह जरूरी भी नहीं है।

> अ० वा० : मगर ये जो उसकी मानवीय बारीकी है, एक खास तरह की मानवीय सूक्ष्मता को व्यक्त करने के लिहाज से, वो कहानियां शायद बहुत महत्वपूर्ण हैं; इसलिए भी कि वो एक नये क्षितिज को उद्घाटित करने की कोशिश है पर दस्तावेज के रूप में, मानवीय दस्तावेजों के रूप में वे मुझे केन्द्रीय नहीं लगतीं। उनमें एक 'हाशिया-पन' जैसा है। कुंवर नारायण की कहानियां ऐसे आदमी की कहानियां नहीं लगतीं जो महज यों ही महज तुफैल में कहानी लिख रहा है'''रघुवीर सहाय में एक आजमायशीपन है, एक तरह का हाशियापन भी'''इसीलिए दो-तीन कहानियां पढ़ने पर ऊब-सी होने लगती है।

भाषा के बारे में मैं तुमसे सहमत नहीं हूं। मैं समझता हूं, रघुवीर सहाय शब्दों

के प्रति बहुत संवेदनशील हैं। इसी वजह से उनकी कविता में एक खास ताजगी नजर आती है। वहां वाक्य महत्वपूर्ण नहीं है···वहां शब्दों का विस्मयकारक संयोग है जो एक खास अर्थ पैदा करता है लेकिन गद्य में शब्दों की व्यवस्था, चाहे कितनी भी प्रायोगिक क्यों न हो, बहुत महत्वपूर्ण है। आप कविता में बहुत कामयाब हो सकते हैं लेकिन गद्य में सही वजह से आप बहुत घुमाऊ, बहुत उबाऊ हो जाते हैं। जो शब्द वे प्रयोग करते हैं वे बहुत अच्छे होते हैं, कोई दूसरा हिन्दी लेखक उन शब्दों को उस ताजगी से प्रयोग करने की क्षमता शायद नहीं रखता लेकिन जिस तरह वे अपने तर्क का ढांचा खड़ा करते हैं, वो मुझे अटपटा लगता है, उनमें एक तरह का बखान तो रहता ही है वाक्यों के सहारे। इस मायने में श्रीकांत वर्मा तीनों में श्रेष्ठ हैं। कहानियों में अपने सर्वोत्तम बिन्दु पर उनका गद्य एक खास कोमलता के साथ होता है, बिना किसी बाहरी चीज़ के। उनके उस 'स्पर्श' से ईर्ष्या होती है। वे कविता के शब्दों की खूबी और 'नैरेशन' के बहाव को एक साथ ले आते हैं।

अ० वा० : पर ये जो कुछ युवा कहानीकार हैं, जैसे ज्ञानरंजन···

ज्ञानरंजन की शुरू की कहानियां मुझे बहुत अच्छी लगी। मुझे वो पसंद नहीं है जो संभावना प्रकाशन वालों ने अभी छापी है—'क्षणजीवी'। लेकिन मेरे विचार से वो बहुत अच्छे गद्य लेखक थे।

अ० वा० : असल में अगर कोई इधर ऐसा कहानीकार है जो यों तो शुद्ध गद्य का लेखक है लेकिन जिसने कविता के बहुत सारे तत्वों को जज्ब किया है, अचरज के तत्व और कुछ एक खिलवाड़ के तत्व के साथ और 'विट्' के साथ और वाक्यों को ऐसे लिखा हो कि लगे 'गद्य' ही, लेकिन उसमें एक काव्यात्मक पारदर्शिता भी पैदा हो तो यह शायद सबसे ज्याद ज्ञानरंजन में है। लेकिन इधर जो उन्होंने एक सैद्धांतिक रुख ले रखा है, तो कहानियों और राजनैतिक रुख में भी एक सीधा-सीधा तालमेल बैठाना कठिन हो गया है···

यों उनकी कहानियां हैं, जो काफी साफ-साफ सैद्धांतिक और प्रतिबद्ध किस्म की है। नये संग्रह में और अब उसके गद्य में वह गुण नहीं है जो उनकी पहले की कहानियों में था; वह बहुत सपाट गद्य है। शुरू में उनका सपाटपन भ्रामक होता था। उसमें कई तरह के बहुआयामी यथार्थ होते थे। अब वह सपाटपन सचमुच एक-आयामी हो गया है। दूधनाथसिंह की कहानियों में भी बड़ी इंटेंसिटी' थी···

अ० वा० : अब तो शायद उन्होंने बहुत दिनों से कुछ लिखा भी नहीं है।···और अशोक सेकसेरिया को···

अच्छी लगती हैं, मुझे उनकी कहानियां पसंद हैं।

अ० वा० : बहुत दिनों से उन्होंने भी नहीं लिखा है, आजकल पटना में हैं।

उनकी चिट्ठियां आयी थी दो-तीन। उनकी कहानियां बहुत ही सुघड़ हैं। मैं महेंद्र भल्ला को अधिक पसंद नहीं करता।

अ० वा० मुझे बहुत ही दिखाऊ गद्य उनका हमेशा लगा और···

और उसमें चमत्कार भी बहुत है।···अगर अशोक लिखते रहते तो एक नया मूड कहानियों में ला सकते थे। मैं कभी-कभी सोचता हूं, अपने अनुभव के 'डाक्युमेंटेशन' की भी बहुत ज्यादा जरूरत है।···हिंदी गद्य में रिपोर्ताज और कहानी की सीमा रेखा की, अशोक सेकसेरिया ने कभी बहुत परवाह नहीं की।···

मेरी बड़ी इच्छा है, चाहे साल भर के लिए ही सही भारत में इधर-उधर घूमने की, भिक्षु या साधु की तरह नहीं, बल्कि यों ही बेतरतीब घुमक्कड़ की तरह। मैं चलता रहूं और कोशिश करूं कुछ अनुभवों को पकड़ने की···कुछ दृश्यों···कुछ···लोगों को···पकड़ने की। अफसोस की बात है कि बहुत थोड़े भारतीयों में यह प्रवृत्ति है; भारतीय जीवन के मूल को पकड़ने की। वो रूस में कितनी मिलती है यह जानने की ललक कि हमारे देश का जीवन यह है··· खासकर उन्नीसवीं सदी में। गये साल जब मैं 'कुंभ' गया था तो मेले से वापस आने के बाद बहुत प्रेरणा मिली कि मैं ऐसा कुछ करूं, कथानक या सामग्री जुटाने के इरादे से नहीं बल्कि जो अनुभव किया उसे ही लिखने की दृष्टि से, अपने अनुभव को 'डाक्यूमेंट' करने के ख्याल से··।

अ० वा० : निर्मल जी, पश्चिम में अब उत्तर आधुनिकता की चर्चा होती है। हमारे यहां आधुनिकता ही अभी तक अनसुलझा सवाल बनी हुई है। पर मुझे लगता है कि दरअसल हमारे यहां भी सातवें दशक में आते-आते आधुनिकता का समापन हो चुका। हम भी आधुनिकोत्तर काल में पहुंच गये हैं। लेकिन क्या उनके बीच फ़र्क किया जा सके ऐसी स्थिति है?

तुम दोनों के दरमियान साफ-साफ फर्क कर सकते हो, मसलन् आधुनिकों में अकबर पद्मसी और रामकुमार और उत्तर आधुनिकों में स्वामीनाथन् के बीच।

उत्तर आधुनिकों में विज़नरी चित्रकार भी आते हैं। अमरीकी कविता मे बीटनिक और गिन्सबर्ग के बीच भी फर्क है। मेरे ज़ेहन मे रिल्के की कविताएं आती हैं, काफ़्का के उपन्यास और टामसमान की रचनायें आती है। इनमे व्यक्ति और समाज के बीच जो द्वंद्व है, जो 'एंगुइश है', पिकासो के चित्रों मे··· वह आधुनिकता का पहला चरण है जबकि बीटनिक यथार्थ को अविकल स्वीकार करते हैं···

> अ० वा० : लेकिन इतिहास का बोध, 'शाश्वत' के बोध से मिटता और विलुप्त तो होता ही है जो स्वामीनाथन् के प्रसंग में प्रत्यक्ष है और गिन्सबर्ग के प्रसंग में तो एकदम साफ है।

मगर आदमी और दुनिया के बीच, एक ऐतिहासिक क़िस्म का द्वंद्व तो आधुनिक मनोवृत्ति ही है।

> अ० वा० : उस नज़र से देखा जाय तो हिन्दी में उत्तर आधुनिक कविताओं के लिहाज़ से विनोद कुमार शुक्ल में ही यह किसी हद तक है; पर ये जो अलग-अलग वर्गीकरण बना दिए गए हैं उनके बीच, श्रीकांत और मुक्तिबोध में ही एक तरह का असंतुलन, व्यक्ति और संसार के बीच असंतुलन है, जबकि दूसरे तरह के लोग भी हैं जैसे रेणु जिनमें समुदाय का बोध है या जो समुदाय से संबद्ध हैं।

जहां तक व्यक्ति के अहं का सवाल है, उसका अहं शायद इतना महत्वपूर्ण नहीं है···लेकिन व्यक्ति के अहं का अतिक्रमण कुछ लोग समूह में कर देते हैं जैसे रेणुजी ने कुछ हद तक यही किया है जबकि पश्चिम के कवियों ने अपने 'अहं' के अस्तित्व पर शंका प्रकट करके, उसकी संदिग्धता के ज़रिए समूची 'हीगेलियन' अवधारणा को अस्वीकृत किया है। यह लगभग 'ब्लैकियन विज़न' की ओर वापसी है; 'सेंट जोन ऑफ़ द क्रास' के विज़न से अलहदा ! जहां कोई संघर्ष नहीं है, द्वंद्व नहीं है 'स्व' और 'पर' में। स्वामीनाथन् में इसी निजी और व्यक्तिगत का अतिक्रमण करने की कोशिश है व्यक्ति और संसार के द्वंद्व के ढांचे में, अस्मिता की तलाश। बीटनिक कविता में तो इसी की विशेषता है।

> अ० वा० : पश्चिम में तो इसका पूरा एक तर्क है। मुझे एन्थानी बर्गेस के नये उपन्यास की तारीफ़ में कही गयी एक बात याद आती है : 'हिज़ अनआर्थाडॉक्स रिलीजस अर्जेन्सी'। पश्चिमी लेखक उन सवालों, उन प्रेरणाओं, उन उत्तेजनाओं का सामना करते हैं, उन्हें

व्यक्त करते हैं बावजूद सारी धर्मनिरपेक्षता के'''लेकिन हम लोग जहां पूरी धार्मिक परम्परा रही है, जिसकी कला में, जिंदगी में, समुदाय की जिंदगी में एक भूमिका रही है; एक तरह की छद्म धर्मनिरपेक्षता का रुख अपनाते हैं : धार्मिक संवेदना से पैदा होने वाले सवालों से कतराते हैं। पिछले २५-३० वर्षों का ज्यादातर साहित्य धार्मिक प्रेरणा और उत्तेजना से कतराकर, बचकर लिखा गया है। मुक्तिबोध में जरूर कुछ बिम्ब हैं, बरगद, ब्रह्मराक्षस वगैरह जिन्हें रामविलास शर्मा ने 'रहस्यवादी' कह दिया और रहस्यवाद और मार्क्सवाद के अंतर्विरोध बनाकर उसका सरलीकरण कर दिया। हमारी सामुदायिक ज़िन्दगी में धार्मिक प्रेरणाएं, वे स्मृतियां हैं जो साफ़-साफ़ जातीय मानस की हैं। हमारी परंपरा में व्यक्ति और समाज के बीच द्वन्द्व, तनाव, और संघर्ष स्वीकृत और दी हुई अनिवार्यता नहीं है। किसी हद तक हिन्दी में उत्तर आधुनिकतावाद का चरित्र उसकी पुनर्प्राप्ति का होगा जिसमें व्यक्ति और समाज के बीच अनिवार्य संघर्ष जरूरी नहीं होगा; वह कहीं अपनी देशज परम्परा की ओर वापसी होगा।

एक बात जोड़ना चाहूंगा। एक ऐतिहासिक व्यक्ति के लिए इतिहास से आक्रांत होना शायद स्वाभाविक होता है। पश्चिम पचासेक वर्षों तक इतिहास से आक्रांत रहा है; वह जिस यातना से गुजरा है वहां अतिक्रमण का मनोवेग अपने 'अहं' के बोझ से छुटकारा पाने की प्रेरणा, उत्तर आधुनिकतावादी कलाकारों मे रही है चित्रकला में यह देखा जा सकता है। मैं समझता हूं, भारतीय लेखन मे यह दूसरे, उल्टे तरीके से आनी चाहिए। समन्वय के बिंदु से नहीं, द्वंद्व के बिंदु मे। क्योंकि हमारी जो निराशाएं रही हैं, जो उदासीनता, जो निष्क्रियता रही है; व्यक्ति और समूह के बीच, व्यक्ति का जो दमन हुआ है उसे कभी संवेदनशीलता से समझने की कोशिश नहीं की गई है। यूरप मे यह समस्या नहीं थी। वहां व्यक्ति, खुद अपनी वैयक्तिकता से उत्पीड़ित था जबकि यहां व्यक्ति हमेशा एक तरह की समूह, जाति परिवार के भीतर डूबा और दबा रहा है : उसमे एक औरत, एक शूद्र, एक हरिजन की हालत क्या रही है? एक संवेदनशील व्यक्ति के लिए तो, सबकी वेदना और सबकी यातना शामिल है'''जब तक हम इस यातना के दौर से नहीं गुजरते, हमारा यह उत्तर आधुनिकतावाद एक तरह का बौद्धिक फार्मूला तो हो सकता है, एक तरह का सरलीकृत समन्वय, हमें समन्वय से उठकर अपने अलगाव को पहचानकर और फिर उस भूलभुलैया से बचने की कोशिश करनी होगी जिसमें कि व्यक्ति और समाज

के बीच द्वंद्वों की पश्चिमी मानसिकता में हमने खुद को फंसा लिया है। उसमें न फंसा जाए क्योंकि कोई भी 'संश्लेषण' या कोई भी 'विलय' तभी तक महत्वपूर्ण है जब तक कि व्यक्ति अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक है; उस दुनिया में जिसमे वह रह रहा है। तो क्या उत्तर आधुनिकतावाद का सवाल, एक भारतीय लेखक के लिए असामयिक सवाल नहीं है, जहां वह अभी भी स्वतंत्र व्यक्तिगत चेतना की वयस्कता को भी प्राप्त नहीं कर पाया है।

अ० वा० : एक तरह का पुनरुत्थानवादी साहित्य भी हो सकता है जो हिन्दी में हुआ—आधुनिकता के नाम से हुआ। यों भी यह सम्भव नहीं कि भारत ने जिसे अर्जित किया उसे कोई 'मेट' दे, नजरन्दाज कर दे। वह तो एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति होगी किसी भी महत्वपूर्ण और समर्थ लेखक के लिए। अब पिछले पचास वर्षों में व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा, व्यक्तित्व की खोज जिसे वात्स्यायनजी ने कहा है, यह जो व्यक्ति का हक और दावा और आग्रह है, समुदाय और समाज और संसार और इस-उस या और भी चीजों के खिलाफ···

पश्चिम में हुआ यह···। मेरे कहने का मतलब है कि व्यक्ति का यह आग्रह, जरूरी नहीं कि संघर्ष या विरोध का पैटर्न अपनाए; मतलब यह नहीं कि 'स्व' अपनी प्रतिष्ठा न करे; लेकिन जरूरी नहीं कि व्यक्ति और समाज मे दुश्मनी हो ही।·· यही हमारे संस्कार में मदद करेगा, तब जिस 'स्व' को हम आधुनिकतावाद या उत्तर आधुनिकतावाद मे भी एक 'वास्तविकता' मानते है उसकी एक सजग स्थिति होगी।

अ० वा० : बहुत हद तक जो एक थोड़ी सी उकताहट अब हो रही है, जो आधुनिकतावादी परम्परा है, उसमें व्यक्ति बनाम समाज बनाम परिवेश बनाम संसार; इनके बीच जो एक अनिवार्य विरोध मानकर जो कुछ किया गया है वह हमारी अपनी परम्परा से पुष्ट नहीं है, वह बहुत छद्म विद्रोह और क्रांतिकारिता का नमूना भी है···। उससे तो कम से कम हमको मुक्ति मिल रही है। अगर हम पहचान रहे हैं कि व्यक्ति सजग है; कि व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा अपने आप में, हमारी स्थिति में एक मौलिक क्रांतिकारी बात है। जिस हद तक हम व्यक्ति के संघर्ष के प्रति अधिक संवेदनशील हुए हैं, वह हमारी संस्कृति के लिए भी एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है लेकिन यह जो अनिवार्यतः मान लिया गया कि यह उसके विरुद्ध है, वह इसके विरुद्ध है···

यह समस्या निजी तौर पर मुझे उद्वेलित करती है।

> अ० वा० : वो एक तरह की यथार्थवादिता का आतंक जो इस प्रसंग में था और उसका एक पक्ष था, उसने जहां तक हमें वस्तुपरक यथार्थ के प्रति अधिक संवेदनशील और उत्सुक बनाया वहां तक तो ठीक था। उसने व्यक्ति के संघर्ष को देखने में हमारी मदद की लेकिन हमारे व्यक्ति का जो संघर्ष था, उस संघर्ष की जो परम्परा थी, वह ग़ैर-यथार्थवादी ही थी। कम से कम भारतीय संदर्भ में वह उस तरह यथार्थवादी नहीं थी। उससे हमारे यहां एक विकृति भी आई। काव्यात्मक विजन को, कथा साहित्य में कमतर आंका जाने लगा, नतीजा यह हुआ कि भारतीय कथा-साहित्य में काव्यात्मक तीव्रता के तत्व का लोप होने लगा। कुछ कहानियाँ मसलन् अमरकांत की 'दोपहर का भोजन', रेणु की कहानियां, आपकी, कवि कुंवरनारायण की कहानियां इस यथार्थवादी परम्परा के आतंक से अलग ज़रूर हैं; जहां सब कुछ सीधे-सीधे बहुत सहज रूप से देखे जा सकने वाली तर्क संगति से न होकर, एक दूसरी गहरी संगति में है। तो वह इस यथार्थवादी आतंकी की वजह से कम आंकी जाने लगी। उस यथार्थवादिता को हमने बिना किसी संशोधन, परिष्कार के स्वीकार कर लिया। रंगमंच में देखिए। जब तक हमारा रंगमंच पश्चिमी यथार्थवाद से आतंकित रहा तब तक वह तीसरे दर्जे का ही था, जहां और जब से इस यथार्थवादी ढांचे को तोड़ना शुरू हुआ वहीं से यह कलात्मक और रचनात्मक दृष्टि से भी ज्यादा विश्वसनीय मानवीय रूप से समृद्ध और अधिक संवादशील हुआ।

हां, वो जो नकली बाधाएं उन्होंने लगा दी थीं, वे जब हटीं तो मुक्ति का एक एहसास हुआ। रंगमंच में यह मुक्ति का एहसास महत्वपूर्ण है। यह तभी होता है जब यथार्थ का अलग-अलग धरातलों पर साक्षात्कार किया जाता है। पश्चिम ने हमें यही बताया कि बौद्धिक और ऐतिहासिक रूप से प्रतिबंधित सारणियों में ही हम यथार्थ से संपर्क कर सकते हैं'''। मगर यह सब कितना संगीन, कितना भयानक है इसकी हम कल्पना नहीं करते। क्योंकि इससे हम समूचे यथार्थ के बोध की अपनी सारी मुमकिन ताक़तों को, बुद्धि के अलावा, सबको दबा देते हैं इसलिए जो सत्य हमें प्राप्त होता है वह बहुत ही सीमित और कुंठित होता है। मैं नहीं समझता कि एक भारतीय लेखक के लिए इस तरह के बंधन कोई मानी रखते हैं। अगर हम १५० साल तक इस तरह की ग्रंथि, गुलामी की ग्रंथि से पश्चिम को न देखते होते तो पता नहीं हमारा

विकास कैसा होता, हमारी कला हमारे साहित्य का क्या रूप होता, यह एक दिलचस्प मुद्दा है।

अ० वा० : उपन्यास के ढांचे की ही बात लीजिए। हमने आम तौर पर पश्चिमी उपन्यास का यथार्थवादी ढांचा ही ले लिया। उस ढांचे में गैरयथार्थवादी हस्ताक्षेप हमने जब जब किया, तब तब कोई न कोई दिलचस्प चीज पैदा हुई। मसलन् हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास या जैसे 'लाल टीन की छत', वैसा कुछ जो भी प्रयत्न कर रहा है, वह उस ढांचे की सर्वस्वीकृत मान्यता में नहीं आता। एक ऐसे बिन्दु की तलाश जहां यथार्थवादी ढांचा टूटता है ताकि मानवीय स्थिति के प्रति अधिक आत्मीय, अधिक काव्यात्मक और अधिक गहरी दृष्टि अपनाई जा सके जहां संबंध, महज समाजशास्त्रीय या उसके भाषान्तर ही नहीं हैं, जहां सम्बन्ध अधिक जैविक, प्राकृतिक हैं मसलन् एक आदमी का......पेड़ से सम्बन्ध, जिसका इतिहास की शक्ति या किसी खास व्यक्ति की समाजशास्त्रीय स्थिति से कुछ भी लेना-देना नहीं है; अब जहां भी हम यह कर सकने के लायक हुए हैं। 'रूप' के प्रसंग में जरूर कुछ दिलचस्प हुआ है।

बात बड़ी दिलचस्प है। आधुनिक युग में भी ऐसे चित्रकार और लेखक हुए हैं जिन्होंने आधुनिकतावाद की मूल धारा को नष्ट करने की कोशिश की है, यथार्थवाद या ऐतिहासिकतावाद से अलग हटकर। समूची एंग्लिश से अलग मसलन् पॉल क्ले। मनुष्य और प्रकृति के रिश्तों की बात की। आधुनिकतावाद के आंदोलन के ऐन बीच में, क्ले, एकदम एक बाहरी आदमी की तरह लगता है।

अ० वा० : और खुद उपन्यास का जो ढांचा है, उसे किसी हद तक आप स्वयं तोड़ने की कोशिश करते है 'लाल टीन की छत' में। और जिस उपन्यास पर आप आजकल काम कर रहे हैं, उसमें उसके 'रूप', याने 'फ़ॉर्म', एक अवधारणा के रूप में फ़ॉर्म नहीं, बल्कि अपने रचना कर्म की मौलिक विवशता के रूप में फ़ॉर्म की किस समस्या से आप कैसे...

इस उपन्यास के बारे में अभी मैं यही कह सकता हूं कि यह 'लाल टीन की छत' से बिल्कुल अलग है। वह बहुत कुछ उस जीवन के बारे में है जहां 'अप्रामाणिकता' है, हमारे क्रिया-कलाप के मुख्य घटक के रूप में एक कृत्रिमता है। मैं सोचता रहा हूं कि ऐसे में एक आत्म-अन्वेषक व्यक्ति की नियति क्या

है। हमारा मध्यवर्ग एक हिपोक्रेसी मे रहता है, दुविधाओं में जीता है, उससे इस व्यक्ति का रिश्ता क्या होगा ताकि एक खास सपना, एक खास क़िस्म की निर्मलता और प्रामाणिकता पाई जा सके। एक बिल्कुल अलहदा रूप में नायपाल सरीखे भारतीय जीवन के आलोचक उसमे उसकी जीवन पद्धति में एक किस्म की अप्रामाणिकता देखते है, लेकिन वह एक बाहरी व्यक्ति, एक आउटसाइडर की मानसिकता लगती है कि वे भावनात्मक रूप से उसमे शामिल नहीं है, उनके कोई निहित स्वार्थ नहीं हैं, उल्टे उनमें एक तटस्थ दर्शक की ऐयाशी है, उनके कोई दांव, उनकी कोई बाजी नही लगी है, मगर यहां दांव और बाजी भी है और निहित स्वार्थ भी है, इन दोनों पाटों के बीच क्या मुक्ति के लिए कोई रास्ता है। इस चिंता के घेरे में मैं उपन्यास को कैसे बदलता हूं, यह सवाल नही है क्योंकि उसे अनुशासित करने वाली सर्वव्यापी चिंता मेरी दूसरी है; सचेत रूप से मेरी यह चिंता नहीं है कि यह उन्यास पुराने ढांचे को तोड़ेगा या नही; 'लाल टीन की छत' मे शायद यह सचेत प्रयास था किसी हद तक।

अ० वा० : मेरे कहने का मतलब है कि एक सम्बन्ध, एक व्यक्ति का चाहे वह समाज से हो, संसार से हो, या किसी चीज से हो, यदि व्यक्ति सजग है तो उसका यह सम्बन्ध, खास तौर पर लिखने वाले का संबंध उसके माध्यम से भी होता है; उसके प्रति वह कहीं-न-कहीं सजग होता है बल्कि आधुनिकता की तो यह शर्त और पहचान रही है कि व्यक्ति अपने माध्यम के संबंध के प्रति कितना आत्मसजग है। बहुत से लोगों की मुख्य चिन्ता यह होती है। कुछ दूसरों के लिए यह आत्म-सजगता शायद कोई महत्व नहीं रखती। मसलन् शायद यशपाल को यह बात बहुत चिंतित नहीं करती रही होगी; इससे यह तय नहीं हो जाता कि उनके उपन्यास खराब हैं। रेणु की तरह के लोग जो व्यापक रूप से एक परम्परा में थे, वो एक समुदाय-बोध से साहित्य रचते थे। जो इस समुदाय-बोध से ग्रस्त होकर लिखते हैं वे भी माध्यम के साथ अपने संबंध के प्रति उदासीन या असतर्क शायद नहीं हों—जैसे 'मैला आंचल', 'परती परिकथा' या रेणु की कहानियां···मगर लगता है, माध्यम के साथ उनका संबंध, उनकी चिन्ता की मुख्य वजह नहीं है ··और अगर गौर किया जाए तो आखिरकार माध्यम के साथ संबंध की इस आत्मसजगता के किसी बड़े प्रयत्न ने ही हमारे समय में कुछ सार्थक और महत्वपूर्ण किया है।

सवाल सजगता के बारे मे है, इस सजगता का स्वरूप क्या होता है, एक कवि-लेखक के लिए। एक बौद्धिक सजगता होती है। यह सजगता ऐसी नही होती कि लेखक के मन मे कोई बना-बनाया विषय है और फिर वह देखता है कि मैं अपने माध्यम के प्रति कितना सजग हूं, जिससे कि मेरा यह 'दर्शन', यह विषय प्रतिपादित हो सके। ऐसी कोई रिश्तेदारी नही होती, शिल्प और 'दर्शन' मे। अगर ऐसी बात नही है तो हमे देखना होगा कि एक उपन्यासकार किस से सत्य का बोध करता है। वह विधा ही आखिरकार उसे बाध्य करती है। मसलन् जिस रूप मे आपको 'सत्य' या 'ईश्वर' मिलता है, उसी रूप को मैं 'फ़ॉर्म' समझता हूं। उसे अनुभूत करने के संघर्ष मे दोनों चीज़ें एक दूसरे से जुड़ जाती हैं; 'रूप' और 'विज़न' दोनों एक हो जाते है। तो जिस सीमा तक आप अपने 'दर्शन' के प्रति सजग है, सत्य की झलक और आपके बीच जो संबंध है, उसके प्रति सजग हैं; तो यह दोनो प्रकार की सजगता आखिरकार उस प्रक्रिया में परिलक्षित होती है जब आप अपनी कहानी का पहला शब्द या पहला वाक्य लिखते हैं तब 'रूप या 'फॉर्म' उस प्रक्रिया का उन्मीलन हो जाता है जिससे आप सत्य का बोध करते है।

> **अ० वा० : क्या यह भी सच नहीं है कि 'फ़ॉर्म' भी उस सत्य का अंग है, जिसका आप बोध करते हैं; तब आपका माध्यम या उस माध्यम से आपका रचनात्मकता या आत्मसजगता से आपका व्यवहार, भी क्या उसका अंश नहीं हो जाता ? वह भी उस विज़न का अंग हो जाता है जिसे आप उपलब्ध करते हैं। ऐसा नहीं है कि कला के माध्यम...**

मैं तुम्हारी बात समझ रहा हूं...माध्यम तब माध्यम नही रह जाता; अगर हम 'सत्य' को शब्द के सहारे से ही ग्रहण कर सकते हैं तो शब्द 'सत्य' का माध्यम नही बनता; वह उससे जुड़ा हुआ होता है। हमारे मन में यह एक पुरानी धारणा है कि रूप या फ़ॉर्म एक माध्यम है; एक उपकरण है और यह गलत है क्योंकि किसी 'सत्य' का बोध किसी न किसी रूप में ही होता है; बिना उसके, सत्य भी खो जाता है; चुनांचे 'शब्द' माध्यम नही होता, वह एक प्रारम्भिक शर्त हो जाता है। मेरे कहने का मतलब यह है कि कलाकार जितना ही सजग होगा, उस दृश्य के लिए, सत्य के एक 'लैण्डस्केप' के लिए तो वह उसे एक रोशनी में दिखाई देगा। इस रोशनी के साथ उसका संबंध उतना ही है जितना कि उसकी कविता का शब्दों के साथ है। कवि का सत्य, उसके शब्दों का, शब्दों में है; शब्द माध्यम नही हैं, दरअसल, सत्य, शब्दो मे, भाषा मे से ही आता है वर्ना आप लिख ही नहीं सकते।

अ० वा० : इस तरह की एकान्विति, संपूर्णता या 'इन्टीग्रिटी' की ही बात मैं कर रहा हूं। अगर आप माध्यम से अपने संबंध के प्रति सजग हैं, अगर आप जानते हैं कि सत्य को देख पाना इसी तरह से संभव है किसी और तरह से नहीं, तो देखे गए, अनुभूत किए गए सत्य का ही हिस्सा, माध्यम भी हो जाएगा, यह एक तरह की 'इंटीग्रिटी' की मांग करता है।

इस सन्दर्भ में 'इन्टीग्रिटी' खासा उम्दा लफ़्ज़ है

अ० वा : जहां सारा द्वैत खत्म होता है, गल जाता है; इसको हम मानें तो सामयिक लेखन में इस तरह की 'इन्टीग्रिटी' के चिह्न आपको कहां मिलते हैं ?

जब 'अभिप्राय' उस रूप में ठीक-ठीक अनुभूत कर लिया जाता है, जिसमें कि वह है; जहां 'फ़ॉर्म' में से अभिप्राय को अलगा पाना असम्भव हो जाता है तब उस एक कविता या चित्र में मुझे एक गहरी सम्पूर्णता का अनुभव होता है।··· जब कभी हम किसी मौलिक कलाकृति से साक्षात्कार करते हैं तो क्या यह महसूस नहीं होता···उस कलाकृति की अपरिहार्यता का; अपने दिक्-'स्पेस' के ही एक संस्करण के रूप में···। जैसे एक चट्टान, एक पहाड़ को देखकर हम यह नहीं पूछते कि यह चट्टान यहां क्यों है, यह पहाड़ यहां क्यों है। हम अचेतन रूप से ही उस पहाड़ का अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं, जहां वह है, इसी तरह कलाकृति भी है। मेरी समझ से एक कलाकृति जहां अपनी अनिवार्यता, अपने अस्तित्व की अपरिहार्यता उपलब्ध करती है, वहां तुम जिस 'इन्टीग्रिटी' की बात कर रहे हो, वह होती है; 'फ़ॉर्म' और 'विज़न' दोनों वहां अविभाज्य होते हैं ! वहां कलाकार, लेखक एक तरह से उस ईश्वर की मानिन्द हो जाता है, जो इसमें छिपा है, जो खुद 'ईश्वर' है; एक समग्र सत्य है; जब हम इस बात की परवाह नहीं करते कि इसे किसने बनाया, किसने रचा।···क्या यही उत्तर आधुनिकतावाद नहीं है ! आधुनिकतावाद में सर्जक के प्रति जागरूकता रहती है ···लेकिन क्या हम अब सर्जक और सृजित वस्तु के बीच के आपसी रिश्तों के बारे में शंकालु नहीं हो गए हैं ?

अ० वा० : हां, हम हो गए हैं ! इस तरह की एक 'इंटीग्रिटी' की खोज, जिसमें 'व्यक्ति' या 'आत्म' का आग्रह; उसकी प्रतिष्ठा, बहुत निर्णायक भूमिका अदा करती है। आधुनिकतावाद में जहां हम व्यक्ति के दावे का ज्यादा आग्रह रहा था वहां शायद अब उत्तर

आधुनिकतावाद में आग्रह इस 'इंटीग्रिटी' का होगा और जिस हद तक इस 'इंटीग्रिटी' को उपलब्ध किये जाने के लिए व्यक्ति के आग्रह की जरूरत है, उस हद तक तो ठीक है पर अपने आप में यह 'इंटीग्रिटी' जरूरी है।

ताकि कला में समग्रतः प्रोजेक्शन किया जा सके।

अ० वा० : इसकी दिलचस्प मिसाल शास्त्रीय संगीत, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय में है।

यह सबसे अच्छी मिसाल है'''उत्तर आधुनितावाद पूर्व पूंजीवादी आंगिकतावाद से खासा मिलता-जुलता है।

अ० वा० : संगीत में राग, स्वर संयोजन सब पूर्व निर्धारित है। वही राग भीमसेन जोशी गायेंगे, वही कुमार गंधर्व। राग धारणा वही है, हर हालत में, सिर्फ़ आलाप में फ़र्क़ हो सकता है'''लेकिन जो इंटीग्रिटी है, उसमें कुमार गंधर्व की आत्मप्रतिष्ठा, 'स्व' का आग्रह, एक प्रदत्त संरचना के रहते ही होता है और इसके रहते जो 'इंटीग्रिटी' उपलब्ध की जाती है वही अद्वितीय होती है।

मुझे कोई कविता विचारधारा की दृष्टि से बुरी नहीं लगती।

सत्येन कुमार : विचारधारा के बावजूद केदारनाथसिंह की कविताएं अच्छी लगती हैं।

शमशेरजी की कविताएं मैं पढ़ता हूं। उनमें न तो भ्रष्ट मार्क्सवाद है और न भ्रष्ट विचारधारा।

स० कु० : हां, उनमें ऐसा कुछ नहीं।

अ० वा० : साही ने एक बहुत अच्छा लेख शमशेर पर लिखा था।

कविता में जो मूल्यबोध है, वह कवि में, कविता में अगर उसकी रचनात्मकता से छेड़छाड़ किए बिना आ जाए तो फ़र्क़ क्या पड़ता है।'''कुंवर नारायण की बौद्धिकता हमेशा बोध बन जाती है। उन्होंने उस बोध की सफाई ली बिना उसके बोझ के। बोध का आतंक, उसका बोझ आता यदि वह सफाई कविता में नहीं होती।

अ० वा० : शमशेर में भी विचार की समग्र संश्लिष्टता बरकरार है और उसके बाद भी यह इतनी पारदर्शी है कि उसमें कोई रुकावट नहीं लगती। कुछ लोग आग्रह करते हैं कि वो खासे सम्प्रेषणशील हैं लेकिन हाल के वर्षों में, मुझे याद नहीं आता कि कोई कवि इतना विशिष्ट और साथ ही सम्प्रेषणशील हो।

इस तर्क पर कितने-कितने नाम लिए गए हैं : साधारण आदमी के कवि। आम आदमी के कवि !···कहां मिलते हैं ? कविता का अपना एक तर्क होता है। शमशेरजी ने मार्क्सवादी होते हुए भी कविता के उस तर्क की रक्षा की है, जो दूसरे कवि कभी नहीं कर पाये और फिर जैसा अशोकजी ने कहा शमशेर में एक पारदर्शिता भी है।

अ० वा० : एक बहुत महत्वपूर्ण मुद्दा जो शाह साहब ने सफलता से उठाया, वह संगति का है।

मुझे कई बार लगता है, कई कविताओं में कि आप अर्थ की तलाश कीजिए और आप पाएंगे कि यथार्थ का सिर्फ वर्णन किया जा रहा है।

अ० वा० : मुझे यह लगता है कि यथार्थ पर अपनी पकड़ के बारे में जिन्हें कुछ संदेह होता है, वो उसको कुछ ज्यादा ही दूसरों के लिए शायद उतना नहीं, जितना शायद अपने लिए, यह सिद्ध करने के लिए बहुत वर्णनात्मक हो जाते हैं ताकि यह लगे कि जो तथाकथित वस्तुगत यथार्थ है, उसमें उनकी जड़ें बहुत गहरी हैं; लेकिन यह दूसरों के मन में सिद्ध नहीं हो पाता। और सच पूछिए तो उस सबको, यथार्थ के सन्दर्भ में, इन वर्णनों की जरूरत नहीं है, क्योंकि वे अर्थ को घना नहीं करते; कोई योगदान उनका नहीं होता। जैसे मणि मधुकर वगैरह ढेर के ढेर लगाते जाते हैं : प्रतीकों का, चीजों का ! वाल्ट ह्विटमैन में भी यह बात है लेकिन उनके यहां चीजों को नाम देने का अर्थ उन्हें जीवन देना था—उन्हें स्पन्दित करना था। वहां वे साक्षात् हो जाती हैं क्योंकि वाल्ट ह्विटमैन का यह विश्वास था कि ऐसा करने से वे चीजों को घटित करते हैं।

···मुझे लगता है कि मसलन् कुछ पूर्वी योरोपीय देशों में तकलीफ़ का, यातना का एक ऐसा रूप या भाव है जो असह्य हो जाता है···। वो आपके ऊपर लगातार एक ही तर्क थोपते जाते हैं, जिन्दगी का एक ही रूप, एक ही कोण।···हमें यह छोटा-आसान

रास्ता छोड़ना होगा क्योंकि यह तकलीफ़ का, यातना का जो भाव है वह एक तरह से पूर्णता को हमारी दृष्टि को सीमित करता है।

मैं तुम्हारी प्रतिक्रिया का औचित्य बखूबी समझ सकता हूं। मुझमे भी ऐसी प्रतिक्रिया हुई थी। मैंने पाया कि यह असह्य है; यातना-बोध का वही जमाव!...

अ० वा० : नहीं; पर मुझे एक बात यह भी लगती है कई बार कि शायद हर सदी अपनी यातना को पहले की यातना से ज्यादा भयानक मानती है और उसे लगता भी है, क्योंकि सवाल सिर्फ़ यातना का ही नहीं है बल्कि उस यातना से गुजरने के बाद तैयार हुई कल्पना की संरचना का भी है, जो उससे जन्म लेती है।

जो कि एक बड़ी सीमा तक अस्तित्ववादी है। मैं यातना की संरचना या उसकी मानवीय व्याप्ति की बात नही कर रहा था। वह तो थी। उसे झेलने का माद्दा। उसका सामना करने की हिम्मत। साहस। यह एक ऐसी चीज है जो पूरी तरह से और निश्चित रूप से अभूतपूर्व है। और सोचिए, साठ लाख यहूदी गैस चैम्बर्स मे खत्म कर दिए गए।...हिरोशिमा के फ़ेनामेना से अधिक भयावह और संगीन, 'लेबर कैम्प्स', और गैस चैम्बर्स का फ़ैनामेना है। जो यातना की एक धारणा से जुड़ा है।...अब हुआ यह कि उस अनुभव से एक दर्शन पैदा हुआ। एक अवधारणा विकसित हुई। एक अवधारणा भी बोध के घेरे मे आ सकती है लेकिन क्या एक कविता उस अवधारणा की बुनियाद पर लिखी जा सकती है? अस्तित्ववादी या अध्यात्मवादी, या भौतिक या तात्विक अनुभवों पर कविताएं लिखी जरूर गयी हैं।

अ० वा० : डॉरिस लेसिंग ने हिरोशिमा पर बम गिराने के संदर्भ में लोगों की ज़िम्मेदारी से बचने या उससे पूरी तरह मुक्त होने की भावना का ज़िक्र किया है। तर्क यह है कि पायलट तो अपनी 'कमान' के आदेश का पालन कर रहा था, कमान, मंत्रिमंडल के निर्णय का, मंत्रिमंडल के निर्णय को संसद का समर्थन प्राप्त था, संसद जन प्रतिनिधियो से बनी थी...लेकिन जनता में ऐसा कौन था जिसने कहा हो कि हिरोशिमा पर बम गिरा दो!

वही वकील-सी की भूमिका है; जिसका काम ही है उत्तरदायित्व को कम से कमतर करते जाना और उसके क्षेत्रों को बदलते जाना। आईखमान ने यही कहा कि मैं उत्तरदायी नहीं था, मैं तो उस समूची व्यवस्था मे एक नाचीज़

हस्ती था। याने कोई उत्तरदायी नहीं है।...संभवतः इसीलिए युद्ध के बाद संसार में नैतिकता के प्रश्न फिर से खड़े हो गए।...एक दिन किसी दोस्त से बात कर रहा था—तुम जो शब्दों का इस्तेमाल करती हो: मसलन् 'सामूहिक' शब्द है, 'प्रामाणिकता' है तो ये शब्द लेखों में 'उपभोक्ता वस्तु' क्यों बन जाते हैं; क्योंकि यह मेहनत बचाने का तरीका है।...इन शब्दों का खासा, नितांत, निजी, व्यक्तिगत संदर्भ भी हो सकता है, एक उसका 'मौलिक क्षेत्र' है, मौलिक भावनाओं से बना क्षेत्र, जो इनके पीछे है।...अब सामूहिक शब्द, आज, खासा राजनीतिक है और शायद सबसे ज्यादा बेदखल। इस शब्द के नाम पर हर तरह का प्रचार और अन्याय हो रहा है लेकिन इनकी बुनियादी भावना क्या थी? वह भावना ही सबसे महत्वपूर्ण है।...मुझे नहीं लगता कि 'प्रामाणिकता' की प्रकृति को गहरायी में जाकर कभी विश्लेषित किया गया हो, 'कर्म' के प्रसंग में। कोई व्यक्ति खासी प्रगतिशील भावनाओं का हो सकता है; लेकिन उनकी 'प्रामाणिकता' आप कहां पाएंगे?...तो मैं कह रहा था कि आज १९७८ में जो लेखक या आलोचक लिख रहा है उसे इस समूची बीसवीं सदी की पिटी-पिटायी उक्तियों की लड़ाई को समझना होगा, जिसने पिछले सत्तर सालों में काफी कुछ हताहत किया है।

अ० वा० : इधर कुछ प्रतिक्रिया में, कुछ शायद उत्साह में, कुछ बदलती फज़ां में, एक खास तरह की पहचान बनाने की कोशिश हो रही है: भारतीय आलोचना के मुहरों के पुनरराजनीतिकरण की। हिन्दी में यह मुहावरा काफ़ी व्यापक हो गया है। मसलन् श्रीकांत वर्मा की कविता के खिलाफ आप कुछ कहना चाहते हैं तो बूर्जुआ-वगैरह इसी तरह के दस बारह शब्द चस्पां कर दो! यह हो सकता है कि श्रीकांत की कविता की जो कमजोरियां हैं; आप उन्हें पकड़ें, बताएं; लेकिन जो प्रयत्न होते हैं वे इतने धुंध भरे लगते हैं कि उनका हमला तुरन्त एक तयशुदा हमला लगता है। मैं सहमत हूं, मैं इसका समर्थन भी करता हूं कि कमजोरियों पर हमला हो लेकिन पहले उन्हें आप परिभाषित तो करें; बिना उसके वह हमला भी 'बेचारा' हो जाता है।

यह बहुत खतरनाक है। चाहे वह बूर्जुआ कविता ही हो लेकिन उसकी तलाश, अर्थ की तलाश तो हो।...

अ० वा० : आलोचना का काम फैसला देना नहीं है। वह कुछ फैसलों पर पहुंचती जरूर है; लेकिन उसका काम तो किसी एक

कृति में जो हो रहा है, उसका बखान करना है, उसको बताना है, उसको खोजना है, उसके आपस में जो संबंध हैं, उनको उजागर करना है। ऐसा करते हुए उसके अपने पूर्वग्रह होंगे, जो उनके औजार होंगे, जिनसे वो उस अंधेरे को टटोलेगी जो कि एक रचना में छाया होगा। यह सब होगा लेकिन किसी भी आलोचक के पास हम इसलिए तो नहीं जाते कि वो इसके-उसके बारे मे निर्णय दे। हम इसलिए जाते हैं कि वो हमें कृति के बारे में बताए, उनके बारे में उत्साह के उद्‌भव को बताए। हो सकता है कि उसके फैसले गलत हों लेकिन यदि उसने वह प्रक्रिया पूरी की है, जो एक रचना से जूझते हुए, उसको सुलझाते हुए होनी चाहिए तो कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि उसके नतीजे गलत हों क्योंकि बुनियादी चीज नतीजे नहीं हैं, बुनियादी चीज वो उलझाव हैं जिनसे वो गुजरता है··· और यह कम होता जा रहा है हिन्दी में आजकल···। लगभग ख़तम ही हो गया है।

भगवत रावत : जिस एकाकीपन की बात हम कर रहे थे, उस एकाकीपन के उदाहरण खुद निर्मलजी हैं···मगर इसके बावजूद कृष्ण बलदेव वैद, या कृष्णा सोबती या निर्मलजी को अलग तो नहीं किया जा सका···

स० कु० : लेकिन भगवत, एक बात सच है कि वो एक संगठित क्षेत्र है; साहित्य का संगठित क्षेत्र, जहां वे तीनों लोग हैं, वहां 'मिसफिट' है।

भ० रा० : हां, यह सच है।

स० कु० : आप किसी भी औपचारिक गोष्ठी को ले लीजिए, उन्हीं सबकी बातें होंगी।···लेकिन उससे कोई बहुत फ़र्क भी नहीं पड़ता।

भ० रा० : मुझे याद है, सन् १९६० में यहां एक साहित्य सम्मेलन हुआ था उसमें नामवरजी भी थे···

तुम क्या यह कहना चाहते हो कि कृष्ण बल्देव वैद ने नयी पीढ़ी की कहानियों को प्रेरित किया है···

भ० रा० : हां, जितनी भी उनकी कहानियां हैं उन्होंने बाकायदा लोगों को उत्तेजित किया है और इसमें कोई शक नहीं कि अपनी

तरह से उनकी एक पहचान भी बनी है। मेरा कहना यह है कि जिस तरह से कुछ लोग समकालीन साहित्य के केन्द्र में बने रहना चाहते हैं लगातार चर्चा में; तो नयी पीढ़ी की कहानी के उस दौर में उन्हीं तीनों—राकेश-यादव-कमलेश्वर को छोड़कर और किस चौथे की चर्चा हुई ? अमरकांत का उदाहरण लें।

रमेशचन्द्र शाह : मैं तो यह कहना चाहता हूं कि इस वक्त जो अच्छा लिखने वाले हैं, इस वक्त के लेखन में अपनी पहचान बनाने वाले लोग हैं, जिनके लेखन से लोग उत्तेजित होते हैं, यह असंभव है कि अलगाव के बावजूद उस अलगाव को भले ये खुद ही चुनें मगर इसके बावजूद उनकी आवाज़ सुनी जाती है।...मैं कहना यह चाहता हूं कि मुझे अभी तक कृष्ण बल्देव वैद के पिछले दस बरसों के लेखन के बारे में एक भी संवेदनशील या मेधावी आलोचना पढ़ने को नहीं मिली। उनका एक इतना बड़ा प्रायोगिक किस्म का उपन्यास निकल गया, बहुत ही नये किस्म का : 'एक था विमल', मैंने उसकी एक भी रिव्यू नहीं पढ़ी।...एक लेखक के साथ आप संबंध दो तरह से तय करते हैं : या तो पूरी तरह से आप 'भिड़' ही जाइए, लेकिन उसमें कुछ तो प्रेरणा होनी चाहिए; उस पर भले प्रहार कीजिए, मगर उसके लेखन पर प्रतिक्रिया तो कीजिए।

अ० वा० . कहानियों के बारे में क्या कहना है आपका ?

र० शाह : कहानियों की ही बात कह रहा हूं, कितने अर्से से कितनी कहानियां लिखी हैं वैद ने; लगातार 'कल्पना' में भी। ...वैसे कोई अंतर्विरोध नहीं है, तुम दोनों की बातों में।

मगर आलोचना की गैरमौजूदगी, समझदार आलोचना की अनुपस्थिति, कृष्ण बल्देव वैद को पाठकों द्वारा पसंद किए जाने में कोई रुकावट नहीं है बल्कि वो उससे निस्पृह भी हैं; गो कि लोकप्रिय वो चाहे उतने न हों।

अ० वा० : 'धर्मयुग' में भारतीजी ने एक स्तम्भ चलाया था, उसमें आपने भी लिखा था। आपका जो वक्तव्य उसमें आया था—कहानी के बारे में, उससे बहुत लोग चौंके थे, आपने शायद कहानी की मृत्यु की कोई बात की थी। केवल उस वक्तव्य को छोड़कर याद नहीं आता कि आपने कभी अपनी कहानियों के बारे में कोई बात की हो लेकिन इसके विपरीत वो तीन लेखक बाकायदा सुनियोजित ढंग से प्रचार करते, करवाते रहे : इसके बावजूद निर्मलजी कहां

अकेले रह गए ? बात यह है, शाह साहब, कि यह भली भांति जानते हुए कि इतना शोर, इतना हल्ला इन तीन लोगों का रहा है; दूसरे तमाम लोग हैं, जो साहित्य से संबंधित हैं, जो महज पाठक हैं, वे महसूस करते हैं कि निर्मलजी की कहानियां अपनी जगह किस तरह की ख़ास कहानियां हैं; चाहे उनके बारे में बहुत लिखा न गया हो। कृष्णा सोबती के बारे में भी यही स्थिति है। कृष्ण बलदेव वैद के लेखन से भी लोग उत्तेजित तो हुए ही हैं, तो इससे यह कहां सिद्ध होता है कि चर्चा न होने से आपका महत्व कम हो जाता है।

स० कु० : अगर यह सब हुआ हो उसके कुछ दूसरे कारण भी हैं।

भ० रा० : उल्टे मैं तो यह कह रहा हूं कि एक तरह की आक्रामक आलोचना उन पर जिन दिनों चली थी, वे चर्चा का विषय जरूर रहे होंगे, लेकिन उनकी वास्तविक उपस्थिति इस वक्त महसूस की जा रही है।···मेरे जैसे लोग, मुझसे भी युवा लोग, जो तथाकथित प्रगतिशील हैं या मार्क्सवादी हैं वे भी इस बात से इन्कार नहीं कर सकते और आज महसूस करते हैं वात्स्यायन के योगदान को भी !

स० कु० : ये तो खैर सोचा भी नहीं जा सकता कि कोई भी युवा कवि या कहानीकार अज्ञेय को पढ़े बिना काम चला सकता है। मेरा ख़्याल है, उनकी अपनी जगह है और महत्वपूर्ण भी।

वात्स्यायन जी का जो असुरक्षा का भय है, कभी समझ मे नही आया क्योकि मैंने उसे कभी महसूस नही किया। मुझे वात्स्यायन का यह जो सार्वजनिक असुरक्षा भाव है, कभी समझ में नहीं आता।

स० कु० : मैं समझता हूं कि आप सब इस बात से सहमत होंगे कि यह भाव है।

अ० वा० : मैं सहमत हूं कि उनमें असुरक्षा की यह भावना है और यह भी कि वह बहुत दयनीय है। अगर वो कहते हैं कि वो एक संपादकीय लिखते हैं और उनको भरोसा नहीं है कि जैसा उन्होंने लिखा है वैसा ही छपेगा तो मैं नहीं जानता कि इसकी ज़रूरत क्या है ! उसमें भय की बात क्या है ? वात्स्यायन जी को इतना पैसा तो मिल ही जाता होगा अपनी किताबों से कि वो शान से रह सकें।

…लेकिन मैं अनुभव करता हूं कि हिंदी में जो आलोचना का अभाव है, उससे बहुत अस्वाभाविक, खीझ भरे तनाव, विकृत तनाव पैदा होते हैं…*अगर किसी* ने 'नदी के द्वीप' की सही रिव्यू लिखी होती,…एक लंबा लेख कभी अमृतराय ने लिखा था, प्रगतिशील दृष्टिकोण से। खासी प्रगतिशील मूर्खता भरा।… मैं व्यक्तिगत अपनी बात नही कर रहा; क्योंकि हम तो अपने समय के लेखन की स्थिति पर बात कर रहे हैं, आप भरोसा करें एक वक्त था जब मुझे खुशी होती थी—अच्छा रिव्यू पढ़ कर। अब जब मैं पाता हूं कि उसने प्रशंसा तो की है लेकिन समझा नही है तो मुझे बहुत ही उलझन होती है।

भ० रा० : वो तो समग्र आलोचना का हाल है।

बात आलोचनात्मक रवैये की भी है। नायपाल ने जब एक पुस्तक लिखी थी भारतीयों और उनकी संस्कृति के बारे मे, तो हिंदी लेखकों ने एक छद्म देश-भक्ति के भाव से उस पर आक्रमण किए लेकिन एक भी लेख या एक भी किताब, उनकी उस पुस्तक की प्रतिक्रिया में हमारे यहां नही आयी।…मेरा कहना ये था कि शायद हम उसे अपने संदर्भ में बहुत ही अप्रासंगिक पाते हैं, *लेकिन यह थोथा तर्क था, क्योंकि मेरे ख़याल से हमारी उदासीनता भी हमारे* आलोचनात्मक लेखन में प्रकट होनी चाहिए।

र० शाह : निर्मल जी, मेरा ख्याल है कि जो आलोचना लिखी गयी और आपके पाठकों का जो 'एप्रीसियेशन' है; उनमें कोई तुलना, तालमेल बहुत मुश्किल है।

भ० रा० : मैं तमाम उन लोगों को जानता हूं जो कहानियों पर लिखते रहे हैं और जाने क्या-क्या लिखते रहे हैं, मसलन् मैं आपको बताऊं कि सन् '६० में शरद जोशी ने एक निबन्ध पढ़ा था एक सम्मेलन में, नामवरजी उसमें थे। उन्होंने निर्मलजी की कहानियों पर बहुत ही 'डैमेजिंग' निबन्ध लिखा था, बहुत ही फूहड़ किस्म का; उसमें तर्क यह था कि लक्ष्मीनारायण लाल की तरह निर्मल भी आंचलिक हैं. लाल, भाभी को भौजी कह कर आंचलिक हैं; तो निर्मल बरामदे को कॉरीडोर कह कर! यह बहुत फूहड़ बात थी।

अ० वा० : मै नहीं समझता कि वह आलोचना थी, वह तो बेहद जलील किस्म का आक्रमण था।

भ० रा० : यही तो मै कह रहा हूं कि निजी व्यक्तिगत संबंधों के आधार पर जो आलोचना लिखी गयी, खास तौर पर गद्य के बारे

में, उसकी हालत लगभग यही है। कविता के बारे में थोड़ी बहुत ईमानदारी जरूर दिखाई देती है लेकिन गद्य के प्रसंग में तो लगभग यही है।

जब मैंने 'परती परिकथा' पर पहली बार एक आलोचना सुनी तो मुझे वह बहुत बुरी लगी। श्रीपतराय ने कहा कि यह उपन्यास है ही नहीं; उसमे उपन्यास का कोई 'क्रम' नही है; उसे सभी पारंपरिक मानदंडों से आका गया। उन्होंने उसकी तुलना यशपाल से की, बहुत ही परंपरावादी लहजे में।

अ० वा० : उनके लिए यह सोच सकना भी लगभग असंभव है कि कोई उपन्यास का पारम्परिक ढांचा भी बदल सकता है, उसे अलग तरह से लिख सकता है।

भ० रा० : मैं आपको बताऊं शाह साहब; आपका उपन्यास छपा। उसे छपे हुए मेरे ख्याल से, दो-तीन माह हो गये हैं। मैंने उसे अपने पढ़ने के लिए खरीदा। कालेज ले गया। मैं अभी तक उसके दस पन्ने भी नहीं पढ़ पाया लेकिन वो उपन्यास अब तक पांच आदमियों ने पढ़ लिया है और वो अब तक मेरे पास नहीं लौटा है।…तो मैं पूछता हूं कि क्या आप हिन्दी की उस कचरा आलोचना की परवाह करेंगे ? आप हर समय 'इज्म्स' की, 'वादों' की बात कैसे करते रह सकते हैं ?

अ० वा० : यह कह कर आपने उनके उपन्यास को जमा दिया तो शाह साहब भी थोड़ा नरम पड़ गये हैं।

र० शाह : नहीं, नरम पड़ जाने की बात नहीं है। मैं सिर्फ़ यह बात कह रहा हूं…

यह बात सही है कि किसी अंत.प्रेरणा से ही सही हिंदी पाठकों ने हमेशा सर्वश्रेष्ठ लेखकों को ही अपनाया है। निराला की कितनी आलोचना हुई लेकिन पंत की तुलना में हमने निराला को ही चुना।

अ० वा० : 'सीधी शिविर' में काशीनाथसिंह और धूमिल ने आलोचना पर जोरों से आक्रमण शुरू किया। हमने कहा कि भई, मान लिया कि जो आप कह रहे हैं वह सही है लेकिन अगर किसी भी समय के महत्वपूर्ण रचनाकार के बारे में सामान्य सहमति हो गयी तो यह भी महत्वपूर्ण है।

लेकिन, हिंदी कविता के प्रसंग में वह अच्छी आलोचना के अभाव के बावजूद भी तो हो सकता है।

स० कु० : मैं कह रहा था कि आलोचना, अन्ततः पाठकों को भ्रष्ट नहीं कर सकती। प्रेमचन्द की, मुझे नहीं मालूम, उस ज़माने में कैसी आलोचना हुई थी!

अ० वा० : मेरा कहना यह है कि यह स्थिति भी अपने आप में सर्जक रचनाकार को स्थापित करने के लिए पर्याप्त नहीं है।

र० शाह . प्रेमचन्द पर कोई रचनात्मक आलोचना लिखी गयी है, इसका मुझे प्रमाण बताइए। उस ज़माने में नन्ददुलारे वाजपेयी ने ज़रूर उन पर लिखा···

अ० वा० : नन्ददुलारे वाजपेयी को छोड़िए; रामचन्द्र शुक्ल तो थे, वो तो कविता भी लिखते थे···

प्रेमचंद को नकलची कहा गया, उन्हें दूसरे दर्जे का बताया गया।

स० कु० : और यह इल्ज़ाम उन पर तब लगा जब उन्होंने, जो नाटक हैं न, उसका अनुवाद ही किया था!

भ० रा० : भई, बहुत सीधी-सी बात यह क्यों नहीं देखते कि मुक्तिबोध की मृत्यु के पहले तक उनके ऊपर कुछ भी नहीं लिखा गया। लेकिन लोग उन्हें महत्वपूर्ण कवि मानते थे।

अ० वा० : निराला से ज्यादा पंत पर और प्रसाद से ज्यादा महादेवी पर लिखा गया।

भ० रा० : और मुक्तिबोध की मृत्यु के बाद भी जो आलोचना लिखी गयी, उसमें से अधिकांश बकवास है।

र० शाह : हम लोगों को छोड़ कर।

शायद लोग आलोचना को बुरी चीज ही समझते है।

भ० रा० : मतलब यह कि कुल मिला कर आलोचना की स्थिति बहुत गम्भीर है और रमेशचन्द्र शाह और अशोक वाजपेयी जो कि अपने एकाकीपन में···

मुझे यह लगता है कि हिंदी में हमारे पास तीन ही आलोचक हैं।···अभी 'सारिका' में उन्होने मेरा 'इंटरव्यू' लिया था। उन्होने पूछा, कौन-कौन से

आलोचक हैं। मैंने नाम नहीं लिए। बाद में मैंने सोचा कि अगर मैं नाम भी लेता तो इन तीन के अलावा कौन हैं ? अशोक, शाह और मलयज।

स० कु० : कितना अजीब इत्तफ़ाक़ है; मुझे एक बात, बेसाख्ता याद आ रही है। मैंने पहली कहानी यहां के युवा लेखन समारोह में पढ़ी। धनंजय वर्मा उसमें थे। उन्होंने कहा कि इसमें निर्मल की अनुगूंज है।'''उस ज़माने में, वो रवायत बन गयी थी, आज भी किसी हद तक है, आलोचना में, कि आप यह बताएं कि कौन किसकी नकल कर रहा है।'''

भ० रा० : हमारे एक दोस्त हैं : अरुणकुमार जैन। साहित्य से उनको कुछ लेना-देना नहीं; शुद्ध व्यापार करते हैं। जब उन्होने पहली बार निर्मलजी की 'लंदन की एक रात' पढ़ी तो वे पागल हो उठे। यह थी एक शुद्ध पाठक की प्रतिक्रिया। लेकिन वो तीनों लोग जो अपना प्रचार करते-करवाते हैं, बाकायदा कहानियां लिखते हैं'''

अ० वा० : याने क्या बिना कायदे की कहानियां लिखी जानी चाहिए ?'''बड़ी मजेदार बात यह है कि जिन लोगों का साहित्य से उस तरह का कोई सरोकार नहीं है, उन्हीं के भरोसे, उन्हीं की कल्पनाओं में हम जी रहे हैं और वही हमारे सरवश हैं।

भ० रा० : मेरी पत्नी हाई स्कूल पास हैं। कुछ दिनों पहले उन पर कहानियां पढ़ने का भूत सवार था। खूब पढ़ीं। आपकी भी। अब तो कहानियां पढ़ते हुए डर लगता है कि उन्हें पूरा पढ़ पाएंगे या नहीं।

अ० वा० : हम तो इसीलिए पढ़ते ही नहीं। जब कोई कहता है अच्छी कहानी आयी है, दो-चार लोग कह देते हैं पढ़ लो भाई, तो पढ़ लेते हैं अन्यथा मैं तो पढ़ता ही नहीं। असम्भव हो गया है।

इसमें हिन्दी आलोचकों की एक सूक्ष्म भूमिका है।

अ० वा० : कविता में तो यह है कि ३-४ लाइन पढ़िए, आपको पता चल जाएगा कैसी है। कहानी का हाल यह है कि आप तीन चौथाई पढ़ जाइए, तब आपको मालूम होगा कि खराब है और तब तक आप अपने ३०-४० मिनट खराब कर चुके होंगे।

र० शाह : निर्मलजी, आपने अपने उपन्यास के स्वरूप वाले लेख में कुछ बातें उठायी हैं : भारतीय समय और भारतीय उपन्यास

की। उसमें कविता के बारे में तो आपने यह लिखा है कि उसमें पूरी तरह से एक रचनात्मक स्वतंत्रता को उपलब्ध कर लिया गया और बाद में उसकी एक आलोचना भी विकसित हो गयी लेकिन उपन्यास में ऐसा नहीं हुआ। यह भी कि कविता खुद अपने-आप में भी आत्म-आलोचनात्मक हो गयी याने नयी ज़मीन तोड़ने के लिए जो मानदण्ड आपने कविता के बारे में तय किया वह उसकी 'वल्नरबिलिटी' है जो एक रचनात्मक ऊर्जा उत्पन्न करती है। उपन्यास के प्रसंग में आपने 'फ़ॉर्म' का सवाल उठाया है कि यहां कुछ नया इसलिए नहीं हो सका कि हमने उपन्यास का ढांचा पश्चिम से ज्यों का त्यों उठा लिया, जो औद्योगिक क्रांति और वहां की अपनी परिस्थितियों की उपज था। कविता में जब आप किसी स्वायत्तता की तलाश करते हैं तो एक आत्मालोचना आती है, उसके अपने मानदंड होते हैं। अगर वही मानदण्ड आप गद्य में और उपन्यास में भी लागू करते तो इसी तर्क से क्या इस बात पर नहीं पहुंचा जा सकता कि उपन्यास के 'फ़ॉर्म' को ही बदलना चाहिए। जब कविता में आत्मालोचना विकसित हुई तो कविता का फ़ॉर्म भी बदला; उसने आपको संतुष्ट किया। हमने पाया कि यह सच्चा 'ब्रेक थ्रू' सही 'डिपार्चर' था। गद्य वह नहीं कर सका। लेकिन गद्य में भी क्या उसी मानदंड से वही स्वतंत्रता आ सकती थी। गद्य की मुक्ति भी उसी तरह से नहीं हो सकती थी। आपके उसी तर्क से गद्य और खास तौर पर उपन्यास में मुक्तिदायी खोज तभी सभव थी जबकि वह उसी स्तर और उसी पैमाने पर होती; जैसे कि कविता में हुई; और तब उपन्यास का फ़ॉर्म बदल सकता था।

यह सही मुद्दा है, इस तर्क मे एक सगति भी है।

र० शाह : उसके तुरन्त बाद आपने उपन्यास की बात उठायी है। आपकी छटपटाहट उसमें है। लेकिन जैसे ही आपने अगला पैराग्राफ लिखा तो वहां उसमें वो कोण नहीं है, आत्मालोचना का, उपन्यास के सन्दर्भ में।

बहुत ठीक।

र० शाह : मेरे दिमाग में एक ख्याल पैदा हुआ कि उन्नीसवीं सदी मे, रूसी कथा साहित्य में, दास्तावस्की ने जब लिखना शुरू किया तो उन्होंने अपने आपको पूरी तौर पर 'डिकेन्स' पर आधारित

किया, बल्कि उसी से पूरा ढांचा उठा लिया- सशरीर। उसने तो यहां तक स्वीकार किया है कि अगर 'डिकेन्स' नहीं होता तो वो लिख नहीं पाता, कि उसके लिए अपने आप को भी खोज पाना सम्भव नहीं होता, हालांकि वो स्थितियां रूस की नहीं थीं; रूसी संवेदना और यूरोपियन संवेदना में बहुत ज्यादा फ़र्क़ भी है; लेकिन फिर भी उन्होंने उपन्यास के माध्यम को उपलब्ध करने के लिए, खोजने के लिए, ऐसा नहीं कि फ़ॉर्म को तोड़ा हो, या एक बिल्कुल कोई नया फ़ॉर्म ईजाद कर लिया हो। वे उसी ढंग से लिखते रहे जिस प्रकार डिकेन्स। उनका डिकेन्सोनियन उपन्यास का ढांचा तो वही है लेकिन यहां आत्मालोचना जो है, वही असल में उसको यूरोपियन *उपन्यास से अलग करती है जिसका आपने कविता के संदर्भ में ज़िक्र* किया है, कि हिन्दी कविता पश्चिमी संवेदना की गिरफ़्त से कैसे मुक्त हुई।

यहां एक साथ दो चीज़ें हैं : एक तो मैंने अपने लेख में 'विधा' और 'फ़ॉर्म' के बीच एक अंतर किया है। तो यह सही है कि दास्तावस्की ने 'बखान' का तरीका डिकेन्स से ज़रूर लिया लेकिन जिस फ़ॉर्म में दास्तावस्की ने लिखा, वह, रूसी उपन्यास का वह, फ़ॉर्म अलग है। ''शैली ले लेना एक बात है, उसे अपनी देशज अनिवार्यताओं के भीतर बिल्कुल बदल लेना दूसरी बात है। मुझे लगता है कि *हमने 'विधा' के साथ ही फ़ॉर्म को भी ज्यों का त्यों अपने उपन्यास निर्माण* में अपना लिया है। मेरे दिमाग़ में सारी परंपरा है : मसलन् उन्नीसवीं सदी का रूसी उपन्यास, जहां उन्होंने ऐसी कोई ज़रूरत महसूस नहीं की और कोई सजग प्रयास ऐसा नहीं किया।

र० शाह : लेकिन कहानी का प्रसंग लें तो यूरोपियन 'शार्ट स्टोरी' और हिन्दी कहानी में ऐसा कोई रिश्ता नहीं लगता। हिन्दी कहानी एक देशज, एक बहुत ही अपने क़िस्म की लिखी गयी। एक तरह से यह एक आश्चर्यजनक चीज़ थी यह यूरोपियन कहानी की गरीब बिरादर नहीं लगती लेकिन क्या आपके कहने का मतलब है कि प्रेमचन्द का उपन्यास यदि अंग्रेजी में अनूदित हो तो क्या यह महसूस होगा कि 'विधा' और 'फ़ॉर्म' के रूप में वह यूरोपीय लगेगा या यूरोपियन उपन्यास से ज्यादा अन्तर मालूम नहीं होगा पी० लाल के अनुवाद की बात ही नहीं यदि उसका साहित्यिक अंग्रेजी अनुवाद हो तो क्या उस पर भी वही बात लागू होगी जो आम तौर पर अंग्रेजी के भारतीय लेखन पर होती है : मसलन् राजाराव

पर। क्या 'गोदान' में भारतीय संवेदना, यूरोपीय फ़ॉर्म के बावजूद हमारी पुरातन संवेदना नहीं है : 'फ़ॉर्म' के रूप में उसकी सीमाएं हो सकती हैं। यों तो सभी फ़ॉर्म, चाहे वो कहानी के हों या उपन्यास के, यूरोपीय साहित्य के संदर्भ में ही आधुनिक भारतीय साहित्य में विकसित हुए। मै यह मुद्दा इसलिए उठा रहा हूं कि आपकी जो 'थीसिस' है यह बहुत आकर्षित करती है, मुझे लगता है कि वह कहीं बहुत गहरी बात है; सवाल भी वाजिब है। मैं उसके तर्क को समझना चाहता हूं। जैसे 'लाल टीन की छत' में कई ऐसे अध्याय हैं, उन्हें कोई यूरोपीय लेखक उसी थीम को लेकर लिखे तो शायद ऐसा नहीं लगेगा। उसमें बदलाव आता ही है। फिर ज्यादा परिष्कृत, ज्यादा यूरोपीय ढंग का कथा साहित्य जिन्होंने लिखा है, जिनको तकनीकी लिहाज से, रूपवादी लिहाज से ज्यादा नया कहें; जिन्होंने फ़ॉर्म के अन्वेषण के प्रति ज्यादा सजगता अपनायी है; मसलन् अज्ञेय, जिनमें फ़ॉर्म की नयी चेतना और एक विस्फोटक नयापन है तो क्या उनके संदर्भ में भी यह प्रश्न आना चाहिए…कि प्रेमचन्द ने तब जातीय फ़ॉर्म का अन्वेषण क्यों नहीं किया…और अगर वात्स्यायन इस प्रसंग में किसी हद तक असफल कहे जाएं तो प्रेमचन्द को सफल कहा जाना चाहिए क्योंकि अपनी जातीयता से वो ज्यादा जुड़े हुए हैं, मसलन् 'गोदान' में एक बिल्कुल 'मिथकीय मार्मिकता' आ जाती है जो उस तरह से अज्ञेय नहीं कर सकते थे। ज्यादा 'इन्साइडर' की हैसियत तो प्रेमचन्द की ही है; अज्ञेय की निस्बत।

सवाल यही है कि प्रेमचन्द कहां तक 'इन्साइडर' हैं ? वो शहर मे रहते थे, उन्होने किसानों को वैसे ही देखा-परखा है। मुझे यह बताइए कि क्या आप प्रेमचन्द को 'इन्साइडर' कहेगे ? अगर आप सचमुच इस परिभाषा पर जोर दे रहे हैं कि ये 'आउटसाइडर' हैं, वो 'इन्साइडर' हैं…

रा० शाह : जिस मायने में अज्ञेय को, उनकी संवेदना को उभारा जाता है और फिर दावा किया जाता है कि आउटसाइडर ही ऐसा बहुत कुछ दे सकता है जो इन्साइडर को नहीं दिखाई देता; तो उस अर्थ में प्रेमचन्द भीतर के ज्यादा करीब हैं।

जहां तक उपन्यास के संघटन का सवाल है मुझे प्रेमचन्द या अज्ञेय में कोई खास फ़र्क नहीं लगता। अगर कोई व्यक्ति मध्यवर्ग के अलगाव के बारे में लिखता

है तो इससे वो आउटसाइडर नही हो जाता और अगर कोई लेखक प्रेमचन्द की तरह किसान जीवन के बारे मे लिखता है तो वह इन्साइडर नही हो जाता क्योंकि जो विषयवस्तु वह चुनता है वह काफ़ी हद तक स्थिति पर निर्भर है। लेकिन मै नही सोचता कि वात्स्यायनजी उपन्यास विधा के बारे मे प्रेमचन्दजी से ज्यादा सजग रहे है। यह मुझे विश्वास नही होता।

र० शाह : लेकिन आप शायद यह मानेंगे कि उनकी कविता, में यह आत्म-सजगता निहित है तो उपन्यास में क्या नहीं होगी ? क्योंकि सर्जक मनीषा तो एक ही है।

कविता में जिस संवेदना की प्रतिक्रिया मे उन्होने लिखा वो बहुत साफ थी। उनके सामने वह अंतराल और पूरी परंपरा थी—छायावादी कविता की; जबकि गद्य में इस तरह की कोई परम्परा हिन्दी मे नही थी। आपका प्रश्न बिल्कुल ठीक होने के बावजूद अपने अतीत से संबंध भी रखता है। जब तार-सप्तक' की कविताएं छपी थी, तो वह सन् '२० के बाद लिखी तमाम कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया कर रही थी। अपने मे वो प्रतिक्रिया कहां तक प्रासंगिक थी, या सफल हुई यह दूसरी बात है; लेकिन गद्य मे वात्स्यायन जी जो लिख रहे थे वो निश्चित रूप से उनका अपना समय था, जिसने एक खास किस्म के फ़ॉर्म को जरूरी बनाया।

अ० वा० : वात्स्यायनजी के लिए याने कथालेखक की हैसियत से वात्स्यायनजी के लिए, प्रेमचन्द का लिखा हुआ, क्या एक तरह का 'अतीत' नहीं कहलाएगा ?

क्या वह एक चुनौती थी ? मसलन् उन्होंने छायावादी कविता को एक चुनौती दी : 'तार सप्तक' के कवियों ने भी। मैं यह जानना चाहूंगा, आपसे रोशनी इस मामले में कि क्या वात्स्यायनजी ने जैनेन्द्र के गद्य को किसी तरह की चुनौती माना या कि प्रेमचन्द को ही···अपने शिल्प में ? आखिर छायावाद के प्रति प्रतिक्रिया केवल वस्तुगत ही तो नहीं थी; वहां तो पूरी संरचना ही बदल गयी कविता की। क्या वात्स्यायन जी ने प्रेमचन्द द्वारा विकसित औपन्यासिक संरचना के प्रति सजग प्रतिक्रिया की ? जैसी कि उनकी अत्यन्त सजग प्रतिक्रिया छायावादी कविता के प्रति थी।

अ० वा० : हां ! अगर एक आत्मसजग लेखक के रूप में वात्स्यायन अपने पहले के हुए के प्रति एक सजग प्रतिक्रिया कर रहे है तो यह तो हो सकता है कि वो कविता में अधिक स्पष्ट और मुखर हो

लेकिन यह नहीं हो सकता कि कविता के क्षेत्र में तो सजग प्रतिक्रिया हुई और उपन्यास के क्षेत्र में वह सजग प्रतिक्रिया नहीं थी। बल्कि आप देखें तो 'तार-सप्तक' के ज़माने में भी अज्ञेय में भाषा के तईं, तत्कालीन काव्य स्थिति के प्रति जो प्रतिक्रिया हुई वह तुलनात्मक रूप से कमज़ोर थी लेकिन उसी समय, लगभग, उनका उपन्यास, 'शेखर : एक जीवनी' निकल रहा था और वैसे भी नये लेखक के रूप में वात्स्यायन की महत्वपूर्ण ख्याति 'शेखर : एक जीवनी' से ही बनी।

र० शाह : हां।

वात्स्यायन छायावादी कविताएं भी लिखते थे : इत्यलम्! शेखर का वास्तव में जैनेन्द्र या प्रेमचन्द से कोई नाता नहीं है। वह सीधी परिणति है प्रेमगीतों की। जबकि कविता मे उन पर उन्नीसवीं सदी की रोमांटिक कविता का असर था और उस असर के प्रति एक तरह की प्रतिक्रिया, हिन्दी छायावादी कविता के प्रति भी है। आपकी यह बात ठीक है कि वह कमज़ोर कवि थे। लेकिन मूलरूप से रोमांटिक कवि ही थे लेकिन नदी के द्वीप…!! इसीलिए मुझे वात्स्यायन जी के गद्य का विकास एक जटिल प्रतिक्रिया मालूम पड़ता है। वो उनकी कविता की प्रतिक्रिया से भी ज्यादा जटिल है, स्वयं उनकी अपनी पहले की कविताओं की प्रतिक्रिया से भी। और उस वक्त जो लोग कहानियां लिख रहे थे; उनके आदर्श, प्रेमचन्द नहीं थे बल्कि पश्चिमी कहानीकार थे।

र० शाह : कहानी में मैं ये महसूस करता हूं कि प्रेमचन्द ने निश्चित रूप से कुछ नया और मौलिक किया…तो उपन्यास में क्यों नहीं हुआ यह ?

कहानी में, आपके ही शब्दों मे, एक जातीय फॉर्म रहा है। प्रेमचंद की कई कहानियों में बहुत ही कुछ ऐसी मौलिकता है कि उसे 'भीड' में शामिल नहीं किया जा सकता। उनकी लोकप्रियता भी 'फ़ॉर्म' के प्रति उनकी सजगता को ढांप नहीं सकती…उन्होंने कहानी के फॉर्म को ऊपर उठाया।

र० शाह : दो तीन कहानियां तो ख़ास तौर से उनकी ली जाएं और ज़रा निकटता से 'एनालाइज़' की जाएं तो।" ख़ैर, मैं आपसे सहमत हूं; 'गोदान' के बारे में आपने जो प्रश्न उठाया है, बहुत मार्के का है। कहते हैं गोदान में ये है, वो है, लेकिन फिर गड़बड़ी क्या है, कहां है ?…मगर कहानी के प्रसंग में इस तरह का कुछ

मैं नहीं महसूस करता।

अ० वा० : इस प्रसंग में प्रेमचन्द का उदाहरण एक मायने में आर्कीटाइपल उदाहरण है। कहानियों के क्षेत्र में तो हमने कुछ ऐसा किया है जो भारतीय है, अद्वितीय है और प्रभावशाली ढंग से सार्थक है। लेकिन उपन्यास के क्षेत्र में मोटे तौर पर आप छिटपुट उदाहरण जरूर दे सकें मगर प्रेमचन्द से लेकर लगभग अब तक, उसके फ़ॉर्म के साथ हम कुछ उपलब्ध नहीं कर पाए। ऐसा क्यों हुआ ? कहीं ऐसा तो नहीं कि हमारा जातीय चरित्र, कहानी के 'फ़ॉर्म' में तो अपनी सारी विविधताओं को एकत्र कर सका लेकिन उपन्यास के 'फ़ॉर्म' में नहीं ! आपने शायद इस ढंग से कहा भी है।

शाह साहब के मूल मुद्दे पर आएं। कहानी काफी हद तक एक घनीभूत प्रभाव हो सकती है, जातीय संस्कार भी उसमें हो सकता है और वो एक प्रामाणिक अनुभूति भी दे सकती है जबकि उपन्यास में इस घनीभूतीकरण को एक खासी लंबी प्रक्रिया से गुजरना होता है, जातीय संस्कारों को इतिहास की एक लंबी यात्रा से क्रिस्टलाइज करना होता है।

र० शाह : मैं कहना चाह रहा था कि गद्य का 'ब्रेक थ्रू' तो आपने कविता में देखा और कविता का 'ब्रेक थ्रू' देख रहे हैं गद्य में, तो गद्य में जो आत्मालोचन आपने देखा उसे काव्य की विशेषता माना और गद्य में आप यथार्थ के अन्वेषण की काव्यात्मक संरचना कहते हैं लेकिन मैं यह महसूस करता हूं कि उसे भी आपको उन अंधेरी जड़ों की खोज से जोड़ना पड़ेगा जहां संदर्भ की भावभूमि साफ हो जाती है।

कविता में काव्यात्मक संवेदना काम करती है जबकि उपन्यास में काव्यात्मक विवेक। कविता दोनों में समान है। मैं जोर इस बात पर देना चाह रहा हूं कि यह विवेक, महज बुद्धि के अर्थ में नहीं वल्कि विचार के उस अर्थ में जहां संबंधों का अवधारणात्मक चिंतन होता है यही नहीं बल्कि संबंधों के बोध का एक अलग ही धरातल होता है।'' राममनोहर लोहिया ने एक बार कहा था कि हिंदुस्तान में दुनिया भर के सबसे उदास लोग हैं; चुप्पे मिजाज लोग हैं। उन्होंने कहा था एक हिंदुस्तानी किसी लड़की के साथ खुलकर नहीं घूम सकता, किसी दूसरे वर्ग के लोगों के साथ नहीं जा सकता, वर्ण व्यवस्था की दीवारें हैं, सेक्स की दीवारें है और भी बहुत-सी रुकावटें हैं। एक समाजशास्त्री भी इसे महसूस करता है। अब यह एक लेखक, एक उपन्यास के लिए भी वह चुनौती

है; जिसने भी इसे महसूस किया, वह इस वास्तविकता को जान सकता है। हमे इसका सामना करना है : इस विलक्षण भारतीय उदासी का, मानवीय संबंधों के संदर्भ मे, वह हमे खासे विस्तृत क्षितिजो तक ले जा सकती है और संबंधों के गहरे रूपाकारों तक भी। हम चाहे तो उसे अपनी सस्कृति की अधिक बहुविध अभिव्यक्ति भी कह सकते हैं लेकिन हमारी संस्कृति के अंधेरे पहलू भी हैं···मसलन् अलगाव···और मैं नही जानता, मेरे पास कोई जवाब नहीं है, इस सवाल का लेकिन सवाल तो है। लातीनी अमरीकी देशों मे हालत शायद बेहतर न हो लेकिन वह भी मानवता की एक किस्म है, जो हम भारतीयों से अलग महसूस नही करती लेकिन मुक्त हो सकती है, हो रही है : संबंधो की वर्जनाओ से। अब ये सब काव्यात्मक प्रतीक हैं, यह जाति सेक्स के उद्वेलन निश्चित रूप से हावी होने वाली एक जातीय परंपरा, नैतिकता वगैरह जिन्हें उपन्यासकार मानवीय संबंधो के संदर्भ मे प्रयुक्त कर सकता है। जहां सार्वजनिक स्तर पर ये सारी समस्याएं हो, वहां अगर मै संवेदनशीलता से लिखता हूं तो अज्ञात रूप से ही वो अपनी छाया डालती हैं; जहां ऐसी समस्याएं हों, वहा प्रामाणिकता की समस्या महत्वपूर्ण हो जाती है। जहा उदासी की समस्या है, तथाकथित अहं के स्तर पर, वहा जो लोग मध्यवर्ग और शहरी जीवन पर लिखना पसंद करते हैं, उन्हे इस उदासी को प्रामाणिकता के अधिक संश्लिष्ट प्रसंगों में परिभाषित करना होगा क्योंकि जाहिर है कि हम कुछ सुविधाओं में रहते हैं जबकि ऐसे अंधेरे इलाके हैं जहां लोगों के पास कोई सुविधा नही है, कोई सुरक्षा नही है : क्या यह हमारे भीतर, एक पाखंड, एक ढोंग, जो हमारी राजनीति मे भयानक रूप से विकृत रूप मे आता है यह साहित्य की या रचनाकार की समस्या नही बन जाती। मैं संवेदनशीलता के अपने इलाके को जानता हूं—मेरे पास केवल मध्यवर्ग का नागरीय जीवन है। लोग गांव के जीवन पर लिखते हैं; जिन्हें लोग 'इन्साइडर' कहते है; मगर मुझे कही कोई अंतर्विरोध महसूस नही होता। भारतीय यथार्थ का, वास्तविकताओं का यह एकत्र बोध है जिसकी अलग-अलग छायायें है। मुझे शक है कि यथार्थवाद, जिसके पीछे हम लोग पिछले तीस सालो से चले आ रहे हैं, प्रेमचंद से लेकर गिरिराज किशोर तक, उसका अब कोई महत्व है। खास तौर पर इस जटिल और अतियथार्थवादी वास्तविकता के प्रसंग में। मैं नही कहता कि वे बुरे उपन्यास है लेकिन भारतीय प्रसंग मे कथात्मक (औपन्यासिक) कल्पना की एक समावेशी परम्परा के लिहाज से मैं नही समझता कि इन उपन्यासों की कोई बहुत बड़ी भूमिका हो सकती है। और यथार्थवाद की धारणा में आदर्शवाद के सबसे अधिक विद्रूप भी निहित हैं।

अ० वा० : भारतीय परम्परा में, मेरे ख्याल से, समय के साथ हमारा कभी यथार्थवादी रिश्ता नहीं रहा। यथार्थ की अपनी धारणा और यथार्थ के प्रति अपने नज़रिए आदि उसके बोध के प्रसंग में हम पश्चिमी यथार्थवादी दृष्टि के अधिक शिकार हुए।

यथार्थवाद की हमारी धारणा में विचारधारा की विकृतियों की भी बड़ी भूमिका रही है।

अ० वा० : इसका एक बहुत दिलचस्प नमूना थियेटर में है। जब तक हम पश्चिमी किस्म के यथार्थवाद से आतंकित या प्रभावित नाटक लिखते रहे हमारा दुर्भाग्य; कि उपेन्द्रनाथ अश्क की तरह के नाटक ही मिले। कल्पनात्मक अनिवार्यता ज़रूरत के क्षणों में हमने महसूस किया कि यह काफी नहीं है, अपने सम्बन्धों और अपने यथार्थ को अखिल भारतीय संदर्भों में, समुचित रूप से परिभाषित करने के लिए ऐसे दल उभर कर सामने आए जिनका पश्चिमी यथार्थवाद से कोई संबंध नहीं। ऐसा रंगमंच विकसित हुआ जो यथार्थवादी नहीं है बादल सरकार और विजय तेन्दुलकर का रंगमंच···वे सच्चाई के ज्यादा करीब हैं; उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटकों की निस्बत। और अब संस्कृत नाटकों का पुनराविष्कार इस एहसास का ही एक हिस्सा है कि पश्चिमी यथार्थवाद का आतंक, उसकी निरंकुशता ख़त्म हो जानी चाहिए, उस तरह का मंच हमें मुक्ति नहीं देगा। बल्कि यह तो चुनौती है आपको कि हमने कविता में, चित्रकला में, संगीत में उससे मुक्ति पा ली लेकिन, कथा साहित्य में उसका आतंक अभी भी है।

विजयदेवनारायण साही : मैं नहीं जानता, रामविलास शर्मा की कौन सी पुस्तकें आपने पढ़ी हैं ?

'प्रेमचंद' पढ़ी, 'निराला' का पहला भाग और 'भारतेंदु-युग'।

साही : क्या आप नहीं समझते कि जब गंभीरतापूर्वक, निराला पर भी बहस करने के लिए रामविलास लिखते हैं तो वो भी लगभग उसी प्रकार के अंतर्विरोधों के शिकार होते हैं जैसे नामवर सिंह।

हां।

साही : वो सिद्ध करना चाहते हैं कि निराला प्रगतिशील कवि हैं,

'भारतेन्दु और उनका युग' में वो भारतेन्दु को भी प्रगतिशील सिद्ध करना चाहते हैं। प्रेमचन्द को फ़िलहाल मैं छोड़े दे रहा हूं; लेकिन निराला बिना बहुत अधिक इधर-उधर काटे-छांटे रामविलास की प्रगतिशीलता के सीधे सांचे में नहीं हैं। भारतेन्दु तो उससे भी कम। परिणाम उसका यह होता है कि लगभग उसी तरह का एक स्वेच्छाचार दिखाई देता है जैसा कि नामवरसिंह के लेखन मे है। अगर मुझे रामविलास के ऊपर वैसी ही किताब लिखनी हो, जैसी उन्होंने नामवरसिंह पर लिखी है तो मैं रामविलास की पुस्तक, 'भारतेन्दु-युग' लूंगा। एक लेख भी मैंने थोड़ा-सा लिख लिया है और रामविलास जी पर बीच-बीच में फ़ब्तियां कसता रहा हूं। अगर आप भारतेन्दु के सारे नाटक और सारे उनके लेखन से परिचित हैं तो उनको पढ़ते समय लगेगा कि आज की जो राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ की जो मानसिकता है, उसका स्रोत आपको भारतेन्दु मे मिलेगा। अब आलोचक के सामने दो तरीके हैं: या तो उसका सामना करे और उसके माध्यम से हिन्दुस्तान की उस समय की मनः-स्थिति को विश्लेषित करे। रामविलास उसका सामना ही नहीं करते। भारतेन्दु के बारे में सिर्फ़ दो उद्धरण बराबर देना कि "अंग्रेज राज मब सुखसाज सजे······" या यह कि खराब राजा के बारे में जैसा मज़ाक बनाया है 'अंधेर नगरी' में; तो सिर्फ इतना ही तो नहीं है भारतेन्दु में। भारतेन्दु ने तो 'नीलदेवी' भी लिखी है, जिसमे यह लिखा है: "धिक्, उनको जो आर्य होय मुगलन को चाहे, धिक् उनको जो इनसे कछु संबध निबाहें"। निश्चित रूप से वे नामवर से कहीं अधिक साफ और संगत हैं और इसीलिए मैं कहता हूं कि किसी भी मार्क्सवादी आलोचक को यदि गंभीरता से लिया जाता है तो रामविलास ही हैं। इस तरह की संगति आप शिवदानसिंह चौहान में नहीं पाएंगे।

शिवदानसिंह की बात छोडिए। अभी मै परसो सीधी शिविर का वो दस्तावेज पढ़ रहा था। मैं तो आश्चर्य मे पड़ गया कि नामवर किस तरह एक स्थिति से दूसरी पर कूद रहे है। एक आदमी बोल रहा है तो वे उससे सहमत हो गए, दूसरे आदमी ने कोई दूसरी बात कही तो उससे भी; हालांकि दोनो के मत बिल्कुल विपरीत है, बिल्कुल विरोधी। यहा अच्छे या महान मार्क्सवाद का प्रश्न नहीं है। यह सवाल बौद्धिक स्पष्टता का है, किसी सवाल के बारे मे। जैसा कि आपने शुरू मे कहा कि नामवर चाहते है कि हिंदुस्तान मे एक तरह

की नवमार्क्सवादी आलोचना हो जैसे कि अनर्स्ट फिशर; जिन्होंने मार्क्सवादी मताग्रह से हटकर कुछ काम किया है। उनका अपना योगदान है लेकिन नामवर में केवल एक मुद्रा भर रह गई कि वो मताग्रही नहीं हैं, उन्होंने नवमार्क्सवादी आलोचना का आधार कभी तैयार नहीं किया।

साही : मुझे भी नहीं लगता। पता नहीं क्यों, लगता है···

गीता कपूर . क्यों ? दरअसल यह आलोचना-दृष्टि का अभाव नहीं है, लेकिन फिर क्या कारण है ?

लगता, है साहित्य भी उनके लिए एक खासी हद तक राजनीतिक आवेग है।

गीता : जब कि अव्वल तो वह एक अनुभूति है, पर्सेपशन है।

साही : और वैसे तो मैं खोजकर रामविलास में भी निकाल सकता हूं, एक मरतबा तो लिखा भी था मैंने। हां तो, रामविलास ने साहब, एक लेख लिखा था, बहुत दिनों पहले, किसी मार्क्सवादी पत्रिका में, आगरे या मथुरा के किसी कवि पर, जो पुरानी ब्रजभाषा शैली में लिखते थे···। उन्होंने लिखा कि इधर से पढ़िए तो यह कृष्ण काव्य है और उधर से पढ़िए तो यह राम काव्य है। इस किस्म के कौशल की इतनी भूरि-भूरि प्रशंसा रामविलास ने की थी।

अ० वा० : अगर आपको याद हो तो जिन दिनों नयी कविता की लड़ाई काफ़ी तेज़ी से लड़ी जा रही थी, उन दिनों रामविलासजी 'समालोचक' निकालते थे और एक संपादकीय में उन्होंने पूरा एक लम्बा लेख लिखा था। जिसमें नये कवियों के बरअक्स नीरज और वीरेन्द्र मिश्र वगैरह गीतकारों को अधिक महत्वपूर्ण और बड़ा कवि सिद्ध किया था।

साही : हां, वो भी मुझे याद है।

लेकिन आज की पीढ़ी के लिए रामविलास प्रासंगिक नहीं है, मगर नामवरसिंह तो काफ़ी प्रासंगिक हैं। मैं जानना चाहता हूं कि वह प्रासंगिकता कहां तक सार्थक है ?

अ० वा० : वह जो बात हो रही थी न, नामवर की बौद्धिक कमजोरी की ?

साही : उन्होंने यह कहा कि कुछ राजनीतिक कारणों से यह कमजोरी नामवरसिंह की आलोचना में आयी। एक समय था जब

कम्युनिस्ट पार्टी का एक सांस्कृतिक कोष्ठ था खास तौर से साहित्य से निपटने के लिए। उसके संयोजक थे रामविलास। उस समय उनके जिम्मे आलोचना और साहित्य का इस्तेमाल सीधे-सीधे राजनीतिक दृष्टिकोण से करना आवश्यक हो गया था। और उस समय उनके भी लेखन में इस तरह के अंतर्विरोध थे।

रामविलास तो बहुत हद तक राजनीतिक हैं।

साही : मैंने कहा न, वह तो बाद में चलकर उन्होंने 'भारतेन्दु-युग' और 'प्रेमचन्द' आदि लिखीं। तब तक वो एक प्रकार से प्रगतिशील आंदोलन से वीतराग हो चुके थे और उनको संगठनात्मक जिम्मेदारी रणदिवे के हटाए जाने के बाद दे दी गई थी। रणदिवे के जमाने में ही रामविलास सबसे ज्यादा, कम्युनिस्ट पार्टी के ज्दानोव थे। जब रणदिवे की लाइन खत्म हो गई तब रामविलास की लाइन भी खत्म हो गई। लेकिन जिस समय वो ज्दानोव थे; उसी वक्त का मैं ज़िक्र कर रहा हूं। उस समय कोई भी व्यक्ति जो शायद किसी अन्य कारण से कम्युनिस्ट पार्टी के निकट रहा, उससे उसका काम निकलता हो तो उसकी तो उन्होंने तारीफ़ कर दी लेकिन पंतजी के बारे में लिखा कि वो प्रतिक्रियावादी हैं। यह वही समय था जब पंतजी ही नहीं, एक के बाद दूसरे सब प्रतिक्रियावादी घोषित हुए; जिसका पूरा उल्लेख 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' नामक पुस्तक में श्री अमृतराय ने किया है; उसमें तो पूरे कारनामों का ज़िक्र है। तो एक तरफ़ तो यह था, दूसरी तरफ़ चूंकि उनको लग रहा था कि सबको तो हम दुश्मन और प्रतिक्रियावादी घोषित कर रहे हैं तो दो-चार दोस्त भी निकालो, तो दोस्त किसको बनायें, तो इन्हीं को बनाओ। तो इस प्रकार के अंतर्विरोध; उनके भी दो लेखों को अगल-बगल रखकर या एक ही लेख में देखे जा सकते हैं; कभी कहेंगे कि ये 'रूपवादी' हैं, इसलिए खराब हैं; कहीं शुद्ध रूप है तो वो कहेंगे कि अहा! देखिए इनमें कितनी कलाकुशलता है।

अ० वा० : तो क्या आप यह कह रहे हैं कि नामवरसिंह में जो अंतर्विरोध है, बौद्धिक न्यूनताएं हैं वे उसी तरह की सीधी राजनैतिक जिम्मेदारी की वजह से आयीं जैसी कि एक जमाने में रामविलास में। या यह विचारधारा के मताग्रह का परिपाक है?

प्रश्न यह था कि आज के समय में जब नामवर जैसा एक प्रसिद्ध आलोचक जो

अपने आपको मार्क्सवादी कहता है'...

साही : क्या अमृतराय अपने आपको नवमार्क्सवादी कहते हैं ?

कहते हैं कि वो मार्क्सवाद के मताग्रह में 'डॉग्मा' मे विश्वास नही करते। मेरा सवाल यह है कि क्या इन्होंने रामविलास की मार्क्सवादी स्थिति से आलोचना की है? उनकी क्या स्थितियां हैं? क्या इनका विवेक, इनकी आलोचना क्या उन्ही संकीर्णताओं उन्ही मताग्रहो की शिकार नही हैं जो कि रामविलास में है। इसलिए क्या हमने पिछले पांच या दस वर्षों के दौरान पूर्व निर्धारित मार्क्सवादी आलोचना से ही हिंदी साहित्य को नही पाट दिया है, जिसमे रामविलास और शिवदानसिंह सरीखे लोग हैं। सही या उचित मार्क्सवादी मताग्रही कह कर, जिनकी आलोचना की जाती है। एक एहसास हमारा यह जरूर है कि हिंदी मे कोई सार्थक मार्क्सवादी आलोचना नहीं और नामवर इसके अपवाद नहीं हैं।

अ० वा० : नहीं, वैसे तो नामवरसिंह के बाद पिछले पांच-सात सालों में, जब से प्रगतिशीलता का एक नया जोर चालू हुआ है; बहुत सारे लोग हैं जो अपने को मार्क्सवादी कहते हैं, और समय के सबसे सक्रिय आलोचनात्मक दृष्टिकोण का मानते हैं; सक्रिय से मतलब सबसे ज्यादा शोर-शराबा करने वाला और ज्यादातर पत्रिकाओं में छपने वाला जो दृष्टिकोण है वह मार्क्सवादी ही है; यह और बात है कि उनमें से शायद ही कोई ऐसा हो जो अपने युवा दिनों के नामवर या कि रामविलास के बराबर भी 'विचार' या 'ध्यान' आकर्षित करता हो; यों तो कहने को ओमप्रकाश ग्रेवाल, सुधीर पचौरी, कर्णसिंह चौहान, विश्वनाथ तिवारी, सुरेन्द्र चौधरी और नवल भी हैं।

साही : लेकिन आप क्या कह सकते हैं कि वे नवमार्क्सवादी श्रेणी के हैं ?

अ० वा० : नहीं वे नहीं हैं। बल्कि मेरे हिसाब से तो बाद में जाकर नामवरसिंह की ही एक तरह की नैतिक असफलता है, जिसके कारण उनके बौद्धिक अंतर्विरोध आते हैं, वो बड़ी ही। लेकिन फिर भी अपने आरंभिक दिनों में नामवरसिंह ने कम से कम एक अधिक व्यापक दृष्टि : थोड़ी अधिक उदार संवेदनशीलता दिखाई थी। ये जो युवा मार्क्सवादी हैं उनमें तो यह बिल्कुल ही खतम है। उनके लिए जो चीजें उसी तरह बिल्कुल काली और सफेद हैं, सीधी-सीधी हैं जैसी कि एक जमाने में रामविलास के लिए थीं। तो मार्क्सवादी

आलोचना तो हिन्दी में पिछले १५-२० के बाद वापस फिर वहीं पहुंच गयी जहां पहले थी। आज भी 'उत्तरार्द्ध' जैसी पत्रिका में एकाध लेख किसी युवा मार्क्सवादी का, ऐसा मिल जाएगा जो किसी एक लोकप्रिय कवि, जनवादी कवि पर होगा; उसी तरह जैसे कि रामविलास का, जो ब्रजभाषा में लिखने वाले उस कवि पर था जो मजदूरों के बीच रहा। उसी तरह की एक ग़लत मानसिकता, एक बौद्धिक सरलता, जिस मासूमियत के साथ रामविलास में थी।

साही . नहीं, उन्होंने तो राम काव्य और कृष्ण काव्य के शब्दाडम्बर की तारीफ़ की है; मजदूर-अजदूर तो वहां था ही नहीं उस समय। मजदूर के नाम पर रामविलास ने तो उन दिनों लाल धुआं ही देखा···

अ० वा० इस मामले में मुक्तिबोध ने एक बहुत लम्बा लेख मार्क्सवादी आलोचना के बारे में लिखा था।

साही : असल बात यह है, इसे थोड़ा-सा ऐतिहासिक दृष्टि से याद करें। पुरानी मार्क्सवादी आलोचना, जब प्रगतिशील लेखक संघ स्थापित हुआ तो इस तलाश में थी कि कितना बड़ा व्यापक मंच बनाया जाए कि उसमें प्रेमचन्द भी आ जाएं और रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी खप जाएं। मैं चौथे दशक की बात कर रहा हूं। उसके बाद स्वयं कम्युनिस्ट पार्टी की लाइन, संयुक्त मोर्चे के उस तर्क से अलग होकर दूसरे विश्वयुद्ध के आसपास एक दूसरी भंवर में फंस गई। फिर उसके बाद बिना किसी तैयारी के सहसा रणदिवे लाइन प्रकट हुई तो रणदिवे ने काला और सफेद करना शुरू किया। धीरे-धीरे सब स्याह कर दिया। सफ़ेद रह ही नहीं गया। इसके बाद जिनको उन्होंने स्याह किया होगा वो लोग तो स्याह हुए नहीं···केवल वे ही अलग-थलग पड़ गए दुनिया से—रणदिवे ग्रुप के लोग। रामविलासजी की वास्तविक आलोचना है रणदिवे लाइन की। उसके बाद कम्युनिस्ट पार्टी में स्वयं यह विचार आंदोलन शुरू हुआ कि हम लोग बहुत संकीर्ण हो गए। एक तरफ पी० सी० जोशी ने एक लाइन दी जो भूतपूर्व मंत्री थे, निष्कासित कर दिए गए थे। रणदिवे के विरुद्ध ५४-५५ के आसपास लिखना शुरू किया था। सोवियत यूनियन में भी लगभग यही समय है जब ज्दानोव का पतन हुआ और एक लाइन सोवियत यूनियन में भी पलने लगी। ख्रुश्चेव के आने के बाद स्तालिनवाद का भी विनाश हो गया। इन सबके बीच

एक नया शब्द, अगर आपको याद हो, कुत्सित समाजशास्त्र 'वल्गर सोशियालॉजी', सोवियत यूनियन से चला और उसके अंतर्गत स्तालिन और ज़्दानोव के ज़माने की सैद्धांतिकता रखी गई। इस 'कुत्सित समाजशास्त्र' शब्द की ज़रूरत यहां भी आ गई। इसका मूल तात्पर्य यह था कि जो हम लोग अलग-थलग पड़ गए हैं फिर से लोगों को अपनी जगह पर ले आएं और अपने स्वर को बदलें। कुत्सित समाजशास्त्र के खिलाफ खड़े हुए श्री शिवदानसिंह चौहान। रामविलास दरकिनार कर दिए गए, जैसे रणदिवे दरकिनार कर दिए गए। अजय घोष आ गए। लेकिन जिस प्रकार वह कुत्सित समाजशास्त्र आया था उसी प्रकार एक दिन सहसा यह तय किया गया कि आज कुत्सित समाजशास्त्र को बदनाम किया जाए। दोनों हालात में मूलभूत चिंतन का समय मिला ही नहीं कि इनके बुनियादी नतीजे क्या होंगे। वह सिर्फ़ रणनीति रही। चिंतन की बुनियादी ग़लती को रणनीति की ग़लती मान लिया गया। और रणनीति बदलने के नाम पर यह हुआ कि इनको भी ले आइए, उनको भी ले आइए। जो सुविधाजनक पड़ते हैं उनके बारे में कुछ लिख दीजिए, जो नहीं पड़ते उनके बारे में चुप लगा जाइए ताकि कम से कम दोस्ती तो बनी रहे। पहले लेखक लो इकट्ठे हों, तब जाकर मोर्चा बने। यह हालत करीब ५३-५४ से लेकर लगभग ६५-६६ तक चली। अब मार्क्सवादी आंदोलन के अंदर कुछ नक्सलवादी उभर आए तब एक नया स्वर खड़ा हुआ। उन्होंने भी मिलता-जुलता क्रांतिकारी नारा दिया। कुत्सित समाजशास्त्र के अनुसार जो रणनीति सबको समेटने वाली बननी चाहिए थी, उसके प्रवक्ता अंततः हुए नामवरसिंह। अब नामवर ने बहुतों को जब समेटना शुरू किया तब या तो तरीका वह होता जो श्री शिवदानसिंह चौहान का था या फिर किसी के बारे में ज़्यादा कुछ न कहना पड़े कि बहुत अच्छा है तो उन्होंने कोशिश की कि इसको विश्लेषित करके साबित करें। जब फिर कुत्सित समाजशास्त्र के खिलाफ एक आवाज़ शुरू हुई तो कहा गया, इन लोगों ने तो मार्क्सवाद को संशोधनवादी कर दिया। तब फिर संशोधनवाद के खिलाफ आवाज़ उठी।'''तो मेरे हिसाब से यह तीनों कदम विभिन्न रणनीति की ज़रूरतों से पैदा हुए। मेरा यह खयाल है कि एक वर्ग ने, सबने नहीं, एक रुख़ अख्तियार किया कि संशोधनवाद को खत्म करके फिर से सियासत में उतरना चाहिए तो उससे यह परिणाम नहीं

निकलेगा कि जिसको उन्होंने स्याह कहा, वह स्याह हो जायेगा, जिसको सफेद कहा, वह सफेद हो जाएगा। तब फिर शायद उसी में से यह भी निकलेगा कि वे तो कुत्सित समाजशास्त्री थे और उन्होंने व्यापक दृष्टिकोण को समझा ही नहीं'''तो यह संकट तो कम्युनिस्ट आंदोलन का संकट है; उसका सिर्फ़ प्रतिबिम्ब होती है मार्क्सवादी आलोचना। ऐसा कोई मुझे अभी तक दिखा नहीं जो कहे कि मैं कम्युनिस्ट आंदोलन के संकट से कुछ अलहदा होकर भी मार्क्सवादी दृष्टि से सहमत हूं।

गीता : यह पश्चिमी साहित्य समीक्षा के प्रसंग में बिल्कुल सही हो सकता है कि लोगों ने वहां साम्यवादी रणनीति के नज़रिए से ही चीज़ों को स्वीकार नहीं कर लिया लेकिन हिन्दी के अलावा *हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं में क्या स्थिति'''*

साही : पश्चिमी यूरॅप और अमरीका का वातावरण ही दूसरा है। वहां मार्क्सवादी आलोचना से कहीं ज्यादा सक्रिय दूसरी धाराएं थीं।

गीता : वह तो पूरा बौद्धिक परिदृश्य था; वहां उस तरह के दबाव और चुनौतियां कहां थीं।

साही : यही तो मैं भी कह रहा हूं। आप बहुत सारी अमार्क्सवादी आलोचना को निरर्थक कह कर खारिज कर सकते हैं। निर्मलजी ने भी कहा कि जो अकादमिक आलोचना चल रही है, उसकी तो मै चर्चा ही नहीं करता हूं।'''मगर जब आप यूरॅप और अमरीका की बात करती हैं तो वहां अकादमिक और वास्तविक आलोचना में इतनी बड़ी खाई नहीं है जितनी कि हम लोग मान कर चलते हैं। आखिरकार अकादमिक आलोचक और वास्तविक आलोचक के रूप में एफ० आर० लीविस में कहां फ़र्क करते हैं? या इसी सिलसिले में आइ० ए० रिचर्डस् की अकादमिक आलोचना और साहित्य आलोचना में कहां फ़र्क है? दरअसल कॉलिन विलसन, सारे नये आलोचक, यहां तक कि यूरॅप और अमरीकी आलोचना के शिकागो-स्कूल में भी अकादमिक और अन-अकादमिक आलोचना में आप कोई फर्क, कोई इतनी बड़ी खाई नहीं देख सकते। मै सैकड़ों नाम गिना सकता हूं जिन्हें आप प्रमुख आलोचक कहते हैं, वो सब विश्वविद्यालयों और शोधकार्य से संबद्ध हैं। और आज तो कम से कम पश्चिमी यूरॅप और अमरीकी विश्वविद्यालयों में यह खाई एक तरह से खतम ही हो गयी है। यहां तक कि वह कबीला जो सोचता

था कि विद्वत्ता और आलोचना में बुनियादी फ़र्क़ है; इंग्लैंड और अमरीका में भी कमोबेश ख़त्म हो रहा है; एकाध कहीं पड़ा हो तो और बात है। एकाध नाम ले सकता हूं जॉन वेन का जिन्होंने अध्यापकी छोड़ दी; इसलिए उनको आलोचक बनना पड़ा। मगर कुल मिलाकर मैं यह नहीं मानता कि हार्वर्ड, आक्सफोर्ड या कैम्ब्रिज या जिनेवा या वियना या पेरिस की जो अकादमिक दुनिया है वह उसी तरह अप्रासंगिक है जैसे कि हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में दशरथ ओझा और कल्याणमल लोढ़ा।

यह जो रचनात्मक आलोचना है, पश्चिम मे, उसके प्रसग मे एफ० आर० लीविस को आप क्या कहेंगे ?

साही : एफ० आर० लीविस उतना हो अकादमिक है जितना कि आलोचक।

वही तो मैं कह रहा हू—टी० एस० एलीयट जो कवि था…

साही : टी० एस० एलीयट ही सिर्फ़ एक ऐसा नाम है जो अकादमिक नहीं है लेकिन उसके समर्थकों का क्या हाल है ?

मेरा मुद्दा यह है कि पश्चिम की जिस रचनात्मक आलोचना को हम महत्व देते हैं, वह संस्कृति के, पश्चिमी संस्कृति के, मूल्यांकन के प्रसंग मे उसके अन्तर्विरोधों से साहित्य को, शब्द को अलग न करके देखने की और पश्चिमी संस्कृति के व्यापक संदर्भ, उसकी परंपरा में देखने की जो कोशिश है वह साहित्यिक आलोचना और मार्क्सवादी आलोचना की सार वस्तु के साथ संस्कृति की भी समीक्षा है। एफ० आर० लीविस इसकी मिसाल है, टी० एस० एलीयट इसके उम्दा उदाहरण हैं। अगर ऐसा है कि साहित्यिक आलोचना को प्राण और प्राणवत्ता मिलती है जबकि वह अपने को एक व्यापक संदर्भ से जोड़ती है और साहित्य को सिर्फ़ एक अध्ययन की शाखा न मान कर जीवित धारा, जो अतीत और वर्तमान की जीवित चेतना का अंश है, तो हिन्दुस्तान में ऐसा क्यों नहीं है ?…अगर हम गाधीजी को या लोहियाजी को लें, जो कि साहित्यिक आलोचना में नहीं थे, राजनीति के क्षेत्र में थे, लेकिन जिन्होंने उसके बावजूद अपनी संस्कृति को, अपनी भाषा को, अपनी परंपरा को, अपने धर्म को बीसवीं शताब्दी के संदर्भ और दबावों में आकने की कोशिश की। क्या साहित्यिक आलोचना ने कभी इस तरह के दबावों को महसूस किया है ?

साही : इस लिहाज़ से मैं समझता हूं कि सिवाय रामचन्द्र शुक्ल

को छोड़ कर शायद कोई नहीं या शायद थोड़ा प्रसाद और थोड़ा बहुत द्विवेदीजी की लेखनी में वह मिल जाएगा लेकिन वास्तविक अनिवार्यता इसकी कहीं है तो सिर्फ रामचन्द्र शुक्ल में। और वहां भी वही ढंग जो अकादमिक भी है लेकिन आलोचना भी है। वहां आपको फिर यह कृत्रिम अंतर करने की जरूरत नहीं।

द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल के बाद हमारे यहां क्या उस तरह का दबाव महसूस ही नहीं हुआ।

साही : शब्दशः सही।

रहस्यवाद हो या राजनीति; हमने उसका एहसास ही छोड़ दिया। मैं एक दिन एक दोस्त से कह रहा था कि भारतीय लेखक के लिए शायद, रामकृष्ण परमहंस और लोहिया महत्वपूर्ण स्रोत हैं, प्रेरणा के स्रोत।

साही : वैसे मैं कभी-कभी सोचता हूं कि शायद लोगों की अपनी समझ की शुरुआत, साहित्य के बारे में तभी होगी जब पूरे हिन्दुस्तान की सभी भाषाओं का साहित्य सामने होगा : खासकर आलोचक के सामने। हिन्दुस्तान की विभिन्न भाषाओं में उपन्यास लिखे गये, नाटक लिखे गये, कविताएं लिखी गयीं लेकिन विचार की वह सहज मनःस्थिति भी नहीं बनी कि एक ही लेख में आप बंगला उपन्यास का जिक्र करें, मराठी का करें, पंजाबी का करें, तमिल का करें और फिर हिन्दुस्तान के साहित्य के बारे में कुछ कहें।

जबकि चित्रकला में यह मुमकिन है, भारतीय चित्रकला या भारतीय संगीत, लेकिन सिर्फ साहित्य में अभी तक यह भारतीय...

साही : मैथ्यू अर्नाल्ड के बाद से अंग्रेजी आलोचना का तो एक सर्वमान्य आधार बन गया है, वहां आलोचक हो ही नहीं सकते, कायदे से बात कर ही नहीं सकते, जब तक कि आप यह न जानें कि फ्रांस में क्या लिखा जा रहा है, इंग्लैंड या अमरीका में क्या लिखा जा रहा है। मैथ्यू अर्नाल्ड यह जरूरी समझते हैं कि वे टालस्टाय पर एक लेख लिखें और तब अपने निष्कर्ष निकालें जो उनके संदर्भ में प्रासंगिक हों।

दूसरी ओर एफ० आर० लीविस दूसरे देशों को पूरी तरह से नजरन्दाज कर देते

हैं और सिर्फ़ अंग्रेजी साहित्य पर ध्यान केन्द्रित करते हैं।

साही : मान लिया। एफ० आर० लीविस तो पिछले सौ वर्षों में जो कुछ किया गया उसे सिर्फ़ व्यवस्थित करने की कोशिश में था और इस वजह से अपने क्षेत्र को सीमित करने का कोई खतरा उसके सामने नहीं था।...लेकिन मैथ्यू अर्नाल्ड से लेकर रेने वेलेक या विमसेट तक आपको कोई भी ऐसी प्रासंगिक पुस्तक नहीं मिलेगी जिसमें पूरे यूरोपीय साहित्य को समेटा न गया हो। आखिरकार लूकाच भी तो बाल्जाक पर लिखता है। सिर्फ़ हंगरी के बारे में नहीं, नाटक के बारे में बात करते हुए इंग्लैण्ड में बड़ी आसानी से इब्सन के बारे में इस तरह की बात की जाती है जैसे इब्सन इंग्लैण्ड का ही लेखक हो।...तो इस तरह क्षेत्र तो अर्नाल्ड के जमाने से ही बढ़ गया। उसने आलोचना कर्म का एक ऐसा दरवाजा ही खोल दिया है जिसे बाद में एलीयट ने दुहराया कि : समूचा यूरोप तुम्हारी अस्थियों में हो। यह अर्नाल्ड का वाक्य है। एलीयट ने इसका इस्तेमाल किया।...शोध और अनुसंधान की जो प्रक्रिया है, हमारे लिए दुर्भाग्य की ही बात है कि शुक्लजी के बाद रस सिद्धान्त पर विचार करने के लिए हमारे पास नगेन्द्र ही बचे थे।...मगर हमारी समझ से, अगर नगेन्द्र ने रस सिद्धान्त को लेकर निहायत ही रूढ़िबद्ध और फालतू बातें कहीं तो कोई जरूरी नहीं कि उसको हम एक रैखिक विकास मानें ही या उसका जिक्र ही न करें। एक मढ़ेकर भी हुए हैं। फिर अगर देखें कि हमारे यहां कालिदास पर नया आदमी कौन लिख रहा है जिनके प्रति हम 'रिएक्ट' करें तो मालूम पड़ता है, हमारे भगवतशरण उपाध्याय जी हैं।...तो इस सबका खुलासा करने बैठें तो एक युद्ध ही हो जाएगा।...तो जिस दिन यह सम्भव हो जाएगा कि यह सब सामने रहे और आज जो अकादमिक दुनिया और अकादमिक इतर दुनिया है, वे यदि इस प्रसंग में, एक खास प्रेरणा से एक दूसरे से जुड़ जाएं तो कुछ हो सकता है। मुझ को लगता है कि हिन्दी में क्यों कोई नहीं लिखता इसके बारे में जैसे कि कोई कवि है, वह दूसरी भाषा की कविता पढ़ता है, तो उसके बारे में लिखना जरूरी क्यों नहीं समझा जाता ?

मगर, मसलन् बंगाली कविता के बारे में लिखना है तो उसे तो बंगाली में ही पढ़ना है।

साही : ऐसा थोड़ेई है कि बंगाली जानने वाले हिन्दी में नहीं हैं। अगर मुक्तिबोध एक मराठी लेखक पर भी लिखते तो···? मगर यह अनुमान है कि न आपका पाठक वर्ग इसके लिए तैयार है, न शायद आपकी पत्रिकायें इसके लिए तैयार हैं, न संयोजक और न प्रकाशक। मान लीजिए मूल लेखक हमने नहीं पढ़ा है, तब भी हम अनुवाद ही चाहे पढ़ें और अगर काफी पढ़ रखा है तो कुछ न कुछ प्रासंगिक तो हम कह ही सकते हैं। हो सकता है हम सीमित रूप से ही कहें कि भई हमने मूल तो नहीं पढ़ा है लेकिन जो कुछ पढ़ा है उसके आधार पर हम हिन्दुस्तान के बारे में कह सकते हैं कि १६७० में हमने यह देखा है। और यह जो लेखक है, यह ऐसा है।

आप तेन्दुलकर को या बादल साकार को कितनी बार देखते हैं। क्या हर बार उन्हें देख कर नहीं लगता कि वे हमारी चेतना के अंग बन गए हैं?

साही : आप हिन्दुस्तान को नहीं समझ सकते जब तक कि विभिन्न भाषाओं के समकालीन साहित्य से परिचित नहीं होते।···नाटकों को ही बात लें तो कोई मजबूरी है कि लक्ष्मीनारायण लाल को ही रखें या देखें? जब तक हम दूसरों से परिचित नहीं होते तब तक हम मजबूर हो जाते हैं यह मानने के लिए कि हिन्दुस्तान में सिर्फ़ लक्ष्मीनारायण लाल की संवेदना है; जबकि हमारे पड़ौस में ही एक आदमी है जो दूसरी तरह की बातें कर रहा है।

मैं समझता हूं कि यह बहुत महत्वपूर्ण और मूल्यवान बात है। असल मे यह साहित्य अकादमी का काम था कि एक व्यापक पैमाने पर अनुवादकों को संगठित करती।

साही : मुझ से कोई पूछे कि प्रेमचन्द के बाद कौन?···तो मैं कहूंगा ताराशंकर बन्द्योपाध्याय। क्या जरूरी है कि उसके बाद हम भगवतीप्रसाद वाजपेयी का ही नाम लें। सब हिन्दुस्तान के ही लोग हैं।

अ० वा० : मैं समझता हूं कि इस तरह का काम अगर किसी भारतीय भाषा में शुरू हो सकता है तो वो हिन्दी है।

साही : अभी इतनी बहस हम लोगों ने मार्क्सवादी आलोचना के बारे में की। मुझे मालूम नहीं कि बंगाल में, और दक्षिण में, केरल में मार्क्सवादी आलोचना में क्या-क्या हुआ—इस दौरान···इन्हीं

राजनीतिक दवावों के दौरान। हमने तो एक राजनीतिक स्थिति विश्लेषित कर दी कम्युनिस्ट पार्टी की लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी केवल उत्तर प्रदेश और बिहार में तो नहीं है, वह अखिल भारतीय रही है और उत्तर प्रदेश और बिहार से ज्यादा प्रासंगिक रही है बंगाल में और केरल में।

उनकी मार्क्सवादी परंपरा भी बहुत पुरानी है।

साही . उनके बुद्धिजीवी भी हैं और सच तो यह है कि प्रासंगिकता तो उनकी है। नामवर की कहां है ? यदि मुझे पढ़ना है उन्हें पढ़ूं। जैसे अंग्रेजी के नाते बड़ी आसानी से हमने लूकाच को गिना दिया जैसे कि अग्रेजी आलोचक हों, क्योंकि जब आप अमरीका और यूरॅप की ओर देखते हैं तो आप सभी देशों को एक ही साथ, एक ही तरह लेते हैं और आप कहते हैं ये, ये और ये और एक पूरा मंडल है, गेलेक्सी है, यहां आप हिन्दी की बात करते हैं और आप तीन 'गंघो' (——) की गिनती कर लेते हैं; फिर आप कहते हैं कि भारत इससे बेहतर पेश करने के काबिल नहीं है और हमने भी विश्लेपित कर दिया कि क्यों नहीं है। यह सब नकली सीमाएं हैं। तो यदि *अब आलोचना लिखते वक्त देश और समाज का ध्यान आप रखें* तो 'भारत' न लिखें; लिखें कि भारत का वो क्षेत्र जिसे हिन्दी भाषा प्रदेश कहते हैं, उसकी स्थिति यह है, तभी बात सही होगी।

अ० वा० : आपको याद होगा जो विस्थापित थे, जो मध्यप्रदेश में उत्तर प्रदेश से आए थे, वो देश की तरह याद करते कि इन गर्मी में अपने देश जाएंगे। हमारे घर में उत्तर प्रदेश को 'देश' ही कहा जाता था।

लेकिन राजनीति के क्षेत्र मे जो चिन्तक हुए है, तिलक और गोखले से लेकर बंकिमचन्द्र तक, वे सब हमारी संवेदना के अंग हैं।

साही : वही तो मै कह रहा हूं कि यह तो हम लोगों का अपना एक अलग से बनाया हुआ घरौंदा है जो साहित्य में कभी न कभी टूटेगा जरूर।

भालचंद्र नेमाड़े : मराठी के ख्यातिलब्ध उपन्यासकार, कवि, समीक्षक। उनकी रचनाएं अपनी प्रासंगिकता और उल्लेखनीयता की वजह से मराठी साहित्य का दस्तावेज़ बन चुकी हैं। उन्होंने अपनी कविताओं के जरिये भाव-संवेदनाओं के सहज बिंबों को संभव किया है।

उनके **कोसला, बिढार और जरीला** (उपन्यास) तथा **मेलडी** (कविता संकलन) प्रकाशित हो चुके हैं। श्री नेमाड़े महत्त्वपूर्ण साहित्यिक पत्र—**वाचा** के संपादक भी हैं।

●

चंद्रकांत पाटिल : मराठी के महत्त्वपूर्ण कवि-लेखक। मराठी में हिंदी और हिंदी से मराठी में अनेक रचनाओं के सार्थक अनुवाद प्रकाशित।

□□

उपन्यास विधा चुनने के पीछे कोई खास वजह ?

लिखने के लिए इस विधा को चुनने के पीछे कोई खास वजह नही है। कहानी और ललित निबंध के अतिरिक्त अन्य समूची विधाएं मुझे अच्छी लगती हैं। कुछ और तात्कालिक कारण होते तो मैंने कुछ भी लिख दिया होता।

उपन्यास लेखन की आपकी पद्धति क्या है ?

जो कुछ मुझे निश्चित रूप से कहना होता है उसको मैं अपने मस्तिष्क मे काफी दिनों तक घोलता हुआ अनुकूल परिस्थिति की प्रतीक्षा करता रहता हूं। अनुकूल परिस्थिति का मतलब है एक बार लिखने के लिए बैठ गये तो किसी भी प्रकार की उसमे बाधा न पहुंचना। बहुधा लिखने के थीम्स दिमाग मे घुले रहते हैं और वर्षों के बाद वर्ष निकल जाते हैं। उदाहरणार्थ अब इमर्जेंसी पर कुछ लिखने की बात है दिमाग में। जब तक एक पूरा महीना खाली नही मिल जाता लिखने के लिए तब तक ऐसे ही चलता रहता है। पर उस समय दूसरी कोई भी परेशानी नही होनी चाहिए। फिर लिखने के पहले ही ब्योरे निश्चित होने लगते हैं। अन्यथा भूलने मे कुशल मैं उस समय अत्यधिक एकाग्र बन जाता हूं। देखी हुई, सुनी हुई समूची घटनाएं, प्रसंग, उस समय के छोटे-मोटे दृश्य, परिवेश सबका सब, स्पष्ट और हूबहू याद आने लगता है। आखिर तक यही महसूस होता है कि खुद ही उस दुनिया में पहुंचे हुए हैं। आसपास की समूची चीजों को भूल जाता हूं। ब्योरे तो इतने होते हैं कि पूछिए मत। यह सब जब जुटने लगता है तब पहले मैं उपन्यास का ढांचा बनाकर उसमे सारा ब्योरा भर देता हूं। ढांचे का कच्चा प्रारूप जब बन जाता है तब उसमे हेरफेर कर उसे पक्का कर देता हूं। फिर लिखने का श्रीगणेश, बहुधा उपन्यास लिखते-लिखते इस प्रारूप मे भी हेरफेर करना पडता है। अनेकों टुकड़ों को आगे-पीछे हटाकर मनमाफिक बिठाना होता है। उपन्यास के पहले मसौदे में यह क्रिया बड़ी तेजी के साथ होती रहती है। कुल मिलाकर यह पहला मसौदा बहुत ही

आनंदप्रद बात होती है। मैं रात-दिन लिखता रहता हूं। हमेशा चाय, तमाखू, बीड़ियां और विविध संगीत दरमियान चलता रहता है। लिखते समय मुझे विशेष थकान महसूस नही होती। प्रायः दिन में लिखना नही हो पाता। आस-पास की किसी भी तरह की तकलीफ बर्दाश्त नही होती। इसलिए रातें अच्छी। सुवह लोग अपने चाहे जैसी आवाजें निकालना शुरू कर देते हैं। उसके पहले सो जाना अच्छा।

'कोसला' लिखने के पूर्व मराठी उपन्यास के बारे में आपकी क्या सम्मति थी? आपके प्रिय मराठी उपन्यास कौन से हैं?

मुझे तो एकमात्र साने गुरुजी ही सबसे बड़े उपन्यासकार लगते थे। अब भी ऐसा ही लगता है। उनके श्याम की बराबरी कर सके ऐसा दूसरा मराठी नायक नही है। भटका हुआ, निराधार, समूची प्रकृति के आयाम जिस को प्राप्त हुए हैं ऐसा यह नायक। जिसने अपनी ही एक दुनिया बसा दी हो ऐसा एक ही उपन्यासकार है—साने गुरुजी। उनके पास अपनी खुद की एक जीवन-दृष्टि थी जो अन्य किसी के पास नज़र नही आती। समाज के सभी स्तरों को सही अर्थों मे स्पर्श करने का काम मराठी उपन्यास ने कही किया हो तो वह मात्र साने गुरुजी के उपन्यासो में ही। इस बावत उनकी पकड बड़ी अद्भुत है। पर सिर्फ समाजवादी शिष्यो की वजह से उनकी गलत तस्वीर मराठी मे आरोपित हुई। चिं० वि० जोशी भी मेरा और एक प्रिय उपन्यासकार है। मेरा तो यही मत है कि उनका समूचा साहित्य ही एक ग्रेट पर क्रूड ढंग का उपन्यास ही है। उनके चिमणराव जैसा जबरदस्त एंटीहीरो मराठी मे हुआ ही नही। प्रस्थापित नायक को उन्होने बड़ा जोरदार धक्का दे दिया। दुर्भाग्य कि लोग उन्हे हास्यलेखक कहते रहे और वे खुद भी धीरे-धीरे ऐसा ही समझने लगे। खांडेकर-फडके पढ़ने का मतलब था मात्र पन्ने पलटना। ह० ना० आपटे तो संक्षिप्त रूप मे भी पढ़े नही जा सकते थे। 'माझा प्रवास', 'स्मृति-चित्रें', 'रणांगण' मुझे अच्छी नही लगी थी। पर मुझे बेहोश कर देने वाली पुस्तकें थी महानुभावों की 'लीलाचरित्र', 'स्मृतिस्थळ', 'सूत्रपाठ' और 'दृष्टांत-पाठ'। और एक 'भाऊसाहबांची बखर'। एक अखंड बृहद् गद्य विधा के रूप मे मैं इन सबकी ओर देखता हूं। मैं जानता था कि इस फॉर्म में जंचनेवाले उपन्यास मराठी में नही के बराबर है। ऐसा मैं तत्कालीन समीक्षा लेखों मे आवेश के साथ लिखता भी था। अपने पाठकों की अभिरुचि को अनेक लेखकों, आलोचकों, प्रकाशकों और अखबारो ने इतना अधिक बिगाड़ दिया है कि अब मुझे लगता है कि अपने पाठकों के लिए उपन्यास लिखने वाले को बहुत बड़ी मात्रा में और कुछ पीढियों तक समझौता करना पड़ेगा। ऐसा लिखना पड़ेगा

जो उनके पल्ले पड़ेगा और यह सब करते हुए इस बात से सचेत रहना कि अपने मूल कथ्य को धक्का न पहुंच पाए यह तो और भी कष्ट का काम है। दूसरा रास्ता नही है। अपने पाठकों की संस्कृति अब भी कहानी-संस्कृति ही है। अपनी-अपनी साहित्यिक संस्कृति मे शोभित हो ऐसी ही रचनाएं लिखी जाती हैं। बिलावजह अत्याधुनिक उड़ानें भरना कोई मतलब नही रखता।

कविता साहित्यविधा के बारे में आप क्या सोचते हैं?

लेखक की हैसियत से तो मुझे लगता है कि कविता सर्वोत्कृष्ट साहित्यविधा है। क्योंकि लिखनेवाले को इस विधा में निर्मित प्रक्रिया की विशुद्ध कल्पना प्रतीत होती है। कविता में आशय, माध्यम और फॉर्म के बीच मे से होते हुए मार्ग निकालना एक चैलेंज होता है। क्योंकि यही पर शैली की कसौटी होती है।

कविता के सम्बन्ध में आपकी क्या प्रतिक्रियाएं है—जब आप कविता लिखते थे तब की और फिर उसके बाद की?

मराठी कविता के पीछे सात शताब्दियों की अखड परंपरा है। अन्य साहित्य-विधाओं की अपेक्षा कविता आगे बढ चुकी है। अपने समय में पु० शि० रेगे अच्छी कविता लिखते थे इसलिए हम उन पर लट्टू थे। उनके पूर्व मनमोहन और मर्ढेकर और बालकवि मुझे प्रिय थे। पर तुकाराम मुझे सबसे बड़ा मराठी कवि लगता है। आज के कवियों मे मुझे अरुण कोलटकर, दिलीप चित्रे, ना० धो० महानोर, मनोहर ओक, सतीश कालसेकर, तुलसी परब, नामदेव ढसाल इतने ही कवि अच्छे लगते हैं। मराठी कविता बहुत आगे बढ चुकी है, अब उसके इस आवर्तन को पूर्ण बनाकर संपूर्ण रूप से बदलना जरूरी है। आज की परिनिष्ठत मराठी मे इसके आगे अब अच्छी कविता पैदा होना मुश्किल ही लगता है। ना० धों० महानोर की पद्धति के अनुसार जब तक लय की नयी-नयी बदिशें और बोलियों के लटके कविता मे नही आते तब तक यह रास्ता खुल नही सकेगा।

'कोसला' के पश्चात् आपके दूसरे बाजीराव पर नाटक लिखने की बात चली थी—उसका फिर क्या हो गया?

फिर कुछ भी नही हुआ। इस बारे मे पढ़ना अधूरा रह गया। समय मिलने पर वह फिर किया ही जायेगा। मराठी मे नाटक लिखना हो तो काफी मेहनत करनी पड़ेगी। क्योंकि एक बाद एक उबाऊ नाटक लिखे जा रहे है। दो ही नाट्य प्रयोग अब तक मुझे अच्छे लगे: 'विच्छा माझी पुरी करा' और घासीराम

कोतवाल। नीलू फुले, राम नगरकर, जब्बार पटेल जैसी जबरदस्त हस्तियां के बावजूद नाटक के स्क्रिप्ट्स इतने फालतू होते हैं कि मराठी में अच्छा नाटक हो ही नहीं सकता। मराठी नाटकों के व्यवहार से तत्काल यही स्पष्ट होता है कि हमारी साहित्यिक संस्कृति कितनी निम्नस्तर की है। कभी एक बार जब मैंने 'तुझे आहे तुजपाशी' का प्रयोग और उसमें पहले हंसने वाले और रो लेने वाले दर्शकों को देखा मैंने, तो मराठी नाटकों का नाम लेना ही छोड़ दिया। इस क्षेत्र के बाल कोल्हटकर जैसे घूसखोरों को भी हमेशा के लिए बाहर निकाल देना जरूरी है।

कहानी के बारे में आपकी राय विशेष अच्छी नहीं दिखाई दे रही है। इसे तो अत्यधिक संपन्न विधा माना जाता है। ऐसा क्यों?

मेरी राय है कि कहानी मात्र पत्रिकाओं को चलाने वाली एक क्षुद्र साहित्य विधा है। कहीं कुछ दो एक चमत्कृतिपूर्ण व्यक्ति या प्रसंग रगड़-रगड़कर बड़े काइयांपन से चार-पांच पन्ने रंगनेवालों के लिए यह छुटकी विधा ठीक है। एक तो कहानी के तीन-चार पन्नों में इतना लघु भाषिक अवकाश लक्षित होता है कि किसी को विशेष कुछ कहना संभव ही नहीं होता। लघुता के कारण अतिशयोक्ति की प्रवृत्ति बढ़ती है। लघुता एक गुणविशेष बनकर रह जाती है। छोटे फॉर्म के लिए तो भाषा पर बहुत जबरदस्त अधिकार होना चाहिए, कविता की तरह। दीर्घ कथा मुझे पसंद है पर मराठी मे इस विधा को किसी ने ठीक तरह से आजमाया ही नही है। मानसिक, भावुक, अस्पष्ट जानबूझकर बेकार तकलीफ देने वाली, 'आसमान मे बादल छाए हुए थे' या 'बाहर धूप चिलचिला रही थी' जैसा आरंभ करने वाली, न ठीक तरह से गद्य ही है न ठीक तरह से पद्य ही, ऐसी कहानियां लिखने वालों की भारी भीड़ मराठी मे इकट्ठा हो गई है। यह एक ऐसे वर्ग का संकेत है जो देह से, मन से और बुद्धि से भी निष्क्रिय है। इसके बावजूद कहानी की व्याप्ति बढाने वाले श्याम मनोहर, बाबूराव बागुल, कमल देसाई इतने ही कहानीकार हैं जो मुझे प्रिय हैं। शिलान्, हिरणेराबे, गाडगिलांच्या कथा ये सिलेक्शन और व्यंकटेश माडगूलकर की बहुत-सी कहानियां अच्छी हैं पर कहानी के दायरे को वे बढा नहीं पाए हैं।

हमारी समीक्षा परम्परा और समकालीन साहित्य समीक्षा को तो आप ठीक मानते हैं या नहीं?

मेरा स्पष्ट मत है कि मराठी मे न समीक्षा-शास्त्र है न समीक्षक। मराठी आलोचना पुस्तकों की समीक्षा के आगे गई ही नहीं। अखबारों के संपादकीय

की तरह यह सारा लेखन तुच्छ और नैमित्तिक हो गया है। क्या तुम बता सकते हो कि बालकवि पर किसी ने कुछ ठीक लिखा है? मर्ढेकर पर इतना होहल्ला होने के बावजूद एक भी क्रिटिक है? पु० शि० रेगे पर? आलोचना मात्र बागड़ू लोगों का बाजार बन गया है। गंगाधर गाडगील, दिलीप चित्रे अच्छी समझ रखते है। अशोक केलकर, रा० भा० पाटणकर साहित्य के सैद्धांतिक पक्ष को ठीक समझते है, बशर्ते कि विश्लेषण अच्छा करते। मराठी समीक्षा की अनेक बीमारियां हैं। हमारी साहित्यिक संस्कृति की भ्रष्टता ही इसका एकमात्र कारण है। परिभाषा की उलझन को भी हम लोग अभी तक सुलझा नहीं सके हैं। १९७८ ईस्वी में भी Symmetry जैसे शब्द के लिए हमें रूढ पर्याय उपलब्ध नहीं होता। अपने समय की साहित्यिक समस्याओं को ठोस रूप से उठाने वाला, कम से कम दो भाषाओं के साहित्य प्रवाहों की तौलनिक जानकारी रखनेवाला और बुद्धिमान व्यक्ति ही प्रॉक्टिसिंग समीक्षक बन सकता है। दुर्भाग्य है कि मराठी मे ऐसा व्यक्ति नहीं है।

> अब कुछ उपन्यास के बारे में। 'कोसला' शैली के कारण चर्चा का विषय बन गया। 'कोसला' की शैली के बारे में जब कुछ कहा जाता है तब समकालीन बोली भाषा का ही जिक्र होता है। मैं तो यह महसूस करता हूं कि असल में उसमें महानुभाव गद्य से लेकर अनेक शैलियों का बड़े ही सूझबूझ के साथ उपयोग किया गया है। 'कोसला' लिखने के पूर्व क्या आपने मराठी गद्य का ध्यानपूर्वक विचार किया था?

मराठी का विद्यार्थी होने के नाते मैंने मराठी गद्य का अच्छा अध्ययन किया था। छात्रदशा में मैं पुरानी मराठी के पीछे पागल ही था। हम बी० ए० मराठी के छात्र तब प्राचीन गद्य मे ही बातचीत किया करते थे। हम समझ चुके थे कि महानुभावों की तरह गद्य फिर कोई नहीं लिख सका है। मैं बड़ा धैर्यपूर्वक प्राचीन पत्र, बखर, भारुड और लावनियां इकट्ठा करता था। उन की वाक्य रचना मे मुझे विलक्षण शैली के नमूने उपलब्ध होते गए। नयी मराठी में उनका नामोनिशां नहीं था। मराठी गद्य परपरा त्रुटित होने के कारण खास मराठी गद्य शैली भिन्न-भिन्न युगों मे बीच-बीच मे उगती हुई गोडसे भटजी, लोकहितवादी, लक्ष्मीबाई टिलक, साने गुरुजी, विनोबा भावे, भाऊ पाध्ये, अशोक शहाणे, राजा ढाले, श्याम मनोहर आदि में इतस्ततः दिखाई देती है। गद्यशैली के बारे में जानबूझकर सोचने की जरूरत मुझे नही पडी। क्योंकि मेरे हमेशा के जीवन का ही यह पक्का मत है कि अखबारों से भाषा बिगडती है। उपहास के हेतु मैंने कुछ समीक्षा लेखों में चिपलूणकर-शैली का प्रयोग किया था। यह भी

अनायास ध्यान में आ गया था कि वर्तमान मराठी गद्य कितना निःसत्व है। फिर एम० ए० मे भाषाविज्ञान पढा तो भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन भी हो गया। भाषा शैली निरंतर बदलने वाली प्रवाही वस्तु है। विविध जाति-पांति के, विविध अध्ययन के, श्रेणियों के, उद्योगों के लोग—स्त्री-पुरुष सब निरंतर लिखते हुए भाषा का प्रयोग करते रहेंगे तभी शैली समृद्ध होगी। मराठी में विशिष्ट शहरी वर्ग ही लिखता आया है इसलिए संभव नही हो सका, शैली का अधूरापन इसी वजह से *अपरिहार्य हो गया है। अब भी भिन्न-भिन्न सामाजिक* स्तरों मे, प्रसंगों मे प्रयुक्त भाषा मराठी मे कम ही दिखाई देती है। बोली भाषा और लिखित भाषा की दूरिया और भी कम हो जानी चाहिए। सभी प्रकार से लिखने वालों मे आत्मविश्वास की आवश्यकता है। मराठी में यह अब भी संभव नही हो रहा है। उन्ही घिसे-पिटे शब्द प्रयोगों की परेशानी चल रही है। *वही रचनाकार अपने आशय के अनुसार अच्छा गद्य लिख सकते हैं* जो विशिष्ट जाति के, उद्योग के आवर्तन से मुक्त हो गए हैं, विशाल समाज के नागरिक बन चुके हैं और जिनकी समझ मे अपने समाज की संकीर्णता आ चुकी है। उदाहरणार्थ, तीर्थ यात्री गोडसे भटजी, ब्राह्मणों पर क्रुद्ध लोकहित-वादी, ईसाई बनी लक्ष्मीबाई, समूची दुनिया को गले लगानेवाले साने गुरुजी, उपहासवृत्ति के चि० वि० जोशी, *सहृदय श्री म० भाटे, तटस्थ* निरीक्षक व्यंकटेश माडगूलकर, 'शिलान' मे गरीबी का चित्रण करने वाले उद्धव शेलके, महानगरीय वर्गसंघर्ष से मुक्त भाऊ पाध्ये, जाति संस्था के विषय में स्फोटक लिखनेवाले बाबूराव बागुल, पुणे की ब्राह्मणी संस्कृति से मुक्त श्याम मनोहर।

आपके उपन्यासों में अपनी पीढ़ी की पसन्द के उल्लेख एकाधिक बार आते हैं। क्या आपकी रचना प्रक्रिया के साथ इसका कुछ अन्तःसम्बन्ध है?

सचिनदेव बर्मन के जमाने का हिंदी सिनेसंगीत, जर्मन क्लासिकल म्यूझिक—विशेषत: मोझर्ट, सत्यजित चॅप्लीन, फेलिनी वगैरह, गोगां, गोया, व्हॅन गो, सेज़ा, दाली वगैरह मशहूर चित्रकार, देश-विदेश की लोककथाएं, जॉज, आफ्रिकन ड्रम्स, यक्षगान, इन्द्राणी रहमान, अली अकबर वगैरह बातें हैं जो अपनी पीढ़ी की तरह मुझे भी अच्छी लगती हैं। इस क्रांति का—जिसमे पेपरबॅक्स का बहुत बडा हाथ है—आरंभ खास अपनी पीढ़ी से ही हुआ। मैं इसे अपना अहोभाग्य मानता हूं कि मै इस वैश्विक संस्कृति के युग मे पैदा हो गया। इस कारण से डायरेक्ट कम्युनिकेशन सहज हो जाता है। पाठक सीधे-सीधे अपना दोस्त ही बन जाता है। मैं मानता हूं कि यह भी एक अच्छी बात है।

'कोसला' में आपने फॉर्म को तोड़कर क्यों रख दिया है?

बहुत कुछ व्यक्तिगत कारण है। ऐसा नहीं लगता कि लिखने के पूर्व फॉर्म को तोड़ने की कोई धारणा मन मे थी। आशय, भाषा और तंत्र के बदलने के साथ फॉर्म भी अनायास बदल जाता है। भाषा के बारे में मैंने अभी बताया था। आशय के विषय में कहना हो तो कहूंगा कि मेरी लंबी छात्रावस्था के कारण मेरा मराठी, अंग्रेजी भाषाशास्त्र, समाजशास्त्र और इसके अतिरिक्त अन्य संबंधित विषयों का बेतरतीब पढ़ना होता रहा। यही कारण है कि किसी भी बात पर एकपक्षीय विचार करने की आदत मुझे कभी नहीं लगी। पर इसी कारण मेरी परीक्षाओं के परिणाम मुझे और मेरे प्रिय गुरुजनों को भी कभी संतोषप्रद नहीं लगें। इस बात को जाने दीजिए। इसीलिए इस परीक्षा *प्रणाली को हटाने के लिए मैंने अपने विश्वविद्यालय में अथक प्रयास किये*, इस बात को भी जाने दीजिये। पर महत्व की बात यह कि बेकार बनकर जब मैं घर चला गया तब मेरी बात सही होने के बावजूद गांव वालों ने मुझे पागल ही कहा। पिताजी ने तो सचमुच ही घर के बाहर निकाल दिया। उस उद्विग्नता का परिणाम फॉर्म के तोड़ने में नहीं होगा तो और क्या होगा ? तो यह एक कारण था। दूसरा यह कि मैं प्रायः कहीं भी बुद्धिमानों के संपर्क में रहना पसंद करता हूं। इससे मित्रों के संपर्क के कारण मेरी चिंतन की कक्षाएं हमेशा विस्तृत होती रहती हैं। उदाहरणार्थ, वसंत पलशीकर जैसे व्यक्ति के साथ एक घंटा गुजार देने के बाद आप को जीने की एक नयी दिशा प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार मेरे सभी मित्र मुझे पारस्परिक विचारों को तोड़नेवाले प्रतीत होते है। उनका प्रभाव मुझ पर साधारण नहीं है। तीसरा कारण यह कि कहीं भी मैं स्थिरता अनुभव नहीं करता। चौथा कारण यह कि मेरी मूल बोली भाषा खानदेशी होने के कारण परिनिष्ठित ग्राथिक मराठी की तरफ बांकी नजर से देखना मेरे स्वभाव का ही हिस्सा है। इसके अतिरिक्त शैली के जो आदर्श मुझे प्रिय थे वे पारस्परिक शैली के साथ मेल खाने वाले नहीं थे। विशेषत. अपने नायक को ये सारे संदर्भ यथातथ्य रूप में कहीं भी समझौता न करते हुए, ईमानदारी के साथ देने के कारण वह संभव हो गया होगा।

> **इन *व्यक्तिगत कारणों का कलात्मक सिद्ध होना संयोग है*, या इन का सम्बन्ध अनायास १९६३ के आसपास की साहित्यिक पृष्ठभूमि से जुड़ गया, यह संयोग है ?**

मुझे नहीं लगता कि १९६३ की पृष्ठभूमि के साथ उसका कुछ संबंध है। इन कारणो का व्यक्तिगत होना ही सही है, मैं उन्हें कलात्मक नहीं मानता। कलात्मकता के प्रति आपका आग्रह ही है तो मेरे इस सिद्धांत की पुष्टि ही होगी

कि जीवन और साहित्य में अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। जीवन के भी कलात्मक आयाम हो सकते हैं।

जाहिर है कि 'कोसला' के पांडुरंग सांगवीकर की वृत्ति नकारात्मक है तो 'बिढार' और 'जरीला' के चांगदेव पाटिल की स्वीकारात्मक। अगर आप लिखने को कंटीन्यूअस प्रोसेस मानते हैं तो इन दोनों वृत्तियों का समर्थन किस प्रकार कर सकते हैं?

बहुतों को 'कोसला' अब अपना ही लगता है। कुछ हैं जिनको वह मुझसे ज्यादा अपना लगता है। इसलिए 'कोसला' के बारे में मैं अब वस्तुनिष्ठ रूप से सोच सकता हूं। और मेरे 'जरीला' के बाद के 'झूल' उपन्यास में चांगदेव पाटिल भी दूर हो जाने से उसके बारे मे भी मैं वस्तुनिष्ठ रूप से सोच सकता हूं। सागवीकर के बारे में कुछ कहना हो तो 'कोसला' लिखते समय मुझे ऐसा नहीं लग रहा था कि अपनी पीढ़ी कुछ विशेष क्रान्ति कर सकेगी। क्रांति करनेवाली पीढी या तो अपने पहले की या बाद की ही हो सकती है यह मुझे और मेरी पीढ़ी के सब को ही महसूस हो रहा था। क्योंकि अपने मे वह कॉम्पिटिटिव स्पिरिट याने कृतिशील संघर्ष करने की ताकत नहीं थी। वैसा परिवेश भी अपने लिए कभी उपलब्ध नहीं हो सका। पर अपने में विचारों के सहारे संघर्ष करने की शक्ति है। 'कोसला' पढनेवालों को यह सब कुछ बहुत ही कबूल हो गया दिखता है। समग्र रूप से देखने पर पता चलता है कि सांगवीकर की भूमिका गहरे नकार की है। गहरा नकार तब मुझे उथले फैशनेबल सकार से ज्यादा आशावादी लगा था। सांगवीकर यथार्थ से बहुत प्यार रखनेवाला जीव है; वह अपने योग्य एक मार्ग निकाल कर उस मार्ग से आनन्द को ढूंढ़ते हुए हंसी-खुशी मे जीता जाता है। आगे चलकर जब उसे पता चलता है कि रास्ता और यथार्थ के बीच खाई बढती जा रही है तब अपने प्रिय यथार्थ से हमेशा के लिए टूट जाना उसे सह्य नहीं होता। इसलिए घबराकर वह फिर लौट आता है और यथार्थ के समान्तर जाने वाला दूसरा रास्ता ढूंढकर जीने लगता है। अपने समाज की असीम पितृसत्ता का निषेध, पच्चीस तक की उम्र के बच्चो की विविध समस्याएं, उनके मानस पर पड़नेवाले सामाजिक दबाव वगैरह बातों के पीछे एक इंप्लाइड आयडीअलिजम था। मेरी यह नैतिकता इस उम्र के सब युवकों की थी। 'बिढार' के समय मैंने मन में सोचा कि इस प्रणाली से अब नही लिखना है। अतिप्रगतिशील लिखने से सिर्फ बुद्धिमान पाठक ही अपने साथ आते है। समाज के साथ सम्बन्ध टूट जाता है। समूह मानस भी महत्वपूर्ण होता है इस तथ्य के प्रति मैं जबर्दस्त रूप से सचेत हो गया। दूर-दराज से आनेवाले 'कोसला' के पाठकों के पत्रों ने मुझमें यह अहसास जगाया

कि उपन्यास के जो बहुविध प्रयोजन होते हैं उनमें से एक समूह सापेक्षता भी है। 'कोसला' पढ़कर खुदकशी करने वाले दो-तीन अतिसंवेदनाशील युवकों के कारण मैं पाण्डुरंग सांगवीकर के पिशाच को पहचान गया। यह तो एक नई जिम्मेदारी पैदा हो गई। दुर्भाग्य की बात कि पाण्डुरंग सांगवीकर और चांगदेव पाटिल में बारह-तेरह वर्षों का अन्तराल पड़ गया जितना कि नहीं पड़ना चाहिए था। मुझे यह बात भी शॉकिंग लगती है कि मराठी में पुस्तकें प्रकाशित होने और पाठकों तक पहुंचने में कितने ही वर्ष लग जाते हैं। मुझे विशेष रूप से इधर के पांच-छह वर्षों के काम को देखते हुए ऐसा लगता है कि अपनी पीढ़ी बहुत कुछ कर सकेगी। 'कोसला' में जो इंग्लाइड आयडियलिजम है वह मेरे इन दो नायकों से बहुत कुछ स्पष्ट होगा ऐसा मैं सोचता हूं। जीने के सर्वश्रेष्ठ मूल्य में नीचे अन्य सभी मूल्यों को रखनेवाला चांगदेव पाटिल और सड़े-गले समाज में भी अपने जीने को सार्थक बनाने की कोशिश करनेवाला नामदेव भोले।

'कोसला' की अपूर्व सफलता के बावजूद आपने करीब बारह वर्षों तक दूसरा उपन्यास नहीं लिखा। ऐसा क्यों हुआ?

१९६३ से १९७५ के अन्तराल के पीछे अनेक कारण हैं। एक तो मैं नहीं चाहता कि एक ही तरह का कारखाना चलानेवाला लेखक मैं बन जाऊं। फिर दरमियान के समय में यायावरी वृत्ति के कारण स्वास्थ्य लाभ नहीं हुआ। नौकरी ईमानदारी से करना मैं बहुत अहम बात मानता हूं। श्रद्धाहीनता को दूर करने का आजकल एक ही उपाय है और वह है कहीं भी कड़ी मेहनत कर, चाहे जो काम कर समय गुजार देना। यह तो नजरिया पहले जैसा है ही कि हर एक चीज पूरी खराब है पर फिर भी अब मेरी ऐसी धारणा बन चुकी है कि हर एक क्षेत्र में बहुत कुछ काम करने की जरूरत है। इस बात को ध्यान में लाने पर कि यथार्थ के साथ समान्तर रह कर अपना स्तर न छोड़ने का यही एक उपाय है, तभी 'कोसला' के बाद का उपन्यास लिखना सम्भव था। और एक कारण था मेरा लिखने का ढंग। अन्य सभी काम, नौकरी और शौक सम्भालते हुए बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा लिखते रहना मुझसे नहीं होता। 'बिढार' के लिए मुझे निरन्तर समय उपलब्ध नहीं हो सका, ऐसे ही एक-एक स्थान मिलते रहे। दरमियान एक साल इंग्लैण्ड में भी गुजारकर देख लिया। वहां से लौटने के पश्चात् बेकारी की छह महीने की अवस्था में मैं 'बिढार' और बाद के उपन्यास लिख सका। इसमें और लिखने के बाद भी प्रकाशक वगैरह के लफड़े। मेरा तो यही अनुभव है कि हमारे प्रकाशकों को इस बात की विशेष तीव्र चिन्ता नहीं रहती कि पुस्तकों के बारे से अपना भी कुछ सास्कृतिक दायित्व है।

'कोसला' की जो शैली सबको पसंद आ गई थी। उसे अपने खुद के ही क्रिटिकल जजमेंट्स के शिकार बनकर आपने 'बिढार' में जानबूझकर उपजाऊ बना दिया है या इसके कुछ और भी कारण हैं ?

पहले यह बताइए कि उबाऊ शब्द-प्रयोग आप किस अर्थ में कर रहे हैं ?

उबाऊ का मतलब है जो पाठकों को बोअरिंग लगे, पाठकों को फालतू लगनेवाली बातों के छोटे-छोटे ब्योरे देकर मूल मुद्दे से बार-बार दूर ले जानेवाली, संत्रास बढ़ानेवाली, जो एकरूप नहीं, डिफ्यूज्ड है ऐसा लगनेवाली, जो इंटरेस्टिंग नहीं है ऐसी—

इंटरेस्टिंग और बोअरिंग इन शब्दों को मराठी साहित्य के सन्दर्भ में बहुत भिन्न अर्थ प्राप्त हो गए हैं। इंटरेस्टिंग को तो बहुत ही खराब अर्थ प्राप्त हो गया है। इसकी वजह से गंभीर परंपरा ही लुप्तप्राय हो गई है और बेहूदा हास्य लिखने वालों की तादाद बढ़ गई है। फिलहाल 'बिढार' को दूर रखना मैं सोचता हूं कि मुझे पसन्द आनेवाले समूचे उपन्यास आप जिस अर्थ में उबाऊ कहते हैं वैसे ही है। जानबूझकर इंटरेस्टिंग बनानेवालों के खिलाफ मैं हूं। किसी भी कलाभेद की तरह उपन्यास का भी एक अवकाश होता है। इस वर्बल स्पेस को भरना होता है। एक बार आपकी थीम कितनी है यह निश्चित हुआ तो उसका आशय, फार्म उस मात्रा में छोटा या बड़ा निश्चित होता है। मेरे उपन्यासों का दायरा ही इतना होता है कि उसमे अनेक बातों के ब्योरे आवश्यक ही होते हैं। मैं नहीं सोचता कि उन्हें टालकर लिखने से मेरा उपन्यास इंटरेस्टिंग हो गया होता। सच देखा जाय तो असली पाठकों की समस्या यह नहीं है कि उपन्यास इंटरेस्टिंग है या बोअरिंग है।

'बिढार' के पहले भाग में मराठी लघु पत्रिकाओं के आन्दोलन के बारे में आपने जो ऊहापोह किया है वह सहानुभूति-शून्य है। व्यक्तिगत रूप से मैं इसे अन्याय समझता हूं। आपकी क्या राय है ?

जब मैं लिखता हूं तब अपने प्रोटॅगॉनिस्ट के अतिरिक्त और किसी के बारे मे सहानुभूति के साथ नही सोचता। एक बार जब आप अपने प्रोटॅगॉनिस्ट को उपन्यास के अवकाश का सन्दर्भ या चौखट मान लेते है तब सभी व्यवहारों की ओर अत्यधिक अलिप्तता से देखना बहुत आवश्यक होता है। मैं मानता हूं कि लघु पत्रिकाओं का कार्य असाधारण है, पर इस आन्दोलन के सभी पहलुओं को प्रस्तुत करते हुए अगर इस तरह अन्यायकारी चित्र प्रस्तुत होता हो तो मैं

मजबूर हूं। मुद्दे की बात यही कि जो कुछ मैंने कहा वह झूठ नहीं है।

'बिढार' में चांगदेव पाटिल बम्बई छोड़कर चला जाता है, इसका मतलब यह तो नहीं कि वह आधुनिक औद्योगिक महानगरीय संस्कृति को नकारता है और जानबूझकर अविकसित संस्कृति को स्वीकार करता है?

चांगदेव आधुनिक औद्योगिक महानगरीय संस्कृति से घृणा करता है। इसके कारण जो त्याग करने पड़ते हैं वे उसे आऊट ऑफ प्रपोर्शन लगते हैं। बम्बई की अखबारी, सिफारिश पर चलने वाली, अच्छे-अच्छे जहीन युवकों के सत्व को उतार लेने वाली, जिसमें भ्रष्टाचार, हिंसा अमानुषता वगैरह घटक समाविष्ट हैं, ऐसी समाज रचना उसको नकारती है या वह उसको नकारता है। व्यक्ति जब अपने लिये किसी प्रकार का मॉरल चॉइस करता है तब उसके चुनाव को सामाजिक नैतिकता की दृष्टि से कुछ दूसरे ही अर्थ मे देखा जाता है। उसकी दृष्टि मे जो चुनाव सही है, दूसरों को वह गलत लग सकता है और जो उसे गलत लगता है दूसरों की नजर में वह सही हो सकता है। अधिक से अधिक समझौता करने के बावजूद चांगदेव अपनी नैतिकता पर जीने वाला व्यक्ति है। इस कोशिश मे वह अविकसित क्षेत्र मे पहुंच जाता है। यद्यपि यह उसके चुनाव के फलस्वरूप होता है, फिर भी यह फल अपना चुनाव नहीं है यह ध्यान में आते ही वह इस गांव को भी छोड़ देता है। इस तरह गले लगाकर छोड़ते रहने की आपत्ति की प्रक्रिया उसका स्थायी भाव बन गया है। अपनी पीढ़ी की चेतना की यह दुःखद विशेषता है कि समूचे पर्याय उसे किसी को भी स्वीकारना संभव नहीं होता। पर्यायों में से एक मार्ग चुनकर भी उसके परिणाम अन्य पर्यायों के परिणामों जितने ही गलत होते है इसीलिए छोड़ते रहने की ऐंक्शन मुझे उम्दगी की लगती है।

'जरीला' में भी चांगदेव आदिवासियों की अरण्य-संस्कृति का बड़प्पन बताते हुए और नगरीय संस्कृति को नकारता है। क्या यह भी गले लगाकर फिर छोड़ते रहने की प्रक्रिया का ही और एक आयाम है?

चांगदेव ऐसा नहीं मानता कि आदिवासियों का रहन-सहन सभी बातों मे बम्बई के रहन-सहन से बेहतर है। 'जरीला' में जो आदिवासियों की अरण्य संस्कृति का हिस्सा है वह चांगदेव की तत्कालीन परिस्थिति के उभार का एक हिस्सा है। बाहर एक प्राकृतिक वैभव के संचय को एक पुराने पर्याय के रूप मे इन लोगों ने सहेजकर रखा है। सुसंस्कृत लोग इस पर्याय को किसी भी समय स्वीकार कर सकते हैं।

आपने इधर आपके New Morality in Contemporary Marathi Fiction वाले लेख में लेखकों की नैतिकता पर काफी बल दिया है। लेखकों की कैसी नैतिकता आपको अपेक्षित है?

उपन्यास विधा मे सामाजिक आशय अनिवार्य होने के कारण बहुत-सी सामाजिक बातें अनायास ही उपन्यास मे चुआती रहती हैं। उपन्यास में इस सारे सामाजिक सन्दर्भ को व्यवस्थित करते समय लेखक को अपने ही मूल्यों का व्यवहार करना होता है। कुछ लेखको के मूल्य मूलत: सामाजिक मूल्यों पर ही आधारित होते है। पर कुछ लेखकों के मूल्य पूर्णत: भिन्न होते हैं। लेखक की लोकप्रियता का या अप्रियता का कारण इसी में मिल जायेगा। साहित्य एक कलाभेद है अतः सामाजिक मूल्यो से अतीत किसी उच्चतर स्थिति का संकेत लेखक के लिए जरूरी होता है। इसी को मैं लेखक की नैतिकता मानता हूं। हम सब के सामने महाभारत के जैसी उच्च कोटि की नैतिकता होने के बावजूद अपने खंडित इतिहास के कारण साहित्य नैतिकता की ऊंचाई तक शायद ही पहुंच पाया है। विशेष रूप मे आज के मराठी समाज मे अपनी नैतिकता को संभालना बहुत ही दुष्कर हो गया है।

आप क्या सोचते हैं कि इसके क्या कारण होंगे?

लोकप्रियता का रोग, पिछड़ी साहित्यिक संस्कृति, ऐतिहासिक या छिछला हास्य लिखना अथवा सिम्बॉलिस्टिक वगैरह लिखना, लैंगिकता का अतिरिक्त प्रयोग, समाज नीति या राजनीति मे बिलावजह कटकर रह जाना या बिलावजह राजनीति मे घुसना, शासकीय पारितोषिक और अखबारी नामवरी के उद्योग जैसे अनेक कारण हैं जो लेखक की अपनी नैतिकता का निर्माण नहीं होने देते।

ऐसा कहा जाता है कि आपने कुछ पात्रों को प्रत्यक्ष जीवन में से सीधे उठाकर उन पर अपने नैतिक आयामों को लाद दिया है जिस से मूल व्यक्तियों के साथ अन्याय हो गया है। इस पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

मैं निश्चित रूप मे नही कह सकता कि यह कहा तक साहित्यिक चर्चा का सवाल बन सकता है। पर एक बात तो यह कि जीवन के पात्रों को सीधा उठाना संभव ही नहीं होता। उनका उतना ही हिस्सा लिया जाता है जितना कि उपन्यास के लिए जरूरी होता है। बहुत से पात्रों में तो देखे हुए अनेक व्यक्तियो का मिश्रण होता है। महत्व की बात यह कि उनके विचारो को आशय सूत्र के अनुसार लेखक को ही पूरना होता है। एक बार जब उपन्यास लेखक की

नैतिकता का स्पर्श पात्रों को हो गया तो वे पूर्णतः उपन्यास के लोग बन गये। उनका बाहर वालो के साथ रिश्ता जोड़ना ही असाहित्यिक होता है। इसके अलावा इस तरह की बात थोड़े पाठकों के साथ होने की संभावना है।

'बिढार' और 'जरीला' में बुद्धिभ्रष्ट समाज के विचारों की दुनिया उनकी अनेक समस्याओं के साथ प्रक्षेपित हो गई है तो फिर आप और बचे हुए दो उपन्यासों में क्या कहना चाहते हैं ?

'जरीला' के बाद 'झूठ' में कुछ ऐसे पहलुओं को उठाया गया है जो पहले दोनों उपन्यासों में नहीं आ सके है, मसलन चांगदेव की अगतिकावस्था, अपने समाज में नारी के प्रति घृणास्पद व्यवहार, अपनी कागजी लोकतांत्रिकता, देश की अवस्था, महाराष्ट्र में आधुनिक युग के साथ ही जिसका प्रारंभ हुआ वह ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर वाद, मराठी लोगों की जातिवादी प्रवृत्तियां आदि।' चांगदेव को समांतर जाने वाला नया नायक नामदेव भोले आता है 'झूल' मे। 'हिंदू', इस अंतिम उपन्यास का भी वही नायक है। भारतीयों को दुनिया में अपनी पहचान हिंदू के रूप में होना आवश्यक है इस बिंदु तक यह उपन्यास पहुंचता है। भारतीयों में पाश्चात्य संस्कृति की, गोरी चमड़ी की कुंठा बड़े भयानक रूप में मौजूद है। हमारे निर्बुद्ध अखबार वालों ने और मूर्ख लेखकों ने इंग्लैंड के बारे मे बड़ी अजीबोगरीब मिथ्स् पैदा कर दी हैं। इस वजह से अपनी पीढ़ी के साथ बड़ा धोखा हो रहा है। 'हिंदू' में मैं इन मिथ्स् को तोड़ना चाहता हूं।

तो क्या अपने इन उपन्यासों के द्वारा आप सामाजिक हितोपदेश लिख रहे कर हैं।

आपने इस बात को कितना भी सटायरिकली कहा तो भी मैं इसे बहुत बड़ी बात समझूंगा कि मेरे उपन्यासों के बहाने कुछ हितोपदेश भी हो गया। असल बात यह है कि १९७८ में भी हमारे पाठक पाखंड, गैर जिम्मेदाराना व्यवहार, लिंगकुंठा, जातिवाद, पश्चिम पूजा वगैरह जैसी अजीबोगरीब बातों को सहते रहते हैं इसे मैं बड़ी भयानक बात मानता हूं। इतना प्रबंध तो मैं अपने उपन्यासों को लिखकर करने ही वाला हूं कि अपने बाद क्यों न हो मराठी में अच्छा उपन्यासकार पैदा हो जाये।

लेकिन आपके उपन्यासों पर पाठकों की अपेक्षित प्रतिक्रिया नहीं हुई तो फिर 'कविता करना ही ठीक' ऐसा कहने के लिए आप मजबूर नहीं हो जायेंगे। या किसी दूसरी विधा को आजमायेंगे ?

सिर्फ पाठकों पर मैं अपना चॉइस निर्भर नहीं रखूंगा। अर्थात् कविता मैं सब

अवश्य ही लिखूंगा जब कविता लिखने योग्य द्रवरूप रसायन मन में उत्पन्न होगा। पर मैं कभी न कभी कहानियां लिखना चाहता हूं छोटे बच्चों के लिए। बड़ों के लिए लिखने की अपेक्षा बच्चों के लिए लिखना अधिक सुखदायक है। इस विषय में भी मैं फिर साने गुरुजी को ही आदर्श मानता हूं।

और मान लीजिए कि यह भी नहीं कर सके तो आपका पुराना समीक्षा का क्षेत्र तो आपके लिए मुक्त है ही।

कुछ कर नही सकूंगा इसलिए नही तो समीक्षा मेरी प्रिय विधा होने के कारण पूर्णतः समीक्षा की ओर मुडना अधिक अच्छा होगा। क्योंकि समीक्षा साहित्यिक संस्कृति के निर्माण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है। मेरी आज तक की समीक्षा लघु पत्रिकाओ मे इधर-उधर कुछ और मौखिक रूप में ही व्यक्त हुई पर अब यह नहीं चलेगा। वैसे आरंभ से ही मैं 'आलोचना' में नियमित रूप से लिखता था। पर हमारे दावतर (संपादक) का समीक्षक का नाम देने का रिवाज नही है इसलिए हमारे अच्छे लेखो का क्रेडिट दूसरों के नाम पर जाने लगा। इसे भी छोड़िए पर दूसरों के खराब लेख अपने नाम से जुड़ जाने लगे ऐसी परेशानी हो गई। समीक्षा निरंतर होनी चाहिए, मैं इस मत का हूं। पर अन्यान्य उद्योगो के कारण नही हो रही है। कुछ नहीं तो मराठी मे अच्छे ग्रंथों के अनुवाद होना भी बहुत जरूरी है, वह काम करेंगे।

मैं ऐसा मानता हूं कि हमारी साहित्यिक संस्कृति समृद्ध करनेवाले दो महत्वपूर्ण आंदोलन हैं, लघु पत्रिका और दलित साहित्य के आंदोलन। मराठी लघु पत्रिकाओं के आंदोलन में आपका सहभाग सर्वज्ञात है। आज आप इस आंदोलन के विषय में क्या सोचते हैं?

लघु पत्रिकाओं ने मराठी में बहुत वडा काम किया है। अपनी दमघोंट साहित्यिक संस्कृति का दभस्फोट इस आदोलन ने किया है। उत्कृष्ट कवि सामने आये हैं। आज के सभी बड़े कवि और अनेक बड़े गद्य लेखक इसी आंदोलन से संबद्ध थे। नये प्रवाह के प्रति आस्था निर्माण करने का महत्व का कार्य इस आंदोलन ने किया है। अब यह आदोलन उतार पर है। इसके अनेक कारण है। एक तो यह कि इस आंदोलन मे अनेक बुद्धिमान लोग थे जिनकी एक दूसरे से कभी नही बनती थी। सब का साहित्य अच्छा था अतः एक दूसरे के बारे में अकारण ईर्ष्या थी। 'सहवीर्यम् करवावहै' यह लिटररी क्लिक्स की धूर्त नीति इनके पास नही थी। दूसरी बात यह है कि बाद में मूर्ख लोगों ने इस आंदोलन का अनुसरण करना शुरू किया तो इसमें से सिर्फ कचरा सामने आने

नगा। इसलिए खरे-खोटे सिक्कों को पहचानने की अतिरिक्त परेशानी को उठाना पाठकों के लिए मुश्किल होता गया। तीसरी बात यह कि प्रस्थापित पत्रिकाओं ने भी १९७० के आसपास अचानक अबाउट टर्न कर नये-नये हस्ताक्षरों को तुरंत छापना आरंभ कर दिया तो लघु पत्रिकाओं की आवश्यकता ही अनायास कम होती गयी। फिर भी मुझे प्रामाणिकता के साथ लगता है कि यह आंदोलन जारी रहना जरूरी है।

इस आंदोलन के बहाने इस्टेब्लिशमेंट और एंटिइस्टेब्लिशमेंट पर बहुत कुछ तूफान खड़ा हुआ। इन दोनों में निश्चित सीमा रेखा आप कहां खींचते हैं?

मुझे नहीं लगता कि अपने समाज मे इस्टेब्लिशमेंट और एंटिइस्टेब्लिशमेंट जैसी सामाजिक प्रवृत्तियां स्पष्ट रूप मे दिखाना संभव होगा। अपने लघु पत्रिकाओं के आदोलन से लोगों के ध्यान मे भी यह उलझन आखिर तक नहीं आ सकी। अपने समाज की संरचना ही ऐसी है कि दो-चार साल इधर-उधर कुछ मामूली बोलने से और इस्टेब्लिशमेंट के आधार से ही एंटिइस्टेब्लिशमेंट किस चिड़िया का नाम है इसे कुछ समझा जा सकता है। हम शहर के रहने वाले एंटीइस्टेब्लिशमेंट का उद्घोष करते हैं तब इस बात को भी भूल जाते हैं कि शहर मे रहना भी इस्टेब्लिशमेंट का ही हिस्सा है। इस्टेब्लिशमेंट और एंटीइस्टेब्लिशमेंट के ऊपर भी एक तत्व है विरोध का, विद्रोह का। एक बार तत्व का स्वीकार कर लिया कि सारी उलझन मिट जाती है। सच तो यह है कि जो विरोध करना चाहता है वह स्वाभाविक ही उस मार्ग को चुनता है कि जिससे उसका विरोध और उग्र हो सके। किसी भी बात का फॉर्म नहीं, स्पिरिट प्रधान होता है। अच्छा लिखना सबसे बड़ी चीज है, फिर इस तरफ का लिखना हो या उस तरफ का। पर हां, अपनी खुद की नैतिकता संभालना जरूरी है।

दलित साहित्य आंदोलन के बारे में आपसे स्पष्ट मत की अपेक्षा है क्योंकि इस विषय पर दलितेतर मंडली हरदम गोलमाल बोलती आ रही है।

दलित साहित्य को मैं एक सामाजिक आदोलन के रूप मे बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूं। इस आदोलन के संचालक श्री म० ना० वानखेडे और उनके सहकारी अच्छी साहित्यिक समझ रखते थे। इसमे फिर राजा ढाले, नामदेव ढसाल, गंगाधर पानतावणे जैसी उत्साही मंडली के आने से दलितों को दलित साहित्य के रूप मे एक नया व्यासपीठ उपलब्ध हुआ। मराठी समाज में क्रांतिकारक

परिवर्तन हुआ कि दलितों की भाव-भावनाएं भी अन्यों की तरह महत्व रखती हैं। दलितों मे लिखने का आत्मविश्वास निर्माण हो गया, मराठी साहित्यिक संस्कृति के लिए यह आदोलन बहुत उपयुक्त सिद्ध हुआ। अगर मराठी मे अदृश्य रूप मे 'ब्राह्मणी साहित्य' का अस्तित्व है तो फिर दलित साहित्य के होने मे ही क्या आपत्ति है? महाराष्ट्र मे साहित्य के जितने भी व्यासपीठ हैं—समाचार पत्र, पत्रिकाएं, साहित्य परिषद्, विश्वविद्यालय आदि सब ब्राह्मणी साहित्य के प्रति समर्पित थे। दलितों के बाबूराव बागुल जैसे अच्छे-अच्छे लेखकों को जितनी प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए उतनी नही मिल रही है। इसके विपरीत बेकार ब्राह्मण साहित्यिक का भी सम्मान होता है। इस दृष्टि से मैं सोचता हूं कि दलित साहित्य आंदोलन को बढ़ना चाहिए। सच देखा जाये तो आज महारो मांगों की भाषा ही सही अर्थों में सतेज भाषा है। उसमे देसी जोरावरी है। इन गुणों का स्पर्श पहले कभी मराठी को नही हुआ था। पर आगे चलकर इस आंदोलन का जातिवाद बढ़ाने के लिए इस्तेमाल हो सकता है। इस आदोलन की सामाजिक और साहित्यिक रेखाओं को नजर अदाज कर देना ठीक नही होगा। साहित्यिक दृष्टि से तो दलित साहित्य जैसी संज्ञा का प्रयोग भी नही होना चाहिए। बहुत से मीडिऑकर दलित साहित्यिक जाति की पूजी पर साहित्य को खड़ा करने की कोशिश कर रहे है, उनको समझा देना जरूरी है कि दलित साहित्य जैसी कोई चीज नही होती। इसके अलावा इस गलतफहमी को भी दूर कर देना चाहिए कि अपनी जाति और अपने साथ हुए अत्याचारो के साथ ही साहित्य का आशय समाप्त होता है। दलितो द्वारा लिखित साहित्य मे शायद ही कठोर आत्मपरीक्षण होता है। विस्तृत सामाजिक दृष्टि भी नजर नही आती। इन सीमाओ के कारण उपन्यास जैसी साहित्य विधा का उनके द्वारा लिखा जाना संभव नही दिखाई देता। कविता की धारा भी शीघ्र ही सूख जायेगी जब तक दलित लेखक विस्तृत सामाजिक आशय को व्यक्त करने वाला साहित्य नही लिखते तब तक इस आंदोलन को जारी रखना चाहिये। फिर अपने आप ही उसकी जरूरत नही रहेगी।

आप कभी किसी साहित्य सम्मेलन में उपस्थित थे।

नही था। पर एक बार वह सब कुछ देख डालने का इरादा है।

सम्मेलन का मूलभूत उद्देश्य साहित्य को समाजोन्मुख करना होता है। तब आप जैसे साहित्यिक संस्कृति के विषय में जागरूक लोग इससे दूर रहकर क्या प्राप्त करते हैं।

वहां जाकर भी हम कुछ कर सकेंगे ऐसा नहीं लगता। क्योंकि इस तरह के बाजार लगा कर साहित्य समायोजन होगा ऐसा मैं नहीं सोचता। पर सम्मेलन से कुछ बिगड़ता है ऐसा भी मुझे नहीं लगता। पर शौकीनों, तमाशबीनों के लिए ऐसी भी कुछ मजे की बातें समाज में होनी चाहिए। पर असली साहित्य प्रेमियों को वहां जाकर दो दिन बेकार गंवाकर, वही मनहूस भाषण, चर्चा और सबसे बड़ी बात तो वही मनहूस सूरतें देखकर साहित्य के बारे में अपना मत खराब नहीं कर लेना चाहिए।

इस स्थिति में आप कौनसा पर्याय सुझायेंगे ?

अपने यहां के पुराने मेलों जैसा कुछ नया उपक्रम शुरू होना चाहिए जिसमें रचनाकारों का पाठकों के साथ लाइव कॉन्टेक्ट होगा, कुछ विचारों को समक्ष बोलकर प्रस्तुत किया जा सकेगा, पाठकों के मत लेखकों के ध्यान में आ जायेंगे। वहां सभी लेखकों को खेमे लगाने दीजिए, मिलने वालों को चाहे जहां दो-चार घंटों तक बैठने दीजिये, कुछ इधर-उधर घूमने दीजिये, साहित्यकारों को देखने दीजिये, सभी प्रकार की पुस्तकों की दुकानें वहां मौजूद हों, कुछ साहित्यिक मनोरंजन के साधन अच्छे चलचित्र, हास्य लेखकों के हंसाने के प्रयोग, गुटवार काव्यपाठ के कार्यक्रम निरंतर चलते रहते हों, सब को कविता पढ़ने का अवसर मिले, सब को आजादी हो। सभापति, स्वागत सदस्य जैसे झगड़े बिलकुल न हों, ऐसे साहित्य मेलों को संजीदगी के साथ शुरू करना ही मेरे मत में एक पर्याय हो सकता है पर मैं यह भी जानता हूं कि इस सभापति, स्वागताध्यक्ष के न होने से और फिर रहने-खाने का खर्चा जिसका उसने करने से इसमें कोई रुचि नहीं लेगा।

पहले लघु पत्रिका वालों ने और इधर कुछ छोटे-बड़े लेखकों ने शासन की तरफ से दिये जाने वाले पारितोषिकों के बारे में काफी कुछ लिखा है, इस पर आपकी क्या राय है ?

मुझे लगता है कि शासन को इस तरह पारितोषिक नहीं देने चाहिए। व्यक्तिगत संस्थाएं यह काम करती हों तो चल भी सकेगा। पर शासकीय पारितोषिक चलते ही रहने वाले हों तो उनकी प्रणाली शीघ्र ही मूलतः परिवर्तित होनी चाहिए। पाठशाला के पारितोषिक के समान ये पारितोषिक नौसिखिये लोगों को ही दिये जायं। इसमें भी मशहूर बुजुर्ग शरीक होते हैं यह उनकी बेहयाई की हद हो गई। 'बिढार' में मैंने इसके लिए एक उत्कृष्ट दृष्टांत दे दिया है। महाराष्ट्र शासन के पारितोषिकों में मराठी का जातिवाद, आंचलिकता और भाई भतीजावाद ये नित्य दिखाई देनेवाले सद्गुण प्रकर्ष प्राप्त करते हैं। मराठी

साहित्य के विषय में कुछ करने का शासन को यदि शौक ही है तो तुरन्त राज्य का कारोबार मराठी मे शुरू कर दे, किसी साहित्यकार को कम से कम एक सालभर उसके व्यवसाय से मुक्त कर उसे लिखने के लिए सुविधाए प्राप्त करा दे, या विश्वविद्यालय में 'रायटर इन रेसिडेंस' जैसी योजना शुरू करे। इससे लेखक को कुछ अवकाश प्राप्त होगा—लिखने-पढने के लिए, उसका ज्ञानभण्डार भी भरता रहेगा और अपने-अपने संकीर्ण दायरों के बाहर की दुनिया से साक्षात्कार होगा।

आपके 'वाचा' में लिखे "आजकल लेखक का लेखकजी क्यों बनता है" शीर्षक लेख में आपने इस बात पर दु.ख व्यक्त किया था कि आदि लेखक का उग्र बिम्ब नष्ट हो रहा है। आपके इस संकेत के बावजूद कि असली लेखक को स्वैर रूप से जीना चाहिए, आप स्वयं अनेक वर्षों से प्राध्यापक का सुरक्षित व्यवसाय कर रहे है। इस विसंगति का समर्थन आप किस प्रकार करते हैं ?

लेखक का लेखकजी वाले निबन्ध मे मैंने लेखको ने अपनी इच्छा से पाले हुए रोगों की चिकित्सा कर अंततः यह निष्कर्ष निकाला था। तो भी वह मुझे प्रतीत हुआ सत्य का एक रूप था। इस बात को तो स्वीकार करना ही होगा कि होमर, व्यासादि के आगे लेखकों का स्खलन हो गया है। मैं स्वयं एक लेखक हूं फिर भी इसी स्खलनपरंपरा का आधुनिक दुनिया का एक नागरिक भी हूं। आदि लेखक बन जाने की हिम्मत मुझ मे नही है। इस युग में यह संभव है ऐसा भी मुझे नही लगता। नागरिक की हैसियत से जिन बातों को करना चाहिए उन्हें मैं बाकायदा करता हूं। जीने की इस मूलभूत लय को जो प्राप्त नही कर सकता उसे आज लिखने के लिए उपयुक्त जीने पर आधारित तंत्र प्राप्त होगा ऐसा मुझे नही लगता। रेल में या पोस्ट मे काम करते हुए वहा सिर्फ तनखे का संबंध रख इधर लिखते रहने वाले ज्यादा से ज्यादा बेकार साहित्य पैदा करते है इस तथ्य को अनेक मराठी व अंग्रेजी लेखकों के आधार से सिद्ध किया जा सकता है। इसके अलावा मुझे इस प्रकार स्वैर जीना और अच्छा लिखना इनका संबंध प्रस्थापित करना भी मंजूर नहीं है। क्योंकि आज इसमें भी धोखाधड़ी हो रही है। यह मामूली बात नही है। इसे ईमानदारी, आत्मनिष्ठा वगैरह जैसी मूल्यवान् बातो का संदर्भ है। मनुष्य इन्ही बातों से अपनी युवावस्था में जिंदगी से प्यार करने लगता है। समाज ही लेखकों को कुछ सुविधाएं प्रदान करे तो बात समझ मे आ सकती है पर उनके अभाव में लेखकों ने गैर-जिम्मेदाराना ढंग से उन्हे हासिल करना सुख-लोलुपता का एक घृणास्पद प्रकार है। दरिद्र समाज का यह एक्सप्लॉइटेशन ही है।

आपातकाल में आपका क्या रोल रहा ?

अपनी हद तक मै कह सकता हूं कि मैने नागरिक की हैसियत से जो जिम्मेदारियां थीं उनको ठीक तरह से निभाया है। उस जमाने मे मैं मराठवाड़ा विश्वविद्यालय प्राध्यापक संघ का अध्यक्ष था और मैंने विश्वविद्यालय मे इमरजन्सी को नहीं आने दिया। अध्यक्ष न होता तो मैं इतना भी नहीं करता। मुझे लगता है कि हर एक ने यदि अपना रोल ठीक तरह से निभाया तो भी सारे सवाल यू सुलझाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, "आम चुनाव ले लीजिये, समय अच्छा है" इस प्रकार की झूठी रिपोर्ट इंदिरा गाधी को देनेवाले इंटेलिजन्स के जो अज्ञात लोग हैं—उन्होंने अपना रोल ठीक निभाया। मतदाताओं ने उचित मतदान कर अपना भी रोल ठीक निभाया। इलेक्शन मशिनरी ने भी अपना रोल ठीक तरह से निभाया। और आपातकाल नही रहा। रही जानबूझकर कैद करवाकर जेल जाने जैसी कुछ अन्य बातें, जो मध्ययुगीन आदर्शवाद के अनुकूल थी। शासन ने भी आपातकाल मे ए० बी० शहा, वसंत पलशीकर, अनिल अवचट जैसे भयंकर लोगों को पकडा ही नहीं, उन्हें एकदम मुक्त रख दिया। मुद्दे की बात इतनी ही कि नागरिक का अपना रोल निभाना सर्वाधिक महत्व का है। मुझे लगता है कि अधिकार और उत्तरदायित्व का समन्वय कर हर एक ने उत्थापन के दीर्घकालीन कार्य का अपना हिस्सा स्वीकार करना पर्याप्त होगा।

आपातकाल में साहित्यकारों को क्या करना चाहिए था? पर्याय से यही पूछना है कि राजनीति और साहित्यकार के सम्बन्धों के बारे में आप क्या सोचते हैं ?

लेखक की हैसियत से आपातकाल की ओर देखते हुए मुझे बहुत-सी बातें इंटरेस्टिग लगती है। एक तो मुझे ऐसा नही लगता कि आपात स्थिति सहसा पचीस जून को आ गई हो। नेहरू के जमाने मे भी आपात स्थिति जैसी बातें होती रहती थीं। पार्लमेंट उस समय भी हां मे हा मिलाने वालों की थी। पार्लमेंट की मान्यता से निर्णय लेना मात्र फार्स था। दूसरी बात यह कि हम उच्चभ्रू सुशिक्षितों ने इस तरह के अनेक भ्रम पाले है कि राजनीति का अर्थ है गुंडागर्दी, स्वार्थ और सत्ता-पिपासा। हमारे बहुत से साहित्यकारों को राजनीति से अस्पृश्य रहने में अभिमान की भावना होती है और समर्थन इस प्रकार किया जाता है कि बाकी सब लोग स्वार्थ के हेतु राजनीति मे प्रवेश करते हैं। राजनीति और साहित्य एक ही समाज के दो पहलू होने के कारण दोनो में हार्मनी का होना निहायत जरूरी है। लेखकों को चाहिए कि वे राजनीति को रिस्पेक्ट

दे द। हमारे साहित्यकारों ने यह कभी किया ही नही। इसी वजह से उन्हें भी राजनीति मे कोई कीमत नही है। आपातस्थिति के लागू होते ही लेखको ने लड़ाई शुरू करना हास्यास्पद है। अब जनता पक्ष के सत्ता मे आने पर उनका लड़ाई करना भी हास्यास्पद है। लेखकों को चाहिए कि वे सभी घटनाओ की ओर उदारता से देखें। यही महत्वपूर्ण बात है। मृणाल गोरे को कोढी औरतों के साथ रखा था यह सुनकर अन्य मध्यवर्गीय सफेद-पोशों को जैसा धक्का लगा वैसा कुछ मुझे नही लगा। क्योंकि इस बात की ओर तो कोई भी ध्यान नही देता कि बहुत पहले से अनेक गरीब औरतों को पुलिस इससे भी बड़े भयानक रूप से सताती रही है। हरएक व्यक्ति के साथ इंसान के लिहाज मे पेश आना जरूरी है। किसी भी बडे देश के शासन को कुछ बातें बहुत दृढता के साथ करनी होती हैं। कुकर्म करने वाले को दहशत मे रखना, सिर्फ तनखा बढ़ाने के लिए आते-जाते हडताल का हथियार उठाने वाली शहरी संगठन शक्ति पर काबू रखना, झुडशाही से लोगो को टेरराइज करने वाली कायरों की शूर सेना पर पाबंदी लगाना, अडंगा डालने वाली नौकरशाही पर नियंत्रण रखना, शिक्षा संस्थानों के गडबडझाले को दूर करना, और हर साल जिन पर गर्भ-धारणा और जचगी लादी जाती है ऐसी गरीब औरतो के लिए परिवार नियोजन जैसी कुछ बातें किये बगैर अपने देश का कोई भविष्य नही रहेगा। इतना भी अगर इंदिरा गाधी आपातस्थिति मे कर देती तो लॉर्ड बेंटिग के बाद उनका नाम सुधारक के रूप मे लिया जाता। अपने यहा नब्बे प्रतिशत लोगों को किसी न किसी रूप में निरंतर ही आपातस्थिति है। इस कागजी जनतंत्र के अधि-कार और लाभ उनके लिए नही है। इसीलिए इंदिरा गाधी का उनका निकाल लेना और जनता शासन का उनको ढोल बजाते हुए फिर से दे देना इस बात के बीच लेखको को अकारण अपना 'जोहार' करने की जरूरत नही है। आपात-स्थिति का असली कारण है अपना कागजी जनतंत्र। इसीलिए आपातस्थिति और अपना जनतंत्र दोनो जुड़वा बच्चे है। उस शासन की सत्ता पर आना जरूरी है जो आज का पूंजीवादी विधि-विधान और पुरानी न्याय व्यवस्था को फेंक दे अन्यथा अपने हिंदू लोकतंत्र की मात्र मंदिर जैसी और मूलभूत अधि-कारो को उसके पत्थर जैसी पूजा करने का पिछले तीस सालो से जो रिवाज चल रहा है वही चलता रहेगा। समस्याओं को सुलझाना ही न हो और सिर्फ जनतंत्र को बचाना हो तो बात दूसरी है। मुझे लगता है कि यहीं पर लेखक का रोल शुरू होता है। सिर्फ सालभर या छह महीने के लिए आपातस्थिति के खिलाफ लडना और फिर खामोश बैठ जाना, ये दोनो काम लेखको के नही हैं। लेखकों को अपना लिखने का रोल ठीक तरह से निभाना चाहिए। सामा-जिक रूप से सतर्क रहते हुए व्यक्ति की मूलभूत स्वाधीनता की चेतना समाज

में निर्माण करना जरूरी है। ऐसे लेखकों से ही उस समाज की साहित्यिक संस्कृति ठीक हो जाती है। ऐसी संस्कृति में ही अच्छे लेखक और अच्छे राजनीतिक नेता अनायास पैदा होते हैं। राजनीति के नेता किसी देश की साहित्यिक संस्कृति का सकेत हुआ करते हैं। महाराष्ट्र के आज के तमाम राजनीति के नेताओं की क्षमता देखने के बाद मराठी साहित्यिक सस्कृति की क्षुद्रता आपकी समझ में आ जायेगी।

[मराठी से अनुवाद : निशिकांत ठकार]
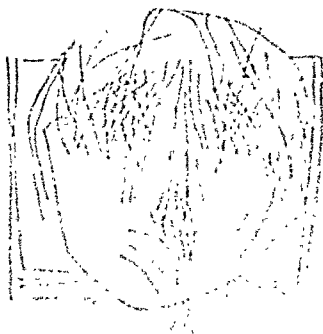
संपूर्ण आविष्कार और वास्तविक संघर्ष की कल्पना

रफ़ाएल अलबर्ती ने बहुत छोटी उम्र से ही चित्र बनाना शुरू कर दिया था। कोई उन्नीस वर्ष की उम्र में कविता लिखना शुरू किया। तभी से निरंतर कविताएं और नाटक लिख रहे हैं। स्पेनिश गृहयुद्ध और प्राइमोदारवेयरा की तानाशाही के विरुद्ध संघर्ष में हिस्सा भी लिया। उन्हें १९६५ में लेनिन शांति पुरस्कार भी मिला।

●

एवजेनिया वोल्फ़ाविज अर्जेंटीना में जन्मी लेखिका हैं और फ़िलहाल पेरिस में रह रही हैं। उन्होंने युजीन आयनेस्को और जूलियो कातीज़ार आदि से इंटरव्यू किये हैं।

अपने युवाकाल में आप अवांगार्द के सदस्य रहे हैं तब के अवांगार्द की तुलना में आज के अवांगार्द पर आपके क्या विचार हैं ?

मैं नहीं सोचता कि उनकी तुलना की जा सकती है। १९१८ से १९३० के अवांगार्द या कह लें उससे भी पहले चित्रकला में—जहां वह पिकासो के देमो-जेली द लवियां से शुरू हुआ—सही माने मे ओजस्वी था। वह आविष्कार की व्यापक उत्तेजक चेतना का काल था। उसने हमारे काल में संगीत, चित्रकला, कविता और वास्तुकला के क्षेत्रों मे महान दृष्टियां उपलब्ध कराईं। जरा कल्पना कीजिए, कैसे असाधारण लोग थे वे आकारहीन अमूर्त कलाओं के सर्जक। पिकासो और ब्राक को लीजिए, या मातिस या कान्दिन्स्की और मालेविच को, जो जरा बाद में आये; स्त्राविसकी और शोएनवर्ग जैसे चित्रकारों को लीजिए, वे सच्चे हीरो (नायक) थे। और उसके बाद 'दादा' वादी आंदोलन, जो एक अपूर्ण चुनौती से भरा था। और सुरियलिज्मातो वह काल था, वह पीढ़ी थी जिसको मैं 'बिलांग' करता हूं। यह सही है कि अलग-अलग देशो मे उनका जैसा विकास हुआ उसमें भेद था लेकिन वह एक विश्वव्यापी बदलाव था जिसने अतीत को ताक में रखकर एक नई सर्वव्यापी दृष्टि को जन्म दिया। सबसे गहरा उद्वेलन हुआ दृश्य कलाओं में—वे चित्रकार ही थे जिन्होंने लोगों से ऐसी चीजों की प्रशंसा करवाई, जिनको वे रत्ती भर नही समझते थे और जो अंतत. कला की एक नई दृष्टि से अभ्यस्त हो गये। बाद में संगीत मे, कविता मे और बाकी सभी चीजों मे नये के प्रति यह स्वीकार भाव जागा। बेशक आज के अवांगार्द का भी अपना महत्व है। अपने परिवर्तत खोजी चरित्र के कारण अवांगार्द हमेशा महत्वपूर्ण होता है—लेकिन अब वह संघर्षरत नहीं रहा है, संघर्ष खत्म हो चुका है, कोई बात अब किसी को चकित नही करती। मेरे जमाने मे लोग एक दूसरे को ठोकते थे, नाटकघरों में लोगों के सिरों पर कुर्सियां टूटती थी, प्रतिक्रिया तीव्र थी क्योंकि लोग नई कला से अपने को अपमानित अनुभव करते थे। आज हमेशा की तरह असाधारण कलाकार है, नई धाराएं हैं, नई सामग्री, नई वस्तुओं की रचना हो रही है। मैं अर्जेंटिना के बारे में सोच रहा हूं, जहां मैं

बरसों रहा, कई चित्ताकर्षक कलाकार वहां हुए है—जैसे सर्वाधिक महत्वपूर्णों में से एक नाम गिनाने के लिए ले लें, जूलियो लेपाकी। संयुक्त राज्य अमेरिका में कई अच्छे कलाकारों के अलावा हैं मदरवेल, यास्पर, जान्स। लेकिन आज की अधिकांश कला तक़रीबन प्रतिष्ठित मानी जाती है। अवांगार्द संपूर्ण आविष्कार और वास्तविक संघर्ष की कल्पना करता है लेकिन वास्तव मे आज के कलाकारों को बहुत कम संघर्ष करना पडा है। आज के कलाकार इस उपभोक्ता समाज द्वारा (यह एक शब्द है जो मुझे खास पसंद नही) जिसमें बहुत सारी चीजों का बहुत ज्यादा मूल्य आंका जाता है, जल्दी ही खासे डटके पुरस्कृत किये जाने लगते हैं। चित्रकार थोड़े समय में ही अपनी कृतियां असाधारण ऊंचे दामों पर बेचने लगते हैं, जबकि कवि बहुत थोडा कमाते है, और अवांगार्द तो उससे भी कम। इस बात को सिद्ध करने के लिए हमें दूर नही जाना होगा। मैं एक लंबे समय से प्रकाशित होता चला आ रहा हूं लेकिन आज भी अगर मैं एक कविता पुस्तक तैयार करूं तो कोई बड़ा प्रकाशन संस्थान मुझे अधिक से अधिक पांच-छह लाख लीरे (आठ सौ से हजार पौंड) की अग्रिम राशि देगा जो कि रायल्टी से काट ली जावेगी। दूसरी ओर आज ऐसा कोई चित्रकार नही है, और मैं दोयम दर्जे के चित्रकारों की बात कर रहा हूं, जिसके लिथोग्राफ आसानी से ढाई या तीन लाख लीरे मे न बिक जावें, चित्रों की बात ही क्या करूं। यह मेरे साथ होता है। मैं ढेरों लिथोग्राफ तैयार करता हूं और उन्हें बिना किसी खास कोशिश के बेच लेता हूं। अपनी कविता के बूते नही, मैं अपनी चित्रकला के बल पर जीविका कमाता हूं। इस संबंध मे बात करना जरा भोंडा लगता है, लेकिन इन दिनो मुझे अपनी पुस्तकों के आर्थिक पक्ष की चिंता नही करनी पडती क्योंकि मैं जानता हूं कि मैं अपनी दूसरी चीजो की कमाई से बसर कर लूगा। कला और दूसरी चीजों के लिए किये जाने वाले भुगतानों मे यह असाधारण असंगत अनुपात, मैं समझता हूं, यह जो हो रहा है वह तमाशा है। एक दिन ताश का यह घर भड़भड़ाकर गिरेगा और अचानक इन बेशकीमती बहुमूल्य कला-कृतियों का मूल्य दो सौ लीरें रह जायेगा।

आपने बताया कि आप कई बरस अर्जेन्टिना में रहे। आपका वहां जाना कैसे हुआ?

मैं सन् १९३९ से स्पेन से बाहर रहा हूं। हमने स्पेन छोड़ा जबकि गृहयुद्ध तक़रीबन खत्म हो चुका था, फ्रेंको के मेड्रिड प्रवेश के लगभग पंद्रह रोज़ पहले बड़ी मुश्किल से हम अफ्रीका पहुंच पाये। फिर युद्ध छिड़ गया और जर्मनो ने स्पेनी शरणार्थियों को फ्रेंको से स्पेन वापस भेजना शुरू कर दिया, जहा उन्हें गोली मार दी गई। हम किसी तरह अर्जेंटिना जाने वाली एक नाव पकड़ने मे

सफल हो गये। मुझे याद है उसका अर्जेंटाइनी नाम था—मेन्डोजा—गोकि वह थी फ्रांसीसी। हम अर्जेंटिना में २४ बरस रहे। हम, मारिया तेरेसा और मैं, तमाम जिंदगी बिना पासपोर्ट रहे इसकी वजह से हमने बड़ी मुसीबतें झेली। हमारी दुनिया खत्म हुई उरुग्वे और चिली मे। बाद मे स्थितिया बदली, और हम वे जरूरी कागजात पाने में सफल हुए जिनकी बदौलत आज हम यहां है। लेकिन हम कभी अमरीका नहीं जा सके। अर्जेंटिना के एक प्रकाशक को तो अमेरिकी वीसा मिलने म इसीलिये कठिनाई हुई कि उसने मेरी कुछ पुस्तकें प्रकाशित की थी। यह तकरीबन दस बरस पहले हुआ जबकि हम ब्यूनसआयर्स मे ही रह रहे थे—पता नही अब हालात क्या है लेकिन तब ऐसी हालत थी। लिंकन सेंटर में लेखकों और कवियों का एक सम्मेलन था जिसे अमेरिकी प्रगतिशीलो के एक सबसे सशक्त दल ने आयोजित किया था। मैं आमंत्रितों में से एक था। नेरुदा को अनुमति मिल गई, और मेरे ख्याल से यह अच्छा हुआ। वह उस सम्मेलन में असाधारण रूप से अच्छा बोले। मैं सोचता हूं सवाद से कभी भी कतराना नही चाहिये। जब तक कोई हमे अपने विचार स्वतंत्रता से रखने की छूट देता है, तब तक हर किसी को कही भी जाकर उन लोगो से बात करने के लिए तैयार होना चाहिये जो हमारे जैसा नही सोचते। मैं अपने घर मे हर उस व्यक्ति का स्वागत करता हूं जो मुझसे बात करना चाहता है, उन में स्पेन से आने वाले भ्रमित लोग और कई मेरे विचारो के विरोधी तक होते हैं। स्पेन के कितने ही युवा व्यक्ति, जहां हर चीज अपराध है, जहा हर बात गुप्त रूप से होती है, जिन्होंने किसी को स्वतंत्रता से बात करते नही सुना, उनके लिये मुझसे मनमानी बातें करना अच्छा है। जो लोग मुझसे मिलने आते है उनमें कुछ तो उत्सुकतावश आते है। शुरू-शुरू मे तो कुछ ऐसा सोचते हैं जैसे अब मैं उन्हें ज़िंदा ही लीलने वाला हूं, कि मैं उनकी प्रतीक्षा कर रहा हूं, मुह मे चाकू छिपाये हुए। जब उनकी आशंकाएं निराधार सिद्ध हो जाती हैं तब वे अमूमन मेरे घर से बहुत खुश रवाना होते हैं, और कुछ तो उसके बिल्कुल विपरीत सोचते हुए जाते हैं, जो वे अति वक्त सोचते आए थे। तो मैं कह रहा था, किसी को भी बातचीत का निमंत्रण ठुकराना नही चाहिये, फिर चाहे वह कही से आये। जो लोग आपके विचारो से बिल्कुल असहमत होगे वे आपको आमंत्रित ही नही करेंगे। लेकिन लिंकन सेंटर जैसी स्थितिया भी आती है जहां के आयोजक भले लोग थे, खासे प्रजातान्त्रिक और कुछ तो मेरे जैसा सोचते भी थे। बेशक वे अमेरिका के सबसे भले लोग थे। सरकारी नीति के खिलाफ जा कर, बाहरी दुनिया के लिये रास्ता करना बडे साहस का काम था। और वामपंथियों में से कई गये भी।

लेकिन आपको घूमने की अनुमति नहीं मिली।

मै आमंत्रित था लेकिन मैं जा नही सका। मैं सचमुच जाना भी नही चाहता था। उन दिनों एक मूर्खतापूर्ण दुर्घटना मेरे साथ हो गई; यहां त्रास्तबेरे में, बस्टर कीटन की तरह, मैं केले के छिलके पर फिसल पड़ा, यू मेरी हालत खराब थी। तो समझी आप, मैं अमेरिका, स्पेनिश गृहयुद्ध के पहले, सन् १९३५ से ही नही जा सका। अब मैं कोशिश भी नही करना चाहता। फिर, अब लम्बी यात्राओं मे मुझे आनंद भी नही मिलता। मेक्सिको की सोचकर घर से निकले और पता चला कि अदन में पड़े हैं। न, हवाई यात्राएं अब उतनी सुखदाई नही रहीं।

आपने रदरवेल का नाम लिया। उनके कुछ ग्राफिक आपकी कविताओं से प्रेरित होकर बनाये गये। क्या मुझे उनसे अपने सम्बन्धों के बारे में कुछ बतायेंगे ?

वास्तव मे, हम कभी मिले नही। हमने अपनी योजनाओं के बारे में टेलीफोन पर बातें की है और मैं सोचता हूं कि हमने एक मैत्रीपूर्ण और सर्जनात्मक सम्बन्ध विकसित कर लिया है।

आप खुद चित्रकार हैं। इसका आपकी कविता पर कैसा प्रभाव पड़ता है ?

बहुत ज्यादा। और यह युवा वय की शुरुआत से ही है। आप दीवार पर टंगा वह चित्र देख रहे हैं ? उन दिनो *बनाया गया था जब मैं अठारह या उन्नीस* वर्ष का था। उसका शीर्षक है 'एक कविता पंक्ति का लयात्मक जमाव'। उन दिनों मैं केवल चित्रकार था। मैने बड़ी उम्र तक लिखना शुरू नही किया, शुरू किया १९२४ में, जब मैं बाईस बरस का हो चुका था। लेकिन मेरे मित्रों में कवि हमेशा रहे है। वास्तव मे, जिस चित्र की ओर मैंने आपका ध्यान आकर्षित किया उसकी प्रेरणा मुझे उस कविता पंक्ति से मिली थी जो चित्र के नीचे लिखी है : तुम्हारे घोड़े के चिकने मस्तक के लिए शब्द, वर्ण, छंद सभी को एक रेखाकार अभिव्यक्ति की आवश्यकता थी, कविता के इलेक्ट्रोकार्डियोग्राफ की कह लें, अगर आपको यह ज्यादा रुचे। बाद में, जब मे मैं कविता की ओर मुड़ा, एक परस्पर पूरक प्रक्रिया जारी है। मैं काफी हद तक दृश्य कवि हूं—वह जिसकी भावनाएं आखों के माध्यम से जागृत होती हैं। मैं अलस्शुरुआत से रैखिक व्यक्ति रहा हूं। लेकिन बाद मे मैंने चित्रकारी बंद कर दी। मैंने चित्रों मे शब्दों की कमी अनुभव की और इसलिये मैं शब्दो की ओर मुडा। एक लम्बी अवधि

और चलचित्रात्मक रणाओं से साक्षात्कार होता था।

यह अतीतापेक्षी होना तो नहीं है। आप यह उत्साह उस समय अनुभव करते थे ?

हां, मैं इन अभिनेताओं को देखने के लिए अक्सर सिनेमा जाता था। मूक फिल्में ओठों की गतियों और नकल के दूसरे तरीको पर जितना कम निर्भर करती थी, उतनी अधिक अभिव्यक्तिपरक वे होती थी, और अपने श्रेष्ठतम रूपों मे तो उन्हें किसी शीर्षक या किसी और चीज़ की भी ज़रूरत नही महसूस होती थी, तभी अचानक आवाज़ आई। बोलती फिल्मों ने कई चीजें नष्ट कर दी। बेशक उनने नई संभावनाएँ भी उजागर कीं—इतनी कि चेपलिन ने तब तक आवाज़ का उपयोग नही किया जब तक उसने 'मोन्शोयोर वरेदावस' नही बनाई।

लेकिन सिनेमा का आपके कार्य पर स्पष्ट प्रभाव क्या पड़ा ?

इसका उत्तर देना कठिन है। ग्राफिक कला पर सिनेमा का प्रभाव हाल ही का विकास है। आज लोगों का जन्म ही दृश्य आन्दोलन की दुनिया मे होता है, ऐसी दुनिया में जहा फिल्में सदा से रही हैं। हमारे लिए फिल्में नया अनुभव थी और इसीलिए कम पहुंच वाली। आज ऐसे कई कलाकार हैं जिन पर फिल्मों का काफी प्रभाव है। स्पेन मे एक जोरदार चित्रकार हैं गेनोवेज़, अंतर्राष्ट्रीय जगत मे जाने-आने वाले। उनकी कला-कृतियां श्वेत-श्याम होती हैं। अपारदर्शी रचनाएं और गेनोवेज़ सचमुच उनमे चलचित्रात्मक चरित्र उपलब्ध कर लेते हैं। वे खासे राजनैतिक चित्रकार है; वे हमारे युग की घटनाओं का चित्रण करते हैं। उनकी कला-कृतिया इस बात का प्रमाण हैं कि प्रतिबद्ध कला महान स्तर की और असाधारण सूझ-बूझ भरी हो सकती हैं।

समकालीन कला के कुछ हिस्से—उदाहरण के लिए पॉप आर्ट एवं काईनटिक आर्ट को ले लें—कलाकार के सर्जनात्मक व्यक्तित्व से कन्नी काटने की कोशिश करते हैं। मानव विरोधी के रूप में इस प्रवृत्ति की कई लोगों द्वारा निंदा की जा चुकी है। क्या आप इस निर्णय से सहमत हैं ?

मै किसी चीज का विरोधी नही हू। मै अपनी पीढ़ी द्वारा किये गए किसी भी कार्य का विरोधी नहीं रहा क्योंकि उसके सभी प्रयत्न बहुत उपयोगी रहे है। यहां तक कि जो कोशिशें मुझे उन दिनों नितान्त अविवेकपूर्ण लगती थी, एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के हिस्से के रूप मे उनका भी अपना अर्थ है। मेरे विचार से आजकल हमारे समय के असाधारण प्रयत्न किये जा रहे हैं, दूसरे विश्वयुद्ध

के बाद के काल के बारे में यह खासकर सही है। लियोनार्दो दाविंची इस काल को पाकर बहुत प्रसन्न होते। फंतासी सर्जकों के अगुओं मे से वे एक होते। वे महान आविष्कार करते क्योंकि उसी जमाने मे वे 'मैकेनिक लायन' की रचना कर चुके थे। तो, मैं इस तरह के सृजन के खिलाफ नहीं हूं। बेशक ऐसी प्रवृत्तियां हैं जो मानवीय सर्जनात्मकता को समाप्त कर देना चाहती हैं; लेकिन दूसरी ओर ऐसी भी प्रवृत्तियां हैं जो इनसे लोहा ले रही हैं या जो कमजकम इस प्रवृत्ति से इतर आकांक्षाएं रखती हैं। अब नवयथार्थवाद आया है, जड़तापूर्ण नैतिकतावादी यथार्थवाद नही। आज ऐसे लोग है जिनकी तरफ-दारी साफ है, वे जिन्हें सम्बद्ध और भागीदार कहा जाता है। इन शब्दो से मेरी अरुचि है लेकिन हमारे समय में ये महत्वपूर्ण अर्थ रखते है। हमारा समय नाटकीय है, यातनादेह गतिवान और साधारण लोग भी उससे अपना मुह नही मोड़ सकते—फिर सर्वाधिक संवेदनशील व्यक्तियों, कवियों, चित्रकारों, लेखकों का तो कहना ही क्या ? लेकिन इस यातना भरे जीवन के तीव्र संघर्ष भरे इस समय का, जिसमें हम रह रहे हैं, प्रतिनिधित्व करने के लिए सर्जनात्मक को तिलाजलि देने की जरूरत नही। मैं साफ-साफ भागीदारी की तरफ हूं। आप सुबह एक उदात्त शांत मनःस्थिति मे जागते है और अपना दिन, किसी वृक्ष या समुद्र या किसी और चीज के बारे मे जिसका आप के तईं विशेष महत्व हो गया है, लिखकर गुजारना चाहते हैं। तभी आप रेडियो शुरू करते हैं और आतंक आपकी शांति पर कब्जा कर लेता है और आप उस आतंक की अभिव्यक्ति के लिए मजबूर हो जाते है। मैने इसका वर्णन एक किताब, 'फूल और तलवार के बीच' में किया है। सचमुच यह एक ट्रेजेडी है; हम फूल और तलवार के बीच मे जीते हैं।

हमने इन सबका सुख भोगने के लिए जन्म लिया है, कत्ल किये जाने के लिए नही। लेकिन होता यह है कि तलवार हमारी गर्दन पर लटकी रहती है, और अक्सर आतंक उजाले पर छा जाता है।

मुझे आपकी टेबिल पर एक पुस्तक और कागजों का एक पुलिंदा दिख रहा है। फिलहाल आप क्या काम कर रहे हैं, बतायेंगे ?

फिलहाल मैं एवियो मे होने वाली दूसरी पिकासो प्रदर्शनी के लिए लम्बा आलेख तैयार कर रहा हूं। पहली पुस्तक भी मैंने ही तैयार की थी : शायद आपने देखी हो, उसने पर्याप्त ध्यान खींचा। पिकासो पहली प्रदर्शनी के उद्घाटन के पहले ही चल बसे। उनकी पत्नी जेक्लीन और प्रकाशक दोनों सहमत थे कि मैं दूसरी प्रदर्शनी पर भी पुस्तक तैयार करूं। बहुत से व्यावसायिक आलोचक थे जिन्होंने यह काम करना पसंद किया होता। क्योंकि यह पुस्तक पिकासो की

अंतिम कृतियों के बारे मे है इसलिए जरूरी है कि पुस्तक उसकी परम्परा के बारे में आपको संपूर्ण दृष्टि उपलब्ध कराये, यह बहुत कठिन काम है, गहरे उत्तरदायित्व का भी। यह लगभग सौ पृष्ठों की किताब होगी, मेरे लिए काफी बडा काम है क्योंकि मैं बतंगड़बाज लेखक नही हूं। यह किताब मैं कुछ समय पहले ही निबटा देता लेकिन चिली की घटनाओं तथा नेरुदा और आयेन्दे की मृत्यु के बाद, जो मेरे महान् मित्र थे, मैं कविताओं की ओर मुड़ गया। मैं गलियारों का कवि हो गया—समय-समय पर मैं ऐसा करता रहता हूं……